प्रकाशक—
जयकृष्णदास हरिदास गुप्त
चौखम्बा संस्कृत सीरिज़ आफिस
बनारस।

मुद्रक—
विद्याविलास प्रेस
बनारस

श्रीगौरकृष्णः शरणं ममास्तु ।

सम्पादकीय वक्तव्य

अयि ! आयुर्वेदीयभावप्रकाशाभिलाषि सज्जनवृन्द !

आज जगन्नियन्ता भगवान् श्रीराधाकान्त की एकान्त अनुकम्पा से भावप्रकाश-ज्वराधिकार का यह द्वितीय संस्करण उपस्थित करते हुए मुझे अत्यन्त हर्ष हो रहा है।

पाठक को यह विदित ही होगा कि संपूर्ण भावप्रकाश पर जो मेरी 'विद्योतिनी' टीका है वही टीका इस ज्वराधिकार पर भी की गयी है तथा साथ २ जहां पर क्वाथादिकों में द्रव्यों के मान का उल्लेख नहीं है वहा पर आवश्यकताऽनुसार मान तथा आधुनिक पुरुषोपयोगिनी औषधभक्षण की मात्रा का भी टिप्पनीरूप में अन्यान्य विषयों के साथ २ उल्लेख किया गया है, जिससे विद्यार्थियों के लिये यह वस्तुत विद्योतिनी होगी।

इस ग्रन्थ के अन्त मे मेरे परम आत्मीय वत्सकल्प चिरञ्जीवि श्रीजगदीश्वरप्रसाद त्रिपाठी जी आयुर्वेदाचार्य हिन्दूविश्वविद्यालय ने जो ग्रन्थोक्त ज्वरों पर तथा अन्य भी नवीन ज्वरों पर पाश्चात्य चिकित्सा-पद्धति के अनुसार निदान-चिकित्सा आदि का सुन्दर परिशिष्ट लिखा है, उससे परीक्षार्थियों के लिये यह संस्करण और भी उपयोगी हो गया है।

इसके शोधनादि-कार्य में जो त्रुटिया दृष्टिदोषवश या अज्ञान वश रह गई हों उन्हें अनुग्रहपूर्वक पाठकवृन्द सुधारने की कृपा करेंगे।

भगवत् की असीम कृपा से विद्योतिनी टीका टिप्पणी, बृहत् परिशिष्ट, प्रश्नपत्र आदि से युक्त संपूर्ण भावप्रकाश का सुसज्जित द्वितीय संस्करण भी प्रकाशित हो गया है। आशा है पाठक उससे अधिक लाभ उठावेंगे।

कि बहुना विज्ञवरेष्विति शम् ।

आयुर्वेदविशेषज्ञों के विनेयतम

भिषग्रत्न ब्रह्मशंकरमिश्र शास्त्री

प्राप्तिस्थानम्—

चौखम्बा-संस्कृत-पुस्तकालय,

बनारस सिटी।

॥ श्री ॥

ज्वराधिकारस्य विषयानुक्रमणिका ।

प्राप्तिस्थानम्—

[illegible]-हरिदास गुप्तः,

[illegible]

[illegible] प्रेस, कलकत्ता ।

॥ श्रीः ॥

भावप्रकाशः

(ज्वराधिकारः)

विद्योतिन्या भाषाटीकया समेतः ।

अथ मध्यखण्डम् ।

तत्र

प्रथमो भागः ।

तत्राष्टमं चिकित्साप्रकरणम् ॥ ८ ॥

तत्रादौ ज्वराधिकारमाह—

यतः समस्तरोगाणां ज्वरो राजेति विश्रुतः । अतो ज्वराधिकारोऽत्र प्रथमं लिख्यते मया ॥१॥

"भावमिश्र" मनसः खलु भावो–दन्वतोऽयमधिमध्यमवाप्तः ।
तत्तलोद्भवकृदिन्दिरयाऽऽत्त नौति तत् पदमतः प्रतिपित्सुः ॥ १ ॥

अब यहां से भावप्रकाश का मध्यखण्ड तथा चिकित्सा प्रकरण भी आरम्भ होता है, उसमें प्रथम "ज्वराधिकार" को कहते हैं, तथा प्रथम "ज्वराधिकार" को क्यों कहा ? इसका उत्तर देते हुए भावमिश्र कहते हैं—"क्योंकि सम्पूर्ण रोगों के मध्य में "ज्वर" को सब आयुर्वेदज्ञ महर्षियों ने "राजा" बतलाया है, अतः इस "चिकित्साप्रकरण" में प्रथम "ज्वराधिकार" का मैं उल्लेख कर रहा हूं ॥ १ ॥

तत्र ज्वरस्य प्रथमोत्पत्तिमाह सुश्रुतः—

दक्षापमानसंक्रुद्धरुद्रनिःश्वाससम्भवः । ज्वरोऽष्टधा पृथग्द्वन्द्वसंघातागन्तुजः स्मृतः ॥ २ ॥

इस "ज्वराधिकार" में सर्वप्रथम ज्वर की उत्पत्ति के विषय में जो "सुश्रुत" महर्षि ने कहा है, उसे कहते हैं—दक्ष प्रजापति के द्वारा किये गये अपमान से अत्यन्त क्रोधित हुए भगवान् रुद्र के श्वास-से ज्वर की उत्पत्ति हुई है। और वह ज्वर आठ प्रकार का होता है, जैसे—पृथग् २ वातादिक दोषों से उत्पन्न हुआ ज्वर ३ प्रकार का होता है, १ वातज, २ पित्तज, ३ श्लेष्मज । और दो दोषोंसे उत्पन्न हुआ द्वन्द्वज भी ३ प्रकार का होता है, ४ वातपित्तज, ५ वातश्लेष्मज, पित्तश्लेष्मज । एवम् दोषों के सन्निपात से अर्थात् तीनों दोषों के मेल से तथा आगन्तुक अर्थात् चोट आदिक लगजाने से उत्पन्न हुआ ज्वर एक २ प्रकार का होता है, ७ सन्निपातज (त्रिदोषज), ८ आगन्तुज ॥ २ ॥

*अस्यायमर्थः-दक्षकर्तृको योऽपमानस्तेन सक्रुद्धो यो रुद्रः, तस्य यो निःश्वासः, तस्मात्सम्भव उत्पत्तिर्यस्य स ज्वरः। क्रुद्धरुद्रनिःश्वाससम्भूतत्वेन ज्वरः स्वभावात्पैत्तिक इति बोध्यते। यत उक्तं चरकेण-क्रोधात्पित्तमित्यादि । तेन सर्वज्वरेषु पित्तोपशमकारिणी चिकित्सा कर्त्तव्या ।

विशेष रूप से उक्त श्लोक का यह अर्थ है—दक्ष के द्वारा किया गया जो अपमान उससे अत्यन्त क्रुद्ध हुए जो रुद्र भगवान्, उनका जो क्रोध के समय जोर २ से निकला हुआ श्वास, उससे सम्भव अर्थात् उत्पत्ति है जिसकी ऐसा वह ज्वर है। और क्रोधित रुद्र भगवान् का श्वास ज्वर की उत्पत्ति का कारण होने से "ज्वर" स्वभावतः "पैत्तिक होता है" ऐसा वैद्य लोग समझते हैं। क्योंकि "नारद" भगवान् ने भी कहा है कि—"क्रोध से पित्त कुपित होता है" इत्यादि, इससे सभी प्रकार के ज्वरों में पित्त के शमन करने वाली चिकित्सा करनी चाहिये।

अत एवाह वाग्भटः—

ऊष्मा पित्तादृते नास्ति ज्वरो नास्त्यूष्मणा विना। तस्मात्पित्तविरुद्धानि त्यजेत्पित्ताधिकेऽधिकम्॥

अत एव "वाग्भट" ने भी कहा है कि—"पित्त के बिना ऊष्मा (गर्मी) नहीं होती है, और ऊष्मा के बिना ज्वर नहीं होता है, अतः सभी ज्वरों में पित्त को कुपित करने वाली क्रियाओं का परित्याग करना चाहिये, विशेष करके पित्तप्रधान ज्वर में तो अधिक रूपसे उक्त क्रिया का त्याग करना चाहिये ॥ १ ॥

रुद्रसम्भूतत्वेन ज्वरस्य देवताऽऽत्मकत्वात्पूजाऽर्हत्वं चोपदर्शितम्।

अत एव वैदेहः—

ज्वरः सम्पूजनैर्वाऽपि सहसैवोपशाम्यति। इति ॥ २ ॥

और "ज्वर देवस्वरूप है अतः उसकी पूजा भी करनी उचित है" यह बात "रुद्र से उत्पन्न हुआ है" इस वाक्य के कहने से दिखलाया है। अत एव "वैदेह" ने भी कहा है कि—"अथवा भलीभांति पूजन करने से भी ज्वर सहसा शान्त हो जाता है"। इत्यादि ॥ २ ॥

मूर्तिरप्यस्योक्ता सुश्रुतेन—

तन्मूर्तिमाह—

रुद्रकोपाग्निसम्भूतः सर्वभूतप्रतापनः। त्रिपाद्भस्मप्रहरणस्त्रिशिराः सुमहोदरः॥
वैद्यावमर्दनसनः फणिलो मारुतविग्रहः। पिङ्गेक्षणो ह्रस्वजङ्घो बीभत्सो बलवान्महान्॥ ३ ॥
पुरुषो लोकनाशार्थमसौ ज्वर इति स्मृतः। ज्वरैर्नामभिरन्येषां सत्त्वानां परिकीर्त्यते॥ ४ ॥
जन्मादौ निधने चैव प्रायो विशति देहिनाम्। अतो देवमनुष्याभ्यां नान्यो विषहते हि तम्॥ ५ ॥

और इसकी मूर्ति [illegible] हुआ है—रुद्र भगवान् के कोपाग्नि से उत्पन्न हुआ, [illegible] सब प्राणियों को [illegible] देने वाला, [illegible] [illegible] बड़े पेट वाला, [illegible] हुआ, [illegible] [illegible] [illegible] लिये है। और [illegible] [illegible] [illegible] प्राणियों के [illegible] है। और [illegible] [illegible] नहीं सहन कर सकता है ॥ ३–५ ॥

[illegible] संख्यामाह [illegible] अष्टधा [illegible] ति। शारीर, [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]। [illegible] आगन्तुज इत्यादी।

[illegible] विसर्गः [illegible] [illegible] [illegible]

[illegible]

३ कफोल्वणः । ४ वातपित्तोल्वणः । ५ वातश्लेष्मोल्वणः । ६ पित्तश्लेष्मोल्वणः । एवं षट् । १ अधिकवातो मध्यपित्तो हीनकफः । २ अधिकवातो मध्यकफो हीनपित्तः । ३ अधिकपित्तो मध्यवातो हीनकफः । ४ अधिकपित्तो मध्यकफो हीनवातः । ५ अधिककफो मध्यवातो हीनपित्तः । ६ अधिककफो मध्यपित्तो हीनवातश्चेति षट् । उल्वण एकः १ एवं त्रयोदश ।

जो १३ प्रकार के सन्निपात कहे हैं वे इस तरह से होते हैं जैसे कि—१ वातोल्वण, २ पित्तोल्वण, ३ कफोल्वण, ४ वातपित्तोल्वण, ५ वातकफोल्वण, ६ पित्तकफोल्वण होने से ६ प्रकार। १ अधिकवात मध्य-पित्त-हीनकफ, २ अधिकवात-मध्यकफ हीनपित्त, ३ अधिकपित्त मध्यवात-हीनकफ, ४ अधिकपित्त-मध्यकफ-हीनवात, ५ अधिककफ-मध्यवात-हीनपित्त, ६ अधिककफ मध्यपित्त-हीनवात होने से ६ प्रकार । समान भाव से तीनों दोषों का उल्वण होने से समवातपित्तकफोल्वण १ प्रकार । इस तरह से कुल १३ होते हैं।

अत्र तु त्रिदोषजत्वेन साम्यात्सान्निपातिक एक एव गणितः। आगन्तुज इति। अत्रागन्तुशब्देनाभिघातादयो हेतव उच्यन्ते, कुत्र चिद्व्याधयः कार्यकारणयोरभेदोपचारात्। आगन्तुजा अभिघाताद्यनेककारणयोगादनेके भवन्ति तथाऽप्यागन्तुजत्वेन साम्यादागन्तुकोऽप्यत्रैक एव गणितः ।

किन्तु यहां पर जो सन्निपातज एक ही प्रकार का कहा गया है वह इस लिये कहा गया है कि—उक्त १३ भेदों में सर्वत्र दोषोंका सन्निपात होनेसे ही सभी सन्निपात बराबर मान लिया गया है तथा उसके अवान्तर भेद को भेद नहीं माना। अब "आगन्तुज" इस पद की व्याख्या करते हैं—यहां पर "आगन्तु" पदसे चोट आदिक हेतुओंका ग्रहण किया गया है, कहीं २ पर कार्य और कारणका अभेद उपचार होनेसे "आगन्तु" पदसे आगन्तुज व्याधिया भी लेने हैं, अर्थात् "आगन्तु" शब्दसे "अभिघात (चोट), पराभव, अभिचारकर्म और अभिशाप" इन हेतुओंका ग्रहण होता है अथवा कहीं २ पर आगन्तुक हेतुओंसे उत्पन्न व्याधियों का ग्रहण होता है। आगन्तुज—ज्वर यद्यपि अभिघातादिक अनेक कारणों के योग से अनेक प्रकार के होते हैं, तथापि वे सब आगन्तुक कारणों से उत्पन्न होने से बराबर ही हैं अतः यहां पर आगन्तुक ज्वर एक ही प्रकार का बतलाया गया है।

ननु आगन्तुजेऽपि ज्वरे वातादिलक्षणदर्शनादागन्तुजः कथं दोषजाद्भिन्नः ?। उच्यते—उत्तरकालं दोषोत्पत्तेः । तथा च चरके—

"आगन्तुर्हि व्यथापूर्वं जायते पश्चाद्भिन्नैर्दोषैरनुबध्यते" इति ॥ २ ॥

अब यहा पर यह शङ्का होती है कि-आगन्तुज ज्वर में भी वातादिकों के लक्षण दिखाई पडते हैं अतः "आगन्तुज" दोषज ज्वरों मे भिन्न कैसे है ? इस पर उत्तर देते हुये-कहते हैं कि-ज्वर होने के बाद दोषों की उत्पत्ति होने से अर्थात् वातादिज्वरों में पूर्वरूपावस्था से ही वातादिकों का सम्बन्ध रहता है और आगन्तुज ज्वर में बाद को दोषों का सम्बन्ध होता है अतः पृथक् आगन्तुज ज्वर मानना उचित ही है और "चरक" में भी कहा हुआ है कि—"आगन्तुज ज्वर प्रथम अभिघातादि कारणों से उत्पन्न होता है तदनन्तर भिन्न २ दोषों से सम्बद्ध होता है" ॥ २ ॥

अथ ज्वरस्य विप्रकृष्टकारणकथनपूर्विकां सम्प्राप्तिमाह—

मिथ्याऽऽहारविहाराभ्यां दोषा ह्यामाशयाश्रयाः । बहिर्निरस्य कोष्ठाग्निं ज्वरदाः स्यू रसानुगाः ।

अब दूर तथा निकट वर्ती कारणों को कहते हुये ज्वर की सम्प्राप्ति कहते हैं—मिथ्या (देश, काल तथा प्रकृति के विरुद्ध) आहार तथा विहार करने से वातादिक दोष कुपित होकर आमाशय में जाकर कोष्ठगत अग्नि को बाहर निकाल कर आम रस को दूषित करके ज्वर करने वाले होते हैं। यहा पर यह भी समझना चाहिये कि—कोष्ठाग्नि के बाहर करने से ही ज्वर मे शरीर गरम मालूम पडता है ॥३॥

मिथ्याऽऽहारविहाराभ्याम् = अनुचिताहारचेष्टाभ्यां हेतुभूताभ्याम्, दोषाः = वातपित्तकफाः, आमाशयाश्रयाः = आमाशयं गताः, रसानुगाः = रसदूषकाः, बहिर्निरस्य, कोष्ठाग्निं = कोष्ठगताग्नेरूष्माणं, न तु समस्तमग्निं, तदा दोषपाकासम्भवः स्याद्, बहिः प्रक्षिप्य, ज्वरदाः स्युः = ज्वरकारिणो भवेयुरित्यर्थः ॥ ३ ॥

यहां पर "मिथ्याहारविहार" पद से "दोषों के कुपित होनेमें कारणस्वरूप अनुचित आहार तथा विहार (चेष्टा)" का ग्रहण करना चाहिये। "दोष" पद से वात, पित्त तथा कफ समझना चाहिये।

[illegible] "आमाशय में कुपित होकर, पहुंचे हुये" । "रसानुगाः" का "रस को दूषित करने [illegible] होते हुये" और "बहिर्निरस्य कोष्ठाग्निम्" इस में "कोष्ठाग्नि" पद से "कोष्ठगत अग्नि को [illegible]" [illegible] करना चाहिये न कि कोष्ठ-स्थित समस्त अग्नि का । क्योंकि यदि समस्त अग्नि को बाहर कर देगा तो दोषों का जो परिपाक होता है उसका होना असम्भव हो जायगा । "बहिः प्रक्षिप्य [illegible]" इन पदों का "बाहर निकाल कर ज्वरकारक होते हैं" यह अर्थ समझना चाहिये ॥३॥

अथ ज्वरस्य सामान्यविशेषपूर्वरूपमाह—

श्रमोऽरतिर्विवर्णत्वं वैरस्यं नयनप्लवः । इच्छाद्वेषौ मुहुश्चापि शीतवातातपादिषु ॥ ४ ॥
जृम्भाऽङ्गमर्दो गुरुता रोमहर्षोऽरुचिस्तमः । अप्रहर्षश्च शीतं च भवत्युत्पत्स्यति ज्वरे ॥५॥
सामान्यतो विशेषात्तु जृम्भाऽत्यर्थं समीरणात् । पित्तान्नयनयोर्दाहः कफान्नान्नाभिनन्दनम् ॥६॥

[illegible] के सामान्य तथा विशेष पूर्वरूप कहते हैं । सामान्यपूर्वरूप—श्रम, अरति, विवर्णता, विरसता, नयनप्लव, शीत-वायु-घाम आदिकों के विषय में बारम्बार इच्छा तथा द्वेष होना, जंभाई, अङ्गमर्द, गुरुता, रोमहर्ष, अरुचि, तम, अप्रहर्ष और शीत ये सब सामान्य रूप से [illegible] जब ज्वर उत्पन्न होने वाला होता है तब प्रगट होते हैं ।

विशेष पूर्वरूप—और विशेष रूप से वात से उत्पन्न हुये ज्वर में जंभाई, पित्त से आँखों में जलन होती है, कफ से अन्न खाने की इच्छा नहीं होती है ॥ ४-६ ॥

श्रमो व्यापारं विनैव । अरतिः=अस्वस्थचित्तत्वम् । विवर्णत्वं=म्लानगात्रता । वैरस्यं=मुखस्यासम्यग्रसता । नयनप्लवः=नयनयोरश्रुपूर्णत्वम् । शीतवातातपादिषु मुहुरिच्छाद्वेषौ । आदिशब्दादग्नौ जले च । यत उक्तं चरकेण—

"ज्वलनातपवातेषु भक्तिद्वेषावनिश्चितौ" इति ॥ ७ ॥

यहां पर "श्रम" अर्थात् "बिना कुछ कार्य किये थकावट मालूम पड़ना" । अरति=चित्त का स्वस्थ न रहना । विवर्णता=शरीर का म्लान रहना । वैरस्य=मुख का जैसा चाहिये वैसा स्वाद न रहना (फीका रहना) । नयनप्लव=नेत्रों में आंसू भरा रहना । "शीत, वायु और धूप आदि का कभी अच्छा लगना और कभी पुनः न अच्छा लगना" यहां पर "आदि" पद से "अग्नि तथा जल के विषय में भी बारम्बार इच्छा तथा द्वेष होना" समझना चाहिये, क्योंकि—चरक महर्षि ने भी कहा है कि—"अग्नि, घाम, तथा वायु इनके विषय में ज्वर युक्त रोगी की प्रीति तथा द्वेष अनिश्चित रहता है अर्थात् कभी अच्छा कभी बुरा मालूम पड़ता है ॥ ७ ॥"

[illegible] । अङ्गमर्दः=अङ्गस्फोटनम् । गुरुता गात्रस्य । रोमहर्षः=रोमाञ्चता । अरुचिर्नामेऽपि, तमः=तमोऽन्ध्येव ज्ञानम् । अप्रहर्षः=हर्षाभावः । शीतं [illegible] । [illegible] भवतीति । [illegible] पादयोरपि भवन्ति । [illegible] "सामान्यतः" इति पदं पूर्वश्लोकस्थेन सम्बध्यते । तेन सामान्यतो ज्वरे उत्पत्स्यति=भविष्यति, [illegible] पूर्वरूपं भवतीत्यर्थः । [illegible] ।

[illegible]

[illegible]

विशिष्टो धर्मो भवति ॥ ४—६ ॥

विशेष रूप से ज्वर के पूर्वरूप कहते हैं—अर्थात्—वायुके दोषसे जब ज्वर उत्पन्न होने वाला होता है तब पहले अत्यन्त जंभाई आती है एवम् पित्तज्वर आनेमें प्रथम आँखोंमें अत्यन्त जलन, कफज्वर आनेमें अन्न की तरफ बिलकुल इच्छा नहीं होती है। यहा पर यह और भी समझना चाहिये कि—वातादिक ज्वरों में जो जंभाई आदिक विशेष पूर्वरूप कहे हुये हैं उसके साथ २ श्रमादिक सामान्य पूर्वरूप के भी लक्षण अवश्य प्रगट रहते हैं क्यों कि यह नियम है कि—"सामान्य धर्मसे युक्त विशेष धर्म रहता है" जैसे कि-ब्राह्मणत्व सामान्य धर्म है कान्यकुब्जत्व विशेष धर्म है तो यदि कोई ब्राह्मण केवल कान्यकुब्ज कहा जायगा तो वह अवश्य सामान्य धर्म ब्राह्मणत्व से युक्त ही समझा जायगा ॥ ४-६ ॥

अथ द्वन्द्वजपूर्वरूपमाह—

रूपैरन्यतराभ्यां तु संसृष्टैर्द्वन्द्वजं विदुः ॥ ७ ॥

अब द्वन्द्वज ज्वर के पूर्वरूप कहते हैं-किसी दो दोषों के विशेष पूर्वरूपों के साथ मिले हुये सामान्य पूर्वरूप के लक्षणों के दीख पड़ने से उसे द्वन्द्वज पूर्वरूप समझना चाहिये ॥ ७ ॥

अन्यतराभ्यां=जृम्भानेत्रदाहाभ्यां, जृम्भाऽन्नारुचिभ्यां, नेत्रदाहान्नारुचिभ्यां वा संसृष्टैः, रूपैः=श्रमादिभिः, द्वन्द्वजं=द्विदोषज पूर्वरूपम्, विदुः=जानीयुः ॥ ७ ॥

यहाँ पर "अन्यतराभ्यां संसृष्टैः" से किसी दो दोषों के विशेष पूर्वरूप अर्थात् जंभाई—आँखों में जलन या जंभाई-अन्नमें अरुचि अथवा आँखोंमें जलन—अन्नमें अरुचि इनके साथ मिले हुये। "रूप" पद से "श्रमादिक सामान्य पूर्वरूप" तथा "द्वन्द्वज" पद से "द्विदोषज पूर्वरूप" एवम् "विदु" पद से "समझना चाहिये" ये सब अर्थ जाने ॥ ७ ॥

अथ सान्निपातिकपूर्वरूपमाह—

सर्वलिङ्गसमावायः सर्वदोषप्रकोपजे ॥ ८ ॥

अब सन्निपात ज्वर के पूर्वरूप कहते हैं—सम्पूर्ण दोषों के प्रकोप से उत्पन्न होने में सभों के लक्षण का मेल होता है ॥ ८ ॥

सर्वदोषप्रकोपजे (पूर्वरूपे) सर्वलिङ्गसमावायः=अतिशयितजृम्भानेत्रदाहान्नारुचिसहितानां श्रमादीनां समवायो भवति ॥ ८ ॥

यहाँ पर "सर्वदोषप्रकोपजे" इत्यादिक पदों से "सम्पूर्ण दोषों के प्रकोप से उत्पन्न होनेवाले ज्वर के पूर्वरूप में सभी दोषों के पूर्वरूपों के लक्षणों का अर्थात् अत्यन्त जंभाई, आँखों में जलन एवम् अन्न में अरुचि इन विशेष पूर्वरूपों के सहित श्रमादिक सामान्य पूर्वरूपों का मेल होता है" यह समझें ॥८॥

अथ ज्वरस्य सामान्यलक्षणमाह—

स्वेदावरोधः सन्तापः सर्वाङ्गग्रहणं तथा। युगपद्यत्र रोगे तु स ज्वरो व्यपदिश्यते ॥ ९ ॥

अब ज्वर के सामान्य लक्षण कहते हैं—जिस रोग में—पसीने का न निकलना, शरीर का अत्यन्त गरम हो जाना तथा सर्वाङ्ग ग्रहण ये सब लक्षण एक साथ प्रगट होते हैं उसे "ज्वर" नाम से वैद्य लोग कहते हैं ॥ ९ ॥

स्वेदावरोधः=प्रस्वेदानिर्गमः। न तु पित्तज्वरे स्वेदनिर्गमादेतल्लक्षणं व्यभिचरति, तत्रोत्सर्गापवादभावादिति जेज्जटकार्त्तिककुण्डादयः। अन्ये तु—स्विद्यते उरिस्वद्यतेऽनेनेति स्वेद=अग्निः, तस्यावरोधः=दोषैराच्छन्नता, सन्तापः=ताप इति वक्तव्ये सन्तापाभिधानं देहेन्द्रियमनसां सन्तापबोधनार्थम्। यत उक्तं चरकेण—ज्वरविशेषणं "देहेन्द्रियमनस्तापी" ति। तत्र देहसन्तापो=देहोष्णता। इन्द्रियसन्तापः=इन्द्रियतापरूपवैकृत्यम्।

यत उक्तम्—

इन्द्रियाणां तु वैकृत्यं यत्तत् सन्तापलक्षणम्। वचित्यमरतिर्ग्लानिर्मनःसन्तापलक्षणम्॥८॥इति॥

यहाँ पर "स्वेदावरोध" पद से "पसीने का न निकलना" यह अर्थ समझना चाहिये, किन्तु यहाँ पर यह शङ्का नहीं करना चाहिये कि—"स्वेदावरोध" ज्वरका विशेष लक्षण है अत पित्तज्वर में स्वेदावरोध न होने से वह ज्वर न कहा जाय, क्यों कि इसी शङ्का के निवारण के लिये "जेज्जट, कार्त्तिक तथा कुण्डादिक" पण्डित लोग "सामान्य शास्त्र का बाधक विशेष शास्त्र होता है" इस नियम से सामान्य रूप से "पसीना न निकलना" जो ज्वर का लक्षण है वह विशेष रूप से "पसीना निकलना"

जो विशेष [illegible] लक्षण है उससे बाधित हो जाता है [illegible] इससे यह होता है कि पित्तज्वर को छोड़ [illegible] सभी ज्वरों में पसीना नहीं निकलता है। इससे सामान्य लक्षण के व्यभिचार दोष का वारण हो जाता है। [illegible] लोग जो—जिसमें पसीना हो उसे "स्वेद" कहते हैं ऐसा अर्थ करके "स्वेद" पद से "[illegible]" का ग्रहण करते हैं, और इसका अवरोध अर्थात् वातादिक दोषों से आवृत हो जाना, यह "स्वेदावरोध" का अर्थ करते हैं, तथा—"सन्ताप" इस पद के स्थान में केवल "ताप" इस पद के प्रयोग [illegible] भी [illegible] पुनः जो "सन्ताप" पद कहा वह "देह–इन्द्रिय तथा मन का सन्ताप होना" यह अर्थ समझाने के लिये, क्योंकि "चरक" महर्षि ने कहा भी है कि "ज्वर का विशेषण—"देह–इन्द्रिय तथा मन को सन्तप्त करने वाला यह है" यहाँ पर देह का सन्ताप होना अर्थात् देह [illegible] हो जाना, तथा इन्द्रिय का सन्ताप होना अर्थात् इन्द्रियों का विकृतिभाव को प्राप्त हो जाना है क्योंकि [illegible] कहा भी है कि—"इन्द्रियों का जो विकृति भाव को प्राप्त हो जाना है वही इन्द्रिय सन्ताप का लक्षण मानना चाहिये तथा वैचित्त्य, अरति तथा ग्लानि होना ही मनःसन्ताप समझना चाहिये" ॥ ८ ॥

सर्वाङ्गग्रहणम् = सर्वेषामङ्गानां वेदनया ग्रहणं, सर्वाण्यङ्गानि स्तम्भेन गृहीतानीव या भवन्ति। युगपदिति, [illegible] प्रत्येकस्य व्यभिचारात्। यथा स्वेदावरोधः क्षुद्रपूर्वरूपे। तथा सन्तापो दाहव्याधौ। तथा सर्वाङ्गग्रहणं सर्वाङ्गरोगाख्यवातव्याधौ ॥९॥

मूल के ९ वें श्लोक में जो "सर्वाङ्गग्रहणम्" यह पद है उसका अर्थ "सम्पूर्ण अङ्गों का वेदना से ग्रहण अर्थात् सम्पूर्ण अङ्गों का [illegible] रोग द्वारा [illegible] हो जाना (जकड़ जाना)" यह समझना चाहिये। "युगपत्" इस पद से "उक्त तीनों लक्षण एक साथ जब हों तब ज्वर समझना" ऐसा अर्थ करना चाहिये। क्योंकि यदि [illegible] लक्षण मानेंगे तो प्रत्येक लक्षण का अन्य रोगोंमें भी मिलनेसे व्यभिचार हो जाता है। जैसे कि—स्वेदावरोध [illegible] ज्वर का लक्षण मानने से "क्षुद्र के पूर्वरूप में भी "स्वेदावरोध" होता है अतः लक्षण का व्यभिचार हो गया, इसी भांति से "सन्ताप" दाहरोग के पूर्वरूप में भी होता है, तथा "सर्वाङ्गग्रहण" सर्वाङ्ग रोग नामक वातव्याधि के पूर्वरूप में होता है ॥ ९ ॥

अथ [illegible] आह—

[illegible] प्राप्य रसो धातून् यस्मात्तस्माज्ज्वरातुरः। भवत्यत्युष्णगात्रश्च स्विद्यते न च सर्वशः ॥१०॥

[illegible] ज्वर [illegible] धातु [illegible] हो जाता है तथा [illegible] ॥ १० ॥

[illegible] धातून् = रसधातून् [illegible], तस्माद्धेतोर्ज्वरातुरोऽत्युष्णगात्रो भवति सर्वशः स्विद्यते न च ॥ १० ॥

[illegible] मूल में [illegible] है। १० ॥

[illegible]—

[illegible] ॥११॥

[illegible] होते हैं ॥ ११ ॥

[illegible]—

[illegible] ॥ १२ ॥

[illegible] ॥

[illegible] ॥ १३ ॥

[illegible]—

पङ्खे की वायु—प्यास, पसीना, मूर्च्छा तथा श्रम को दूर करने वाली होती है।
ताडपत्र के पङ्खे की वायु—त्रिदोष को दूर करने वाली मानी गई है।
बांस के पङ्खे की वायु—उष्णता युक्त (गरम) तथा रक्तपित्त को कुपित करने वाली होती है।
और चमर तथा वस्त्र की वायु एवम् मयूर-पिच्छ तथा बेंत के बने हुये पङ्खे की वायु—दोषों को दूर करने वाली, स्निग्ध, हृद्य (हृदय को प्रिय) तथा प्रशस्त होती है ॥ १०-१३ ॥

अथान्यान्यान्यपि सामान्यज्वरपथ्यान्याह—

नवज्वरी भवेद् यत्नाद् गुरूष्णवसनावृतः। ययर्तुपक्वपानीयं पिबेत्किञ्चिन्निवारयन् ॥ १४ ॥
विनाऽपि भेषजैर्व्याधिः पथ्यादेव निवर्तते। न तु पथ्यविहीनस्य भेषजानां शतैरपि ॥ १५ ॥

अब नवीन ज्वर रोगी के लिये अन्य भी पथ्य विषयों को कहते हैं—नवज्वरी को चाहिये कि वह यत्नपूर्वक गर्म तथा भारी वस्त्रों को ओढ़कर रहे और प्यास लगने पर ठहर २ कर ऋतु के अनुकूल पकाने हुये जल को थोड़ा २ पीवे। इस प्रकार से बिना औषधि किये भी केवल पथ्य वस्तुओं के सेवन से ही रोग दूर हो जाते हैं और यदि पथ्य वस्तुओं का सेवन न करे तो सैकड़ों औषधियों के करने से भी रोग दूर नहीं होते हैं अतः पथ्य सेवन सर्वप्रधान है ॥ १४-१५ ॥

अथ तरुणज्वरे त्याज्यानाह सुश्रुतः—

परिषेकान्प्रदेहांश्च स्नेहान्संशोधनानि च। दिवास्वप्नं व्यवायञ्च व्यायामं शिशिरं जलम्॥१६॥
क्रोधप्रवातभोज्यांश्च वर्जयेत्तरुणज्वरी ॥ १७ ॥

अब तरुणज्वर में त्याज्य विषयों को कहते हैं—परिषेक, प्रदेह, स्नेहपान, संशोधन (वमन, विरेचनादिक कर्म), दिन में सोना, मैथुन, व्यायाम (शारीरिक श्रम), शीतल जल, क्रोध, प्रवात-सेवन, और भोजन इन सबों का तरुण ज्वर वाला रोगी सेवन करना छोड़ देवे ॥ १६-१७

*परिषेकः=स्नानादिः। प्रदेहः=अनुलेपनाभ्यङ्गादिः। स्नेहान् पाने निषिद्धान् ॥ १७ ॥
यहां पर "परिषेक" पद से "स्नानादिक करना" तथा "प्रदेह" पद से "उबटन लगाना, तैल मालिश करना" आदिक अर्थ समझना चाहिये ॥ १६-१७ ॥

अथ त्याज्यसेवनादवगुणानाह—

शोषं छर्दिं मदं मूर्च्छां भ्रमं तृष्णामरोचकम्। प्राप्नोत्युपद्रवानेतान्परिषेकादिसेवनात् ॥१८॥

अब त्याज्य वस्तुओं के सेवन करने के अवगुणों को कहते हैं—पूर्वोक्त परिषेकादिक त्याज्य विषयों के सेवन करने से तरुण ज्वर वाला रोगी—शोष, वमन, मद, मूर्च्छा, भ्रम, तृष्णा और अरुचि इन सब उपद्रवों को प्राप्त करता है ॥ १८ ॥

*आदिशब्देन प्रदेहादयो गृह्यन्ते ॥ १८ ॥
यहा पर—परिषेकादि में "आदि" पद से "प्रदेहादिक" का ग्रहण करना चाहिये ॥ १८ ॥

अथ तरुणज्वरे त्याज्यव्यायामादीनां सेवने पृथक् पृथग् दोषानाह हारीतः—

व्यायामाज्ज्वरसंवृद्धिर्व्यवायात्स्तम्भमूर्च्छनम्। मृतिश्च स्नेहपानाद्यैर्मूर्च्छा च्छर्दिर्मदोऽरुचिः॥
गुर्वन्नभोजनात्स्वप्नाद्विष्टम्भो दोषकोपनम्। अग्निसादः खरत्वञ्च स्रोतसां च प्रवर्त्तनम् ॥२०॥

अब तरुणज्वर में त्याज्य व्यायामादिकों के सेवन करने में पृथक् २ दोषों को कहते हैं—व्यायाम करने से ज्वर की वृद्धि तथा मैथुन से स्तब्धता, मूर्च्छा, और मृत्यु भी हो जाती है और स्नेहपानादिक से मूर्च्छा, वमन, मद तथा अरुचि होती है, एवम् गुरु अन्न भोजन करने से तथा दिन में सोने से विष्टब्धता, दोषों का कुपित होना, अग्निमान्द्य, खरत्व (तीक्ष्णता), मुख-नासादिक स्रोतोमार्गों से जलादिक का स्राव होना ये सब होते हैं ॥ १९-२० ॥

*मृतिरिति व्यवायादित्यत्र सम्बध्यते। स्वप्नाद्=दिवास्वापात् ॥ १९-२० ॥
यहाँ पर "मृति" इसका सम्बन्ध पूर्व में पठित "व्यवायात्" इस पद के साथ है, तथा "स्वप्न" पद से "दिन में सोना" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ १९-२० ॥

अन्यच्च वर्जयेत्—

सज्वरो ज्वरमुक्तो वा विदाहीनि गुरूणि च। असात्म्यान्यन्नपानानि विरुद्धाध्यशनानि च ॥२१॥
व्यायाममतिचेष्टां वाऽभ्यङ्गं स्नानञ्च वर्जयेत्। तेन ज्वरः शमं याति शान्तश्च न पुनर्भवेत् ॥२२॥

इसके अतिरिक्त अन्य निम्नलिखित विषयों को भी छोड़ना चाहिये, जैसा कि कहा हुआ है कि—

[illegible] से युक्त वा ज्वर से रहित रोगी–दिवाशी, गुरु (देर में पचनेवाला), अहितकर अन्न पान, विरुद्ध भोजन, अध्यशन (भोजन कर चुकने पर भी पुनः भोजन करना), व्यायाम, अत्यन्त चेष्टा (चलने-फिरने द्वारा शरीर का अधिक सञ्चालन करना), तेल–घी आदि की मालिश, स्नान इन सब कार्यों को छोड़ देवे। ऐसा करने से ज्वरयुक्त रोगी का ज्वर शान्त हो जाता है और शान्तज्वर वाले रोगी का ज्वर पुनः नहीं उमड़ता है॥ २१–२२॥

अथ "ज्वरी लङ्घनं कुर्यादि"त्याह चरको वाग्भटश्च—

आमाशयस्थो हत्वाऽग्निं सामो मार्गान् पिधापयन्। विदधाति ज्वरं दोषस्तस्माल्लङ्घनमाचरेत्॥ २३॥

इसके बाद "ज्वरयुक्त रोगी को लङ्घन (उपवास) करना चाहिये" इस विषय में चरक तथा वाग्भट के वचन को कहते हैं–आमाशय में स्थित दोष जठराग्नि को नष्ट करके साम (आम के सहित) होता हुआ मार्गों को अवरुद्ध करता है और उसके बाद ज्वर को उत्पन्न करता है, इस लिये लङ्घन करना चाहिये॥ २३॥

अस्यायमर्थः—यतो हेतोरामाशयस्थो दोषो वातपित्तकफरूपः, अग्निं हत्वा = आच्छाद्य, सामः = अपक्वाहाररससहितः, मार्गं पिधापयन् = अत्रार्पत्वाद्धेतावपि कर्त्तरि शतृप्रत्ययस्तेन पिदधातीत्यर्थः। ज्वरं करोति, तस्माद्धेतोर्लङ्घनं ज्वरी आचरेदित्यर्थः॥ २३॥

यहाँ पर इसका स्पष्ट अर्थ यह समझना चाहिये कि—जब कि आमाशय में स्थित वात-पित्त तथा कफरूपी दोष जठराग्नि को नष्ट करके अर्थात् ढक करके, आमसहित अर्थात् अपक्व आहार-रस के सहित होता हुआ मार्गों को अर्थात् रस के स्रोतोमार्गों को अवरुद्ध करता है। और उसके बाद ज्वर को उत्पन्न करता है। इस कारण से ज्वरयुक्त रोगी आमदोषों को पचाने के लिये तथा जठराग्नि को प्रदीप्त करने के लिये एवम् अवरुद्ध रसवाही स्रोतों को शुद्ध करने के लिये लङ्घन (उपवास) करे।

और यहाँ पर यह भी समझना चाहिये कि "मार्गान् पिधापयन्" इन पदों के अन्तर्गत "पिधापयन्" पद में जो शतृ प्रत्यय हुआ है वह आर्ष (ऋषि का वचन) होने से कर्त्ता के हेतु न होने पर भी हुआ है इस लिये इसका "अवरुद्ध करता है" यह अर्थ किया गया है, इसका विस्तृत विवेचन [illegible] व्याकरण में देखना चाहिये॥ २३॥

यथा—

ज्वरादौ लङ्घनं प्रोक्तं ज्वरमध्ये तु पाचनम्। ज्वरान्ते भेषजं दद्याज्ज्वरमुक्ते विरेचनम्॥ २४॥
निश्चित्य त्रिविधे दोषे तारतम्यौषधं प्रयोजयेत्। दोषेऽल्पे लङ्घनं पथ्यं मध्ये लङ्घनपाचनम्॥
प्रभूते शोधनं तच्च मूलादुन्मूलयेन्मलान्॥ २५॥

जैसा कि [illegible] के विषय में कहा गया है कि—ज्वर के आदि में लङ्घन, मध्य में पाचन औषधि और ज्वर के [illegible] अवस्था में [illegible] औषधि देनी चाहिये। और ज्वर से मुक्त होने पर रोगी को विरेचन देना चाहिये।

[illegible]

[illegible] ॥ २४–२५॥

[illegible]

[illegible] ॥ २६॥

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible] ॥ २७॥

लङ्घनं लङ्घनीयस्तु कुर्याद्दोषानुरूपतः। त्रिरात्रमेकरात्रं वाऽहोरात्रमथ वा ज्वरे ॥ २८ ॥
निर्वातसेवनात्स्वेदाल्लङ्घनादुष्णवारिणः। पानादामज्वरे क्षीणे पश्चादौषधमाचरेत् ॥ २९ ॥

और अन्यत्र दोषों के परिपाक का समय इस भांति कहा हुआ है कि—वात दोष का ७ दिन में परिपाक होता है, पित्त दोष का दश दिन में और कफ दोष का १२ दिन में परिपाक होता है। ज्वर में जिसको लङ्घन कराना हो तो उसके दोषों की अवस्था का विचार कर तदनुसार तीन रात्रि या एक रात्रि अथवा एक अहोरात्र (एक दिन तथा एक रात्रि अर्थात् २४ घण्टे) तक लङ्घन (उपवास) करावै।

और निर्वात (वायु रहित) स्थान में रहने से, स्वेदन कर्म (पसीना निकालने) से, लङ्घन (उपवास) करने से, और गर्म किये हुये जल के पीने से आम ज्वर क्षीण होजाने पर ही ज्वरनाशक मुख्य औषधि का प्रयोग करना चाहिये ॥ २७—२९ ॥

आत्रेयेणोक्तम्—

ज्वरादौ लङ्घनं प्रोक्तं ज्वरमध्ये तु पाचनम्। ज्वरान्ते भेषजं दद्याज्ज्वरमुक्ते विरेचनम् ॥३०॥

महर्षि आत्रेय ने भी कहा है कि—"ज्वर के आरम्भ अवस्था में लङ्घन, मध्य अवस्था में पाचन, और अन्त अवस्था में अर्थात् लङ्घनादि के बाद मुख्य औषध देना चाहिये एवम् ज्वर से मुक्त होने पर रोगी को विरेचन देना चाहिये" ऐसा आयुर्वेदज्ञों ने कहा है ॥ ३० ॥

*अत्र लङ्घनशब्देनानशनमुच्यते। यत आह सुश्रुतः—

आनद्धः स्तिमितैर्दोषैर्यावन्तं कालमातुरः। तावत्वनशनं कुर्यात्ततः संसर्गमाचरेत् ॥ ९ ॥

यहां पर "लङ्घन" पद से "अनशन" अर्थात् उपवास करना कहा हुआ है। क्योंकि "सुश्रुत" महर्षिने कहा है कि—जब तक रोगी निश्चल दोषों से सबद्ध रहे तब तक वह अनशन (उपवास) करता रहे, उसके बाद मुख्य औषध तथा अन्नादि का ससर्ग (प्रयोग) करै ॥ ९ ॥

*आनद्धः स्तिमितैर्दोषैः = निश्चलैर्दोषैः सम्बद्धः। संसर्गम् = औषधान्नादिप्रसङ्गम् ॥ ९ ॥

यहां पर "आनद्धः स्तिमितैर्दोषैः" इन पदों का "निश्चल दोषों से सबद्ध रहे" तथा "ससर्ग" पद का "मुख्य औषध तथा अन्नादि का संसर्ग (प्रयोग)" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ९ ॥

*यत आह चरकः—

चतुष्प्रकारा संशुद्धिः पिपासा मारुतातपौ। पाचनान्युपवासश्च व्यायामश्चेति लङ्घनम् ॥१०॥

और चरक ने भी कहा है कि—चार प्रकार की संशुद्धि, प्यास, वायु, धूप, पाचन औषधि, उपवास और व्यायाम ये सब "लङ्घन" नाम से व्यवहृत होते हैं ॥ १० ॥

*चतुष्प्रकारा संशुद्धिः = वमनविरेचननिरूहवस्तिशिरोविरेचनानि। न त्वनुवासनं तस्य बृंहणत्वात्। अत्र लङ्घनं कर्षणमित्यर्थः ॥ १० ॥

यहां पर "चार प्रकार की संशुद्धि" से "१ वमन २ विरेचन ३ निरूहवस्ति ४ शिरोविरेचन ये ४ ही कर्म लिये जाते हैं। किन्तु संशुद्धि के अन्दर पठित अनुवासन वस्ति को बृंहण होने से नहीं लिया जाता है। क्यों कि यहां पर "लङ्घन" पद का "कर्षण" अर्थ माना गया है ॥१०॥

*तथा च सुश्रुतः—

शरीरलाघवकरं यद् द्रव्यं कर्म वा पुनः। तल्लङ्घनमिति ज्ञेयं बृंहणं तु पृथग्विधम् ॥ ११ ॥

और इस विषय में "सुश्रुत" भी कहते हैं कि—जो द्रव्य या कर्म शरीर में लघुता उत्पन्न करने वाला होता है उसे "लङ्घन" समझना चाहिये, इससे भिन्न को "बृंहण" समझना चाहिये ॥ ११ ॥

*लङ्घनात्कर्षणादन्यत् शरीरपोषकमित्यर्थः ॥ ११ ॥

यहां पर "इससे भिन्न को" कहने से "लङ्घन अर्थात् कर्षण से अन्य अर्थात् शरीर को पुष्ट करने वाले द्रव्य को" यह समझना चाहिये ॥ ११ ॥

*ननु "आनद्धः स्तिमितैर्दोषैरि"त्यादि पूर्वोक्तसुश्रुतवचनात्सामान्यतो ज्वरिणा यथाऽनशनरूपं लङ्घनं क्रियते, तथा "चतुष्प्रकारा संशुद्धि" इत्यादिचरकवचनाद्वमनादिरूपं लङ्घनं सर्वैर्ज्वरिभिः कथं न क्रियते? तत्रोच्यते-वमनादिकमवस्थाविशेषेषु क्रियते, न तु सर्वज्वरेषु।

तथा च सुश्रुतः—

सोत्क्लेशे चलिने देयं वमनं श्लैष्मिकज्वरे। पित्तप्राये विरेकस्तु कार्यः प्रशिथिलाशये ॥१२॥

अत्र यहां पर शङ्का होती है कि—"आनद्ध स्तिमितैर्दोषैः" इत्यादि पूर्वोक्त सुश्रुत के वचन से

[illegible] रोगी को जिस प्रकार से अनशन (उपवास) रूप लङ्घन कराया जाता है, उसी प्रकार से "[illegible]" इत्यादि पूर्वोक्त चरक के वचन से वमनादिरूप लङ्घन सभी [illegible] नहीं कराया जाता है ?

इसके उत्तर में यह कहते हैं कि—वमनादि रूप भी लङ्घन ज्वर वाले रोगी को कराया जाता है [illegible], इसी विषय में सुश्रुत भी कहते हैं कि—

[illegible] में वमन की इच्छा होने पर यदि रोगी बलवान् हो तो उसे वमन रूप चरकोक्त लङ्घन [illegible], और [illegible] में रोगी के गाढ मलाशय होने पर अर्थात् कठिन कोष्ठ वाला रोगी होने पर [illegible] लङ्घन कराना चाहिये ॥ १२ ॥

[illegible] = वमनेच्छावति, प्रशिथिलाशये = प्रोपसर्गवैपरीत्येन गाढाशय इत्यर्थः ॥१२॥

[illegible] पद का "वमन की इच्छा होने पर" तथा "प्रशिथिलाशये" पद का "प्रशि[illegible]" [illegible] "विपरीत" [illegible] शिथिल से विपरीत अर्थात् गाढ मलाशय होने पर [illegible] चाहिये ॥ १२ ॥

[illegible]ऽनिलजे कार्यं सोदावर्ते निरूहणम् । कफाभिपन्ने शिरसि कार्यं मूर्द्धविरेचनम् ॥ १३ ॥

और [illegible] में यदि रोगी के उदर में [illegible] रोग हो तो उसे निरूहण बस्ति रूप [illegible] कराना चाहिये, और ज्वर में यदि रोगी का सिर कफ से व्याप्त हो तो उसे शिरोविरेचन रूप लङ्घन कराना चाहिये ॥ १३ ॥

[illegible]सोदावर्ते = उदरपूरणवति ॥ १३ ॥

यहां पर "सोदावर्ते" पद का "उदावर्त रोग हो अर्थात् उदर वायु से पूर्ण हो गया हो" यह [illegible] करना चाहिये ॥ १३ ॥

[illegible] च सर्वज्वरिभिः पिपासानिग्रहश्च न कार्यः । यत आह हारीतः—

तृष्णा गरीयसी घोरा सद्यः प्राणविनाशिनी । तस्माद्देयं तृषार्त्ताय पानीयं प्राणधारणम्॥१४॥

[illegible] रोगी को [illegible] ([illegible]) रूप लङ्घन नहीं कराना चाहिये [illegible] हारीत [illegible] है कि—

[illegible] पानी न [illegible] तो वह [illegible] होने से [illegible] प्राण [illegible] हो जाती है, [illegible] से पीडित हो रहा हो उसे पानी पीने [illegible] देना चाहिये, क्योंकि [illegible] में पानी ही [illegible] है ॥१४॥

[illegible] सर्वथा निषिद्धानाम् । [illegible] पृथोक्तम् । [illegible] ।

[illegible] दोषो न पच्यते । [illegible] ॥

[illegible] पानीयं [illegible] ॥ १५ ॥

[illegible]

[illegible] ॥ १५ ॥

[illegible]

और व्यायाम रूप लङ्घन भी ज्वर रोगी को नहीं करना चाहिये क्यों कि उसका अत्यन्त निषेध किया गया है। किन्तु अवस्था–विशेष में तो पार्श्वपरिवर्त्तनादिक (करवट बदलना आदिक) रूप व्यायाम करना ही चाहिये।

इससे "चतुष्प्रकारा संशुद्धि" इत्यादिक श्लोक में "लङ्घन" पद "कर्षण" पर्यायवाचक ही है, इसका निर्णय हो गया ॥ ३० ॥

दोषशेषस्य पाकार्थमग्नेः सन्धुक्षणाय च। लङ्घितश्चाप्यदोषश्चेद्यवागूपानमाचरेत् ॥ ३१ ॥
शालिषष्टिकमुद्गानां यूषं वा शस्तमाचरेत्। पञ्चकोलेन संसिद्धां यवागूं मध्यलङ्घने ॥ ३२ ॥
अत्यर्थं लङ्घितं दृष्ट्वा तस्य संतर्पणं हितम्। द्राक्षादाडिमखर्जूरप्रियालैः सपरूषकैः ॥ ३३ ॥
तर्पणार्हस्य कर्त्तव्यं तर्पणं ज्वरशान्तये ॥ ३४ ॥

ज्वर रोगी जब साधारणतया उपवास कर चुका हो तथा दोष रहित हो चुका हो तो उस समय यत्किञ्चिद् अवशिष्ट दोषों को भी पचाने के लिये तथा जठराग्नि को प्रदीप्त करने के लिये उसे यवागू पिलाना चाहिये, अथवा शालिधान्य (अगहनी) तथा षष्टिक धान्य (साठी के चावल एवं मूग का जूस उत्तम रीति से बनाकर पिलाना चाहिये।

और जब मध्यम रूप से (न अत्यधिक और न अत्यल्प) लङ्घन कर चुका हो तो उसे पञ्चकोल (पीपल, पिपरामूल, चव्य, चीता और सोंठ) के क्वाथ से सिद्ध की हुई यवागू पिलानी चाहिये।

और जब ज्वर रोगी को देखे कि वह अत्यन्त लङ्घन कर चुका है तो उसे दाख, अनार, खजूर, चिरौंजी तथा फालसे इन सबों के देने से सन्तर्पण कराना हितकर होता है। क्यों कि सन्तर्पण करने योग्य ज्वर रोगी का ज्वर शान्ति के लिये सन्तर्पण करना अवश्य कर्त्तव्य ही है ॥ ३१–३४ ॥

अथोपवासरूपलङ्घनस्य फलमाह—

लङ्घनेन क्षयं नीते दोषे सन्धुक्षितेऽनले। विज्वरत्वं लघुत्वं च क्षुच्चैवास्योपजायते ॥ ३५ ॥

उपवास रूप लङ्घन का फल—उपवास रूप लङ्घन करने से बढ़े हुये दोषों के क्षय होने पर एवम् जठराग्नि के प्रदीप्त होने पर रोगी का ज्वर नष्ट हो जाता है तथा शरीर में लघुता एवं भूख उत्पन्न होती है ॥ ३५ ॥

छ लङ्घनेन = अनशनेन, दोषे प्रवृद्धे क्षयं नीते। यत आह—
"आहारं पचति शिखी दोषानाहारवर्जितः ॥ १६ ॥ इति।

यहां पर "लङ्घन" पद से "उपवास रूप लङ्घन" का ग्रहण किया गया है। और "दोषे प्रवृद्धे क्षय नीते" इन पदों का अर्थ "बढ़े हुये दोषों के क्षय होने पर" यह समझना चाहिये। क्यों कि अन्यत्र कहा भी है कि—

जठराग्नि आहार को पचाती है और आहार से रहित होने पर अर्थात् जब आहार पचाने के लिये नहीं रहता है तब दोषों को पचाती है ॥ १६ ॥

छपचतीति। सन्धुक्षितेऽनले, आच्छादकदोषे क्षीणे, अग्नौ प्रदीप्ते यथोक्तसम्प्राप्तिसामग्री-विघटनाद्विज्वरत्वम्। शरीरस्य गौरवाभावेन लघुत्वम्। क्षुद् = बुभुक्षा च जायत इत्यर्थः ॥३५॥

और यहां पर लङ्घन करने से जो ज्वर नष्ट होता है, उसका कारण यह समझना चाहिये कि—आहार रहित होने से अग्नि दोषों को पचाती है इस कारण से ज्वर होने में जब बढ़े हुये दोषों से अग्नि आच्छन्न हो जाती है तब उस समय लङ्घन (उपवास) करने से आच्छादक दोषों का क्षय होता है और अग्नि प्रदीप्त हो उठती है अत एव यथोक्त ज्वर की सम्प्राप्ति के सामग्रियों का अभाव हो जाने से ज्वर नष्ट हो जाता है।

और जो लघुता उत्पन्न होती है उसमें कारण गुरुता का अभाव समझना चाहिये। तथा—"क्षुत्" पद का "भूख" अर्थ समझना चाहिये ॥ ३५ ॥

अन्यच्चाह सुश्रुतः—

अनवस्थितदोषाग्नेर्लङ्घनं दोषपाचनम्। ज्वरघ्नं दीपनं काङ्क्षारुचिलाघवकारकम् ॥ ३६ ॥

इसके अतिरिक्त सुश्रुत ने और भी कहा है कि—जिसके वातादिक दोष तथा अग्नि अपने स्थान से इधर उधर चलायमान हो गये हैं ऐसे ज्वर रोगी को उस समय लङ्घन (उपवास) कराने से बढ़े हुये दोषों का पाचन होता है तथा ज्वर नष्ट हो जाता है एवम् अग्नि प्रदीप्त हो जाता है और अन्न

खाने की इच्छा, रुचि तथा लघुता भी उत्पन्न होती है ॥ ३६ ॥

(अनवस्थितदोषाग्नेः = अनवस्थितः = स्वस्थानादितस्ततो गतो दोषोऽग्निश्च यस्य तस्य ज्वरिणः। काङ्क्षा = अन्नाभिलाषः, रुचिः = लङ्घनेनामपाकान्मुखशोषादिनाशे मुखस्य यथाप्रकृत्यैव रुचिः = शोभा।

"रुचिः स्त्री दीप्तिशोभायामभीष्टार्थाभिलाषयोः" इति मेदिनीकारः ॥ ३६ ॥

यहाँ पर "अनवस्थितदोषाग्नेः" इस पद के अन्तर्गत "अनवस्थित" पद का "अपने स्थान से इधर उधर स्थानान्तर हो गये हैं" यह अर्थ समझना चाहिये। और "काङ्क्षा" पद का अर्थ "अन्न खाने की इच्छा" समझना चाहिये। एवम् "रुचि" पद से "लङ्घन करने के द्वारा आम के पचजाने से मुखशोषादिक के नष्ट हो जाने पर मुख की स्वस्थावस्था के पहले की शोभा" का ग्रहण करना चाहिये। "रुचि" पद का अर्थ 'शोभा' करने में मेदिनी कोश प्रमाण भी है क्योंकि उसमें मेदिनीकार ने लिखा है कि—रुचि शब्द स्त्रीलिङ्गी है तथा यह—दीप्ति, शोभा, अभीष्ट अर्थ तथा अभिलाषा वाचक है ॥ ३६ ॥

अथ सम्यग्लङ्घितस्य लक्षणमाह—

वातमूत्रपुरीषाणां विसर्गे गात्रलाघवे। हृदयोद्गारकण्ठास्यशुद्धौ तन्द्राक्लमे गते ॥ ३७ ॥
स्वेदे जाते रुचौ चापि क्षुत्पिपासासहोदये। कृतं लङ्घनमादेश्यं निर्व्यथे चान्तरात्मनि ॥ ३८ ॥

अच्छी भाँति से किये हुये लङ्घन के लक्षण—जब लङ्घन करने वाले ज्वर रोगी को अधोवायु, मूत्र और मल का शुद्ध रीति से त्याग, शरीर में लघुता एवम् हृदय, उद्गार (डकार), कण्ठ तथा मुख की शुद्धि से मन होने लगे और तन्द्रा तथा ग्लानि दूर हो जाय एवम् स्वेद निकलना तथा रुचि (मुख की स्वस्थ अवस्था के पूर्व की शोभा) उत्पन्न होना, भूख और प्यास का साथ ही साथ उत्पन्न होना एवम् मन का व्यथा रहित होना ये सब लक्षण देख पड़ने लगें तब कहना चाहिये कि रोगी ने लङ्घन उत्तम रीति से किया है ॥ ३७-३८ ॥

(हृदयस्य शुद्धिः = हृदयानवरोधः। उद्गारशुद्धिः = सधूमाम्लोद्गाराभावः। कण्ठस्य शुद्धिः = कफेनानवलिप्तत्वम्। आस्यशुद्धिः = मुखस्य प्रकृतगन्धत्वम्। तन्द्राक्लमे = तन्द्रा च क्लमश्च तस्मिन्, तन्द्रा = निद्रावत् क्लान्तिः, क्लमोऽत्र ग्लानिः। क्षुत्पिपासासहोदये = क्षुत्पिपासयोः सह युगपदुदये। अन्तरात्मनि = मनसि। एतानि लक्षणानि मिलितान्येव सम्यग्लङ्घितं बोधयन्ति, न तु प्रत्येकम् ॥ ३७-३८ ॥

यहाँ पर "हृदय की शुद्धि" कहने से "हृदय का अवरोध न होना" और "उद्गार की शुद्धि" से "धूम रहित (धूमाइन), खट्टी डकार का न आना" तथा "कण्ठ की शुद्धि" से "कफ से गले का न लिपटा रहना", एवम् "मुख की शुद्धि" से "मुख का स्वाभाविक अवस्था की भाँति रस (स्वाद) होना" समझना चाहिये।

और "तन्द्राक्लमे" पद में [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible] ॥ ३९ ॥

[illegible]

हृदयात्कफनिर्गमः ॥ ३९ ॥

यहां पर "कफोत्क्लेश" पद का "कफ का वमन के लिये उपस्थित होना" और "हृल्लास" पद का "उबकाई आना अर्थात् वमन होने के समान मालूम पड़ना किन्तु वमन न होना" एवम् "ष्ठीवनम्" पद का "वारम्बार थूकने पर हृदय से कफ का निकलना" यह अर्थ समझना चाहिये ॥३९॥

अथातिशयितलङ्घनस्य लक्षणमाह—

पर्वभेदोऽङ्गमर्दश्च कासः शोषो मुखस्य च । क्षुत्प्रणाशोऽरुचिस्तृष्णा दौर्बल्यं श्रोत्रनेत्रयोः ॥४०॥
मनसः संभ्रमोऽभीक्ष्णमूर्ध्ववातस्तमो हृदि । देहाग्निबलहानिश्च लङ्घनेऽतिकृते भवेत् ॥ ४१ ॥

अत्यन्त लङ्घन किये हुये के लक्षण—शरीर के सभी सन्धियों में टूटने की सी पीडा होना, देह टूटना, खांसी, मुखशोष (मुख का सूखना), भूख न लगना, अन्न में अरुचि होना, प्यास लगना, कान तथा नेत्रों का दुर्बल होना अर्थात् अपने २ विषयों को ग्रहण करने में समर्थ न होना (कान से भली भांति सुनाई न पड़ना तथा आंखों से अच्छी तरह से दिखाई न पड़ना), मन में भ्रम का होना, उद्गार (डकार) अधिक आना, हृदय में तम अर्थात् अन्धकार में प्रविष्ट हुये की भांति ज्ञान होना ये सब लक्षण अत्यन्त लङ्घन करने पर प्रगट होते हैं ॥ ४०—४१ ॥

श्रोत्रनेत्रयोर्दौर्बल्यं = कर्णनेत्रयोः स्वविषयग्रहणासामर्थ्यम् । मनसः सम्भ्रमः = भ्रान्तिः । ऊर्ध्ववातः = उद्गारबाहुल्यम् । हृदि तमः = अन्धकारप्रविष्टस्येव ज्ञानम् ॥ ४०—४१ ॥

यहां पर "श्रोत्रनेत्रयोर्दौर्बल्यम्" पदों का "कान तथा नेत्र का अपने २ विषयों को ग्रहण करने (सुनना तथा देखना) में समर्थ न होना" तथा "मनसः सम्भ्रमः" इनमें "सम्भ्रम" पद का "भ्रान्ति अर्थात् भ्रम" एवम् "ऊर्ध्ववातः" पद का "उद्गार (डकार) अधिक आना" और "हृदि तमः" पदों का "हृदय में तम अर्थात् अन्धकार में प्रविष्ट हुये की भांति ज्ञान होना" अर्थ समझना चाहिये॥४०—४१॥

अथ बलरक्षणं लङ्घनं कार्यमित्याह—

बलाविरोधिना चैनं लङ्घनेनोपपादयेत् । बलाधिष्ठानमारोग्यं यदर्थोऽयं क्रियाक्रमः ॥ ४२ ॥

बल की रक्षा जिससे होती रहे इस भांति से लङ्घन कराने के विषय में कहते हैं कि—रोगी का अत्यन्त बलक्षय को नहीं करने वाले अर्थात् जिससे अत्यन्त बल क्षय न हो ऐसे लङ्घन के द्वारा उपचार करना चाहिये, तात्पर्य यह है कि उतना ही लङ्घन कराना चाहिये कि जितने से अत्यन्त बलक्षय न हो। क्योंकि जिस आरोग्य के लिये यह चिकित्सा का उपक्रम है अर्थात् चिकित्सा की जाती है वह आरोग्य बल के आश्रय रहता है ॥ ४२ ॥

अयमर्थः—एनं = रोगिणं, बलाविरोधिना = अनतिबलक्षयकारिणा, लङ्घनेन, उपपादयेद् = उपचरेत्, कुत इति चेत्तत्राह— यदर्थः = यस्मै आरोग्याय, अयं क्रियाक्रमः । तद्, आरोग्यं बलाधिष्ठानं = बलाश्रयमित्यर्थः ॥ ४२ ॥

यहां पर "एनम्" पद का प्रकरण प्राप्त होने से "रोगी" को यह अर्थ समझना चाहिये । "बलाविरोधिना लङ्घनेन" पदों का "अत्यन्त बलक्षय को नहीं करने वाले लङ्घन के द्वारा" तथा "उपपादयेत्" पद का "उपचार करना चाहिये" यह अर्थ समझना चाहिये । क्यों ऐसा करना चाहिये ? इस का उत्तर "यदर्थोऽयम्" इत्यादिक श्लोक ४२ के उत्तरार्ध द्वारा कहते हैं । यह और भी यहां पर समझना चाहिये । तथा "यदर्थः" पदका "जिस आरोग्य के लिये" एवम् "अयं क्रियाक्रम" पदों का "यह चिकित्सा का उपक्रम है", "तद् आरोग्यम्" पदों में "तद्" पद का "यत्" पद के द्वारा ऊपर से आक्षेप किया गया है अत एव उक्त पद का "वह आरोग्य" तथा "बलाधिष्ठानम्" पद का "बल के आश्रय रहता है" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ४२ ॥

अथ केषाञ्चिदनशनस्य निषेधमाह सुश्रुतः—

तद्धि मारुततृष्णाक्षुन्मुखशोषभ्रमान्वितः ।
न कार्यं गुर्विणीबालवृद्धदुर्बलभीरुभिः । न क्षयाध्वश्रमक्रोधकामशोषपचिरज्वरी ॥ ४३ ॥

"किसी २ रोगियों के सम्बन्ध में सुश्रुत ने लङ्घन (उपवास) के लिये निषेध किया है" इसी विषय को दिखाते हुये कहते हैं कि—वात ज्वर वाले तथा तृष्णा (प्यास) और भूख से पीडित एवम् मुखशोष और भ्रमरोग से युक्त रोगी, गर्भिणी स्त्री, बालक, वृद्ध, दुर्बल, भीरु (डरपोक), क्षयरोगी तथा मार्ग चलने और परिश्रम करने से थके हुये एवम् क्रोधी, काम से पीडित, शोष-रोगी

[illegible] रोगी इन सबों को अनशन (उपवास) नहीं करना चाहिये ॥ ४२ ॥

[illegible], [illegible]युक्तेन ज्वरिणा न कार्य्यम् । मारुतोऽत्र निरामो बोद्धव्यः, सामे मारुते लङ्घनं कार्य्यमेव । यत आह तन्त्रान्तरे—"[illegible]" इत्युत्तरश्लोके । तद्वन्मा[illegible]तृष्णायां लङ्घनं कार्य्यमेव न । तथा मुखशोषभ्रमावपि निरामावेव विवक्षितौ, सामयो-स्तु तयोर्लङ्घनं कार्य्यमेव । गुर्विणीबालवृद्धादिभिरपि निरामैरेव नैव लङ्घनं कार्यम्, सामैः पुनस्तैरपि लङ्घनं कार्य्यमेव । क्षयो = धातुक्षयो राजयक्ष्मा च ॥ ४३ ॥

यहां पर मूल में "[illegible]" पद से "[illegible]" अर्थात् लङ्घन का बोध करना चाहिये । और अधिक [illegible] रोगी को लङ्घन नहीं करना चाहिये । ऐसा कहने से मारुत अर्थात् "वात" शब्द का "निराम ([illegible]) [illegible]" अर्थ करना चाहिये, इस से यह सिद्ध हुआ कि जहाँ पर वात साम ([illegible]) हो तो वहां पर लङ्घन करना ही चाहिये, क्योंकि—ग्रन्थान्तर में "[illegible]" [illegible] श्लोक में यह कहा है कि—"साम (आमयुक्त) वात में ज्वररोगी लङ्घन अवश्य [illegible]" । [illegible] प्रकार से [illegible] तृष्णा में भी वात यदि साम (आमयुक्त) हो तो लङ्घन कराना चाहिये और [illegible] हो तो लङ्घन नहीं कराना चाहिये । और भ्रम तथा मुख-शोष में भी लङ्घन का जो [illegible] है [illegible] भी निरामावस्था में ही समझना चाहिये [illegible] यदि साम (आम [illegible]) [illegible] इन में भी लङ्घन कराना ही चाहिये । और गर्भिणी [illegible], बालक, वृद्ध आदि को [illegible] निरामावस्था में ही लङ्घन का निषेध समझना चाहिये, सामावस्था होने पर तो इन [illegible] लङ्घन [illegible] । और यहां पर "क्षय" पद से "धातुक्षय तथा राजयक्ष्मा [illegible]" ॥ ४३ ॥

[illegible] ज्वरी सामे समीरणे । लङ्घनं ह्यामपाकार्थं न तदूर्ध्वं यथा कफे ॥ ४४ ॥

[illegible] में [illegible] रोगी को [illegible] पकाने के लिये अवश्य लङ्घन करना चाहिये [illegible] (वायु में) लङ्घन नहीं करना चाहिये ॥४४॥

[illegible] लङ्घनं न कार्य्यं । तदूर्ध्वमामपाकादूर्ध्वम् । अत एवोक्तम्—
[illegible] लङ्घनं बहु । आमपाकादूर्ध्वमपि वायुर्न सहते [illegible] ॥४४॥

[illegible]

[illegible] ॥४५॥

[illegible]

[illegible] ॥ ४६ ॥

[illegible]

[illegible]

और उस आम से युक्त जो दोष अथवा दूष्य होते हैं वे भी उसी के समान (आम के समान गुण वाले) होते हैं और उन दोष और दूष्यों से उत्पन्न हुए रोग "साम" कहलाते हैं, अर्थात् आम से युक्त दोष तथा दूष्य एवम् इनसे (आमयुक्त दोष तथा दूष्यों में) उत्पन्न होने वाले रोग ये सभी "साम" कहलाते हैं ॥ ४७-४८ ॥

तत्र सामस्य वातस्य लक्षणमाह—

वायुः सामो विबन्धाग्नि-सादतन्द्राऽन्त्रकूजनैः। वेदनाशोथनिस्तोदैः क्रमतोऽङ्गानि पीडयेत्॥४९॥
विचरेद् युगपच्चापि गृह्णाति कुपितो भृशम्। स्नेहाद्यैर्वृद्धिमायाति मेघे सूर्योदये निशि ॥५०॥

साम वात के लक्षण—साम (आमयुक्त) वायु–विबन्ध (मल–मूत्रादिक का ठीक रीति से न निकलना), अग्निमन्दता, तन्द्रा, आंतों में शब्द होना, वेदना (दर्द), शोथ तथा सूची (सुई) चुभाने की सी पीडा होना इन सबों के द्वारा क्रम से सम्पूर्ण शरीर को पीडित करता है।

और वायु तथा आम ये दोनों एक समय में ही सर्वत्र शरीर में विचरण करते हैं, तथा कुपित साम वायु सम्पूर्ण अङ्गों को अत्यन्त जकड भी लेता है और स्नेहादिकों के द्वारा एवम् वर्षाऋतु, सूर्योदय काल तथा रात्रि में वृद्धि को प्राप्त होता है ॥ ४९-५० ॥

***विचरेद्युगपद् = वायुरामश्चैककालं विचरेत्। कुपितः सामो वायुर्भृशम् = अतिशयेन गृह्णात्यङ्गानीत्यर्थः ॥ ४९-५० ॥**

यहां पर "विचरेद् युगपद्" पदों का "वायु तथा आम ये दोनों एक समय में ही सर्वत्र शरीर में विचरण करते हैं" तथा "कुपितो भृशं गृह्णाति" पदों का "कुपित साम वायु सम्पूर्ण अङ्गों को अत्यन्त जकड भी लेता है" यह अर्थ समझ लेना चाहिये ॥ ४९-५० ॥

अथ निरामस्य वातस्य लक्षणमाह—

निरामो विशदो रूक्षो निर्गन्धोऽल्पवेदनः। विपरीतगुणैः शान्तिं स्निग्धैर्याति विशेषतः॥५१॥

निराम वात के लक्षण—निराम (आम रहित) वायु—विशदगुणयुक्त, रूक्ष, गन्धरहित, थोडी वेदना करने वाला होता है एवम् अपने से विपरीत गुण वाले द्रव्यों के द्वारा शान्त होता है और स्निग्ध द्रव्यों से तो विशेषरूप से शान्त होता है ॥ ५१ ॥

अथ प्रसङ्गात् सामस्य पित्तस्य लक्षणमाह—

पित्तं सामं भवेदम्लं दुर्गन्धं हरितं गुरु। अम्लिकाकण्ठहृद्दाह-करं श्यावं तथा स्थिरम् ॥५२॥

प्रसङ्गवश साम पित्त के लक्षण—साम (आमयुक्त) पित्त—अम्लरसयुक्त, दुर्गन्धित, हरा या श्याव (धूम्र) वर्ण युक्त, गुरु, अम्लिका (खट्टी डकार) करने वाला, कण्ठ तथा हृदय में दाह उत्पन्न करने वाला एवम् स्थिर होता है ॥ ५२ ॥

***अम्लिका = "अम्बिलीचुकी" ति लोके ॥ ५२ ॥**

यहां पर "अम्लिका" पद से "लोक प्रसिद्ध अम्बिली चुकी" का ग्रहण करना चाहिये ॥ ५२ ॥

अथ निरामपित्तस्य लक्षणमाह—

निरामं पित्तमाताम्रमत्युष्णं कटुकं सरम्। दुर्गन्धि रुचिकृद् वह्नि-बलवर्धनमीरितम् ॥ ५३ ॥

निराम पित्त के लक्षण—निराम पित्त—किञ्चित् ताम्रवर्ण युक्त, अत्यन्त उष्ण, कटुरसयुक्त, सारक, दुर्गन्धयुक्त, रुचि उत्पन्न करने वाला, जठराग्नि के बल को बढाने वाला अथवा जठराग्नि तथा बल को बढ़ाने वाला कहा हुआ है ॥ ५३ ॥

अथ सामकफस्य लक्षणमाह—

आविलस्तन्तुलः स्त्यानः कण्ठदेशे च तिष्ठति। सामो बलासो दुर्गन्ध-स्तृट्क्षुधोरुपघातकृत्॥५४॥

साम कफ के लक्षण—साम कफ—आविल (मटमैला), तन्तुयुक्त, स्त्यान (गाढ़ा), कण्ठ देश में रहने वाला, दुर्गन्धयुक्त एवम् प्यास तथा क्षुधा को नष्ट करने वाला होता है ॥ ५४ ॥

***स्त्यानः = संहतः ॥ ५४ ॥**

यहां पर "स्त्यान" पद का "गाढा" अर्थ समझना चाहिये ॥ ५४ ॥

अथ निरामकफस्य लक्षणमाह—

श्लेष्मा निरामो निर्गन्धः फेनवांश्छेदवानपि। भवेत् स पिण्डितः पाण्डु-रास्यवैरस्यनाशकृत्॥५५॥

निराम कफ के लक्षण—जो कफ निराम होता है, वह दुर्गन्धरहित, फेनयुक्त तथा खण्डयुक्त होता है एवम् गाठदार, पाण्डुवर्णयुक्त तथा मुख की विरसता को दूर करने वाला होता है ॥ ५५ ॥

अथ सामान्य ... —

आलस्यतन्द्राहृदयाविशुद्धि-दोषाप्रवृत्त्याविरमूत्रताभिः ।
गुरूदराध्मानविसुप्तनाभि-रामान्वितं व्याधिमुदाहरन्ति ॥ २६ ॥
आमं जयेल्लङ्घनकोष्णपेया-कष्ववनयूषौदनतिक्तयूषैः ।
विरूक्षणस्वेदनपाचनैश्च संशोधनैरूर्ध्वमधस्तथैव ॥ २७ ॥

आम (आमयुक्त) रोग के लक्षण—आलस्य, तन्द्रा, हृदय की अविशुद्धि, दोषों का (मलादिकों का) न निकलना, मूत्र का अधिक होना, पेट में आध्मान, अरुचि तथा अधिक निद्रा ये सब लक्षण जिन रोगों में प्राप्त होते हैं उन सबों को वैद्य लोग आमयुक्त कहते हैं।

और लङ्घन (उपवास), गुनगुना जल देना, यवागू, दाल, भात, तिक्त रसयुक्त पदार्थों का ... रूक्ष करने वाले द्रव्य, स्वेदन (स्वेद देना), पाचन, ऊर्ध्व-संशोधन (वमनादिक), ... (विरेचनादिक) इन सबों के द्वारा आम की शान्ति करनी चाहिये ॥ २६-२७ ॥

अथ ... लङ्घनेऽपि ... सुश्रुत —

तृष्णा मोहमायाति मोहाच्च प्राणान् विमुञ्चति । अतः सर्वास्ववस्थासु न क्वचिद् वारि वर्जयेत् ॥ २८ ॥

"... रोगी को लङ्घन (उपवास) करने के समय में भी जल पीना चाहिये" इस विषय में "सुश्रुत" कहते हैं कि—अधिक प्यासा रोगी जल न पीने से मूर्छित हो जाता है, और ... प्राणों को भी छोड़ देता है। अतः सभी अवस्थाओं में कभी भी जल पीने का निषेध नहीं करना चाहिये ॥ २८ ॥

हारीतेनोक्तम्—

तृष्णा गरीयसी घोरा सद्यः प्राणविनाशिनी । तस्माद्देयं तृषार्त्ताय पानीयं प्राणधारणम् ॥ २९ ॥

इसी विषय में "हारीत" ने भी कहा है कि—अधिक प्यास बहुत भयानक होती है क्योंकि इससे ... प्राण निकल जाते हैं, अतः अधिक प्यासा हो उसे प्राणों के धारण करने के लिये ... देना चाहिये ॥ २९ ॥

... पिबेत् । यत आह सुश्रुत एव—

... शीतं ... तनोऽत्यन्तनिषेधेन न क्वचिद् वारि वारयेत् ॥ ३०॥

... ज्वररोगी को ... जल पीना ... अवश्य ... क्योंकि इसी विषय में "सुश्रुत" ने कहा है ... अधिक ... निषेध नहीं करना चाहिए ॥ ३० ॥

[illegible] वारयेदेव ॥ ३१ ॥

[illegible]

[illegible] ॥ ३२ ॥

[illegible] ॥ ३३ ॥

[illegible]

[illegible] ॥ ३२-३३ ॥

[illegible]

[illegible]

[illegible] (३४) [illegible]

[illegible]

पित्त बढ़ जाता है (२१) ॥५९॥

अथ शीतलजलपानस्य निषेधमाह सुश्रुतः—

नवज्वरे प्रतिश्याये पार्श्वशूले गलग्रहे । सद्यः शुद्धौ तथाऽऽध्माने व्याधौ वातकफोद्भवे ॥६०॥
अरुचिग्रहणीगुल्म-श्वासकासेषु विद्रधौ । हिक्कायां स्नेहपाने च शीतं वारि विवर्जयेत् ॥६१॥

शीतल जलपान के निषेध के विषय में सुश्रुत यह कहते हैं कि—नवीन ज्वर, प्रतिश्याय (जुखाम), पार्श्वशूल (पँसलियों में दर्द), गलग्रह (गले का बैठ जाना) इन रोगों में एव तत्काल वमन, विरेचनादि शोधनकर्म करने पर, आध्मान (अफरा), वात तथा कफसम्बन्धी रोग, अरुचि, ग्रहणी, गुल्म, श्वास, कास (खांसी), विद्रधि, हिचकी इन रोगों में तथा स्नेहपान करने पर रोगी को शीतल जल पीने का निषेध करना चाहिये ॥ ६०–६१ ॥

***अत्र शीतं जलमक्वथितं निषिद्धं, तथा सति क्वथितं ग्राह्यमायातम् । अत्र क्वथितस्य विधिर्गुणाश्च—**

***"क्वाथ्यमानन्तु निर्वेगं निष्फेनं निर्मलं च यत् । तत् तोयं क्वथितं ज्ञेयं दीपनं पाचनं लघु" २२**

यहां पर शीतल जल का निषेध करने से बिना औटाये हुये शीतल जल का निषेध समझना चाहिये । ऐसा होने से "औटाया हुआ शीतल जल पीना चाहिये" यह अर्थात् सिद्ध हुआ ।

यहां पर जल औटाने की विधि तथा उसके गुण कहते हैं—औटाये हुये जल के गुण—जब जल धीरे २ औटाते फेन से रहित एवं निर्मल हो जाय तब उसे "क्वथित" अर्थात् औटाया हुआ समझना चाहिये । और वह (क्वथित) जल दोषों को दूर करने वाला, पाचक तथा लघु होता है ॥ २२ ॥

***निर्वेगं=शनैः ॥ २२ ॥**

यहां पर "निर्वेगम्" पद का "धीरे २ " यह अर्थ समझना चाहिये ॥ २२ ॥

***क्वथितस्य विधानमाह सुश्रुतः—**

***वातश्लेष्मज्वरार्त्ताय हितमुष्णाम्बु तृष्यते ।**
दीपनं कफविच्छेदि वातपित्तानुलोमनम् । तद्धि मार्दवकृद्दोष-स्रोतसां शीतमन्यथा ॥ २३ ॥

औटाया हुआ जल किसे देना चाहिये और उसके क्या गुण हैं ? इस विषय में सुश्रुत कहते हैं कि—वात-कफ सम्बन्धी ज्वररोगी को प्यास लगने पर उष्ण (क्वथित) जल देना हितकर होता है । और यह जल—अग्निदीपक, जमे हुये कफ को खण्ड २ करने वाला, वात-पित्त का अनुलोमन करने वाला एवम् दोष तथा स्रोतोमार्गों को मृदु करने वाला होता है । और शीतल (विना औटा हुआ) जल इससे विपरीत गुणों वाला होता है ॥ २३ ॥

वाग्भटश्च—

***तृष्णायां प्रासमुष्णाम्बु पिबेद्वातकफज्वरे । तत् कफं विलय नीत्वा तृष्णामाशु निवर्त्तयेत् ॥२४॥**
***उदीर्य चाग्निं स्रोतांसि मृदूकृत्य विशोधयेत् ।**
वातपित्तकफस्वेद-शकृन्मूत्राणि सारयेत्" ॥ २४–२५ ॥ इति ॥ ६०–६१ ॥

और "वाग्भट" भी कहते हैं कि—वात-कफसम्बन्धी ज्वर में प्यास लगने पर यदि उष्ण जल पीया जाय तो वह (उष्ण जल) कफ को नष्ट करके प्यास को भी शीघ्र शान्त करता है तथा अग्नि को प्रदीप्त करके एवम् स्रोतोमार्गों को मृदु करके उनका शोधन करता है । और वात, पित्त, कफ, स्वेद, मल तथा मूत्र का सारण करता है (२४–२५) ॥ ६०–६१ ॥

अन्यच्च स एव—**सेव्यमानेन शीतेन ज्वरस्तायेन वर्द्धते ॥ ६२ ॥**

और वही यह और भी कहते हैं कि—शीतल (विना औटा हुआ) जल का सेवन करने से ज्वर-रोगी का ज्वर बढता है ।

अथोष्णोदकस्य लक्षणं गुणांश्चाह—

क्वाथ्यमानं तु निर्वेगं निष्फेनं निर्मलं तथा । अर्द्धावशिष्टं यत् तोयं तदुष्णोदकमुच्यते ॥ ६३ ॥
ज्वरकासकफश्वास-पित्तवातामभेदसाम् । नाशनं पाचनञ्चैव पथ्यमुष्णोदकं सदा ॥ ६४ ॥

उष्णोदक (गर्म जल) के लक्षण और गुण—जो जल धीरे २ औटाते २ जब फेन से रहित तथा निर्मल हो जाय एवम् आधा भाग शेष रह जाय तब उसे "उष्णोदक" कहते हैं ।

और वह उष्णोदक—ज्वर, कास, कफ, श्वास, पित्त, वात, आम तथा मेदा को नष्ट करने वाला,

[illegible] तथा [illegible] ([illegible]) होता है ॥ ६३–६४ ॥

[illegible] जलस्य पाकभेदमाह—

त्रिपादशेषं सलिलं ग्रीष्मे शरदि शस्यते । हिमेऽर्द्धशेषं शिशिरे तथा वर्षावसन्तयोः ॥ ६५ ॥

[illegible] ग्रीष्म तथा शरद् ऋतु में औटाने से तीन भाग अवशिष्ट रह [illegible] उत्तम होता है और हेमन्त, शिशिर, वर्षा तथा वसन्त ऋतु में आधा अवशिष्ट रह जाने पर उत्तम होता है ॥ ६५ ॥

अन्ये तु—

निदाघे त्वर्द्धपादोनं पादहीनन्तु शारदम् । शिशिरे च वसन्ते च हिमे चार्द्धावशेषितम् ॥६६॥
अष्टमांशावशेषन्तु वारि वर्षासु शस्यते । इति केचिद् बुधाः प्राहुर्जेज्जटागमदर्शनात् ॥ ६७ ॥

[illegible] इस विषय में यह कहते हैं कि—ग्रीष्म ऋतु में अष्टमांश जल जल जाने पर पीने [illegible] होता है । शरद् ऋतु में चतुर्थांश जल [illegible] जाने पर उत्तम होता है । शिशिर, वसन्त [illegible] में औटाने से आधा [illegible] अवशिष्ट रह जाने पर पीने योग्य उत्तम होता है । और वर्षा ऋतु में अष्टमांश [illegible] अवशिष्ट रहने पर उत्तम होता है । ऐसा "[illegible]" रचित वैद्यकग्रन्थ में [illegible] सोग [illegible] ॥ ६६–६७ ॥

[illegible]—

वर्षादिषु षडेतेषु वारिष्वेतेषु वस्तुषु । [illegible] भागावशेषं स्यादन्तु वर्षाऽऽदिषु क्रमात् ॥ ६८ ॥

[illegible] कहते हैं कि—वर्षा आदिक ऋतुओं में क्रम से अर्थात् वर्षा ऋतु में दो भागों में [illegible] भाग (आधा) जल अवशिष्ट रह जाने पर पीने योग्य उत्तम होता है । एवम् शरद् ऋतु में [illegible] भागों में [illegible] भाग, [illegible] ऋतु में चार भागों में से एक भाग, शिशिर ऋतु में पांच [illegible] भाग, वसन्त ऋतु में [illegible] भागों में [illegible] भाग और ग्रीष्म ऋतु में आठ भागों में से [illegible] अवशिष्ट रह जाने पर पीने योग्य उत्तम होता है ॥ ६८ ॥

दोषानुरोधेनापि यथोचितमूनता हीनता वा तत्र व्यवस्था कल्पनीया ॥ ६८ ॥

[illegible] दोषों में [illegible] दोष को [illegible] अवस्था [illegible] करनी चाहिये ॥ ६८ ॥

पादार्द्धेन पित्तघ्नमर्द्धहीनन्तु वातनुत् । त्रिपादहीनं श्लेष्मघ्नं संग्राहि दीपनं लघु ॥ ६९ ॥

[illegible] चतुर्थांश हीन हो गया हो तो वह पित्तनाशक होता है [illegible] हीन हो गया हो तो [illegible] होता है, [illegible] तीन भाग हीन हो गया हो अर्थात् [illegible] हो तो [illegible], [illegible] तथा लघु होता है [illegible]

[illegible]—

[illegible] ॥ ७० ॥
[illegible] ॥ ७१ ॥

[illegible] ७०–७१ ॥

[illegible]—

[illegible]

[illegible]

[illegible]

***अयमृतुभेदेन जलस्य ग्रहणाय देशभेदो वारिवर्गे बोद्धव्यः॥ ७२ ॥**

यहां पर यह और भी समझना चाहिये कि—ऋतु भेद से जल ग्रहण करने के लिये जो यह देशों का भेद दिखाया गया है उसे पीछे के वारिवर्ग में देख कर विशेष रूप से समझ लेना चाहिये, यहां केवल दिग्दर्शन करा दिया गया है॥ ७२ ॥

नादेयं वारि नादेयं वसन्तग्रीष्मयोर्बुधैः। विषवत्पत्रपुष्पादि-दुष्टनिर्झरयोगतः॥ ७३ ॥
औद्भिदं चान्तरिक्षं वा कौप्यं वा प्रावृषि स्मृतम्। शस्तं शरदि नादेयं नीरमंशूदकं परम्॥७४॥

बुद्धिमान् को चाहिये कि—वह वसन्त तथा ग्रीष्म ऋतु में नदी का जल न ग्रहण करे क्यों कि उस समय विषयुक्तपत्ते तथा फूल आदिकों से दूषित हुये झरनों के जलों का योग होने से नदी का जल दूषित रहता है। और वर्षा ऋतु में औद्भिद (पृथ्वी फोड कर निकलने वाला) जल एवम् आन्तरिक्ष (आकाश का) तथा कौप्य (कूयें का) जल ग्रहण करना कहा हुआ है। और शरद् ऋतु में नदी का जल अथवा अंशूदक सञ्ज्ञक जल ग्रहण करना उत्तम होता है॥ ७३–७४ ॥

अथांशूदकस्य लक्षणगुणानाह—

दिवा रविकरैर्जुष्टं निशि शीतकरांशुभिः। ज्ञेयमंशूदकं नाम स्निग्धं दोषत्रयापहम्॥ ७५ ॥
अनभिष्यन्दि निर्दोष-मान्तरिक्षजलोपमम्। बल्यं रसायनं मेध्यं शीतं लघु सुधासमम्॥७६॥

अंशूदक के लक्षण तथा गुण—जिस विशुद्ध जल के ऊपर दिन में सूर्य की किरणें तथा रात्रि मे

चौण्ट्य नवमनभिवृष्टं सर्वं चेति"। सुश्रुते सूत्र० अ० १५।

"वर्षाऋतु में आन्तरिक्ष (आकाश का) तथा औद्भिद (झरने का) पानी हितकर होता है। यहां पर वर्षा मे वर्षा का अन्तिम मास आश्विन समझना चाहिये। क्यों कि भाद्रपद आदि मासों में आन्तरिक्ष जल का निषेध मिलता है यथाः—

"बलाहकाद्याः समदा. कीटा लूताश्च खेचरा.।
तद्विषोत्सर्गसंसर्गा–दग्राह्य तज्जलं स्मृतम्"॥

तो वर्षा के भाद्रपदादि मास मे कौन सा जल पिलाना चाहिये इस विषय मे कहते हैं—

"भाद्रपदे मास्याकाशगुणभूयिष्ठ भूम्याश्रितमान्तरिक्षवद्भवतीति तत्पय. पेयम्" इति (डल्हणः)।

अर्थात्—आकाशगुणभूयिष्ठ भूमि में आश्रित जल आन्तरिक्ष जल के गुणों के समान होता है। अतः उस जल को पिलाना चाहिये। कुछ लोग जल को उष्ण करने के बाद शीतल करके पिलाते हैं।

शरद् ऋतु में सभी प्रकार के जल पिला सकते हैं क्यों कि शरद् मे अगस्त्य नक्षत्र के उदय होने से सभी प्रकार के जल शुद्ध हो जाते हैं। शरद् में चौण्ट्य (चोंडे का जल), अनव (पुराना सर तथा तालाव का पानी) तथा अनभिवृष्ट (आन्तरिक्ष जल के सिवा कूप आदि का) जल पिलाना चाहिये। तथा जब पानी बरस रहा होता है तो सभी प्रकार का जल ग्रहण कर सकते हैं किन्तु कथनादि से शुद्ध करके, क्योंकि नूतन जल कौप, ताडाग, सारस इत्यादि सभी जलों में मिला हुआ रहता है। और यह नूतन जल धूलि तथा अन्य वायुमण्डल–स्थित तथा पृथ्वी पर तरह २ के विषों का आश्रय होता है अत उसे शुद्ध करना चाहिये। उसकी विधिका सुश्रुत में इस प्रकार वर्णन मिलता है—

"सप्त कलुषस्य प्रसादनानि भवन्ति तद्यथा—"कतक–गोमेदक–बिसग्रन्थि–शैवालमूल–वस्त्राणि, मुक्ता–मणिश्चेति।

दूषित जल के शुद्ध करने के सात साधन हैं। १–कतक (निर्मली) को चन्दन की भांति घिस कर जल से भरे पात्र में मिला देना।

२–गोमेद (एक प्रकार की मणि) को जल–पात्र में छोड कर फिराना तथा फिर उसी मे गोमेद को भी रहने देना।

३–कमल की जड तथा ४–सेवार को जलमें घुमाना। ५–वस्त्र को कई पर्त करके उससे पानी को छान लेना।

६–मुक्ता तथा ७–मणि (स्फटिक आदि) को जल में घुमाना। इन सात विधियों से जल शुद्ध होता है।

[illegible] बराबर पड़ती हों उसे(२) "अंशूदक" जानना चाहिये । और यह (अंशूदक-सञ्ज्ञक जल)—हितकर, त्रिदोषनाशक, अनभिष्यन्दी (सर्दी नहीं करने वाला), निर्दोष, आकाश के जल के समान गुणों से युक्त, बलकारक, रसायन, मेधा के लिये हितकर, शीतल, लघु एवम् अमृत के समान सुखकारी होता है ॥ ७५–७६ ॥

अन्यच्च—

शरद्यगस्त्येऽभ्युदिते सलिलं सलिलं हितम् ॥ ७७ ॥

अन्य ग्रन्थों में यह और भी कहा हुआ है कि—शरद् ऋतु में अगस्त्य नामक तारा के उदय होने से सभी प्रकार के जल हितकर होते हैं ॥ ७७ ॥

पुनश्चसुश्रुत.—

कार्त्तिके मार्गशीर्षे च जलमात्रं प्रशस्यते ॥ ७८ ॥

पुनः सुश्रुत में भी कहा हुआ है कि—कार्त्तिक तथा अगहन मास में सभी प्रकार के जल हितकारी होते हैं ॥ ७८ ॥

अथ क्वथितशीतजलपानविषयानाह—

दाहातिसारपित्तास्र-मूर्च्छामद्यविषार्त्तिषु । मूत्रकृच्छ्रे पाण्डुरोगे तृष्णाच्छर्दिभ्रमेषु च ।
मद्यपानसमुद्भूते रोगे पित्तोत्थिते तथा । सन्निपातसमुत्थेषु शृतशीतं प्रशस्यते ॥ ७९ ॥

औटा कर शीतल जल पीने के विषय—दाह, अतीसार, पित्तरक्त (पित्त, रक्तविकार), मूर्च्छा, मद्य तथा विष [illegible] पीना, मूत्रकृच्छ्र, पाण्डुरोग, तृष्णा (अधिक प्यास लगना), वमन, परिश्रम, मद्यपान करने से उत्पन्न हुये रोग एवम् [illegible] तथा सन्निपात से उत्पन्न हुये रोग इन सबों में रोगी को औटा कर शीतल जल पीना हितकर होता है ॥ ७९ ॥

इत्यपश्यमपि जलं विषयविशेषे शीतलं विदधित्याह सुश्रुतः—ग्राहेति ॥ ७९ ॥

यहां पर यह और समझना चाहिये कि—"ऋतु के अनुसार औटाये जल को भी विषय-विशेष में (उन दाहादिक रोगों में) शीतल करके पीना चाहिये" यह जो कहा गया है वह सुश्रुत का मत है ॥ ७९ ॥

अथ [illegible] शीतलं [illegible] गुणविशेषमाह सुश्रुत —

[illegible] तच्छ्रितदोषघ्नं यदुष्णं वाऽप्यशीतलम् ।
[illegible] शुचिरुद्धारहजनु । धारापातेन विष्टम्भि दुर्जरं पवनाहतम् ॥ ८० ॥

"[illegible] औटाने में त्रिदोषघ्न होने से [illegible] में भी विशेषता होती है" इसके [illegible] कहते हैं कि—जो औटाया हुआ जल [illegible] [illegible] हो जाता है, वह त्रिदोषनाशक होता है । [illegible] [illegible] ([illegible]) तथा [illegible], तृषा (प्यास) [illegible] धारापात [illegible] [illegible] [illegible] होता है और जो [illegible] होता है ॥ ८० ॥

[illegible] = [illegible] ॥ ८० ॥

[illegible] पानी के बाहर [illegible] ॥ ८० ॥

[illegible]

अन्यच्च—

भिनत्ति श्लेष्मसङ्घातं मारुतं चापकर्षति । अजीर्णं जरयत्याशु पीतमुष्णोदकं निशि ॥ ८१ ॥

और भी कहा हुआ है कि—रात्रि में गर्म जल पीने से जमे हुए कफ का भेदन होता है और वायु का अपकर्षण होता है अर्थात् वायु शान्त होता है, तथा अन्न का अजीर्ण (नहीं पचा हुआ) अश शीघ्र पच जाता है ॥ ८१ ॥

अथात्रापरानपि विशेषानाह—

दिवा शृत पयो रात्रौ गुरुत्वामधिगच्छति । रात्रौ शृतं दिवा पीतं गुरुत्वमधिगच्छति ॥ ८२ ॥
तत्तु पर्य्युषितं वह्निगुणोत्सृष्टं त्रिदोषकृत् । गुर्वम्लपाकं विष्टम्भि सर्वरोगेषु निन्दितम् ॥ ८३ ॥
शृतशीत पुनस्तप्त तोयं विषसमं भवेत् । निर्य्यूहोऽपि तथा शीतः पुनस्तप्तो विषोपमः ॥८४॥

इस विषय की अन्य विशेषताओं को भी कहते हैं कि—दिन में औटाया हुआ जल रात्रि में पीने से गुरुता करने वाला होता है। और रात्रि में औटाया हुआ जल दिन मे पीने से भी गुरुता करने वाला होता है। और औटाया हुआ जल यदि बासी हो तो अग्निगुण के निकल जाने से त्रिदोषकारक, गुरु, विपाक में अम्लरसयुक्त, विष्टम्भकारक एवम् सम्पूर्ण रोगों मे निन्दनीय अर्थात् पीने के अयोग्य होता है। और औटाया हुआ जल यदि शीतल हो जाने पर पुनः गर्म किया जाय जो वह पीने में विष के समान त्याज्य है। इसी प्रकार से क्वाथ भी शीतल होने पर पुनः गर्म करने पर विषतुल्य त्याज्य होता है ॥ ८२–८४ ॥

रात्रौ तूष्णोदकस्य लक्षणमन्यदाह—

अष्टमेनांशशेषेण चतुर्थेनार्द्धकेन वा । अथ वा क्वथनेनैव सिद्धमुष्णोदकं वदेत् ॥ ८५ ॥

रात्रि में तो उष्णोदक के लक्षण अन्य प्रकार से कहे हुये हैं, जो कि ये हैं—रात्रि में यदि गर्म जल तैयार करना हो तो जल को औटा कर आठवा भाग जल अवशिष्ट रहने पर उतार लें अथवा चतुर्थांश जल या आधा जल अवशिष्ट रहने पर उतार ले किं वा केवल उबाल कर उतार ले तो ऐसे जल को पण्डित लोग "उष्णोदक" कहते हैं ॥ ८५ ॥

अथ तस्य गुणानाह—

श्लेष्मानिलाममेदोघ्नं दीपनं वस्तिशोधनम् । श्वासकासज्वरहरं पीतमुष्णोदकं निशि ॥ ८६ ॥

उक्त उष्णोदक के गुण— रात्रि में उक्त रीति से तैयार किया हुआ उष्णोदक पीने से कफ, वायु तथा मेदा का नाश करता है एवम् अग्निदीपक, वस्ति को शुद्ध करने वाला, श्वास, कास तथा ज्वर को दूर करने वाला होता है ॥ ८६ ॥

रात्रावुष्णोदकञ्च तप्तमेव पिबेदित्याह—

उष्ण तदग्निजनन लघ्वच्छं वस्तिशोधनम् ॥ ८७ ॥
पार्श्वरुक्पीनसाध्मानहिक्काऽनिलकफापहम् । शस्त तृट्श्वासशूलेषु सद्यःशुद्धौ नवज्वरे ॥ ८८॥

"रात्रि में उष्णोदक यदि पीना हो तो गर्म रहते ही पीना चाहिये" इसी विषय को दिखलाते हुये कहते हैं कि—वह उष्णोदक यदि गर्म रहते हुये ही पीया जाय तो अग्निप्रदीपक, लघु, स्वच्छ, वस्तिशोधक, एवम् पसुलियों की पीडा, पीनस, आध्मान (अफरा), हिचकी, वायु तथा कफ को नष्ट करने वाला होता है। और तृषा, श्वास, शूल इन सब रोगों में तथा तत्काल जिन्होंने शुद्धिकर्म (वमन-विरेचनादिक) किये हों या जिन्हें नवीन ज्वर हो उन सबों के लिये भी उत्तम होता है॥८७–८८॥

अपक्वशीतलजलपानस्य विषयविशेषमाह सुश्रुत —

मूर्च्छापित्तोष्णदाहेषु विषे रक्ते मदात्यये । भ्रमश्रमपरीतेषु तमके श्वयथौ तथा ॥ ८९ ॥
धूमोद्गारे विदग्धेऽन्ने शोषे च मुखकण्ठयोः । ऊर्ध्वगे रक्तपित्ते च शीतलाम्बु प्रशस्यते ॥ ९० ॥

अपक्व (विना औटाया हुआ) शीतल जल पीने के विषय-विशेष (रोग–विशेष) के विषय में सुश्रुत महर्षि यह कहते हैं कि—मूर्च्छा, पित्त तथा उष्णता की अधिकता, दाह, विष तथा रक्तसम्बन्धी विकार, मदात्यय रोग, भ्रम, श्रम, तमक श्वास, शोथ, धुयें की (धुआइन) डकार, भोजन की विदग्ध अवस्था, मुख तथा कण्ठ का शोष, ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त इन सब रोगों में रोगी को विना औटाया हुआ शीतल जल पिलाना उत्तम होता है ॥ ८९–९० ॥

*शीतलं जलमाममेव न तु क्वथित, क्वथितन्तु शीत दाहादिषु यदुक्तं, तत् सज्वरेषु, विज्वरेषु तु दाहादिष्वामं शीतं प्रशस्यत इति भेदः ॥ ८९-९० ॥

यहां पर यह और समझना चाहिये कि—यहां "शीतलाम्बु (शीतल जल)" पद से शीतल जल का ही ग्रहण किया जाता है न कि औंटाकर शीतल किये हुये जल का, और पूर्व में जो औंटाकर शीतल जल देने को दाहादिकों में कहा गया है उसे ज्वरयुक्त दाहादिकों के लिये समझना चाहिये, ज्वर रहित दाहादिकों में तो कच्चा ही शीतल जल उत्तम होता है यही इतना भेद यहां पर है ॥ ८९-९० ॥

[आमादिजलानां जठराग्निना पाककालावधिमाह—

आमं जलं पाकमुपैति यामे पक्वं पुनः शीतलमर्द्धयामम् ।
पक्वं कदुष्णञ्च ततोऽर्द्धकालात् त्रयः सुपीतस्य जलस्य पाके ॥ ९१ ॥

जठराग्नि द्वारा पूर्वोक्त आम (बिना औंटाया हुआ) आदिक जलों के परिपाक काल की सीमा के विषय में कहते हैं कि—आम (बिना औंटाया हुआ) शीतल जल पीने पर एक प्रहर में पचता है, और औंटाकर शीतल किया हुआ जल आधा प्रहर (१॥ घंटे) में पचता है तथा औंटाया हुआ [illegible] जल औंटाकर शीतल किये हुये जल की अपेक्षा आधे समय अर्थात् चतुर्थांश प्रहर (पौन [illegible]) में ही पचता है । इस भांति पीये हुये जल के पचने में तीन प्रकार के काल कहे हुये हैं ॥ ९१ ॥

अथ रोगविशेषे [illegible]—

पित्तमद्यविषार्त्तेषु तिक्तकं शृतशीतलम् ॥ ९२ ॥

रोगविशेष में जल का [illegible] करने के विषय में कहते हैं कि—पित्त, मद्य तथा विष सम्बन्धी पीड़ा में रोगी को तिक्त द्रव्य के साथ औंटाकर शीतल किया हुआ जल देना हितकर होता है ॥ ९२ ॥

दद्यादिति हितमिति शेषः ॥ ९२ ॥

यहां पर [illegible] यह अर्थ ऊपर से समझना चाहिये, क्योंकि मूल में इसके लिये कोई पद नहीं कहा हुआ है ॥ ९२ ॥

अथ [illegible] योगमाह [illegible]—

कुस्तुम्बरुपर्पटकोशीरघनदुरालभाऽऽयोशीरचन्दनैः । शृतं शीतं जलं दद्यात्तृड्दाहज्वरशान्तये ॥९३॥

[illegible] सुश्रुत महर्षि द्वारा [illegible] कहते हैं कि—नागरमोथा, पित्तपापड़ा, [illegible], धनियां, खस और चन्दन इन सबों के साथ औंटाकर शीतल किये हुये जल को प्यास, दाह तथा ज्वर की शान्ति के लिये देना चाहिये ॥ ९३ ॥

[illegible] । यत आह निघण्टौ धन्वन्तरिः—

"कुस्तुम्बुरु [illegible]" इत्यादि ॥ ९४ ॥

[illegible]

[illegible]

[illegible] ॥ ९५ ॥ इत्यादि ।

[illegible]

[illegible] ॥ ९६ ॥

[illegible] ॥ ९६ ॥

[illegible]

वह विपाक में मधुर रसयुक्त होता है, अतः ज्वर में उसका प्रयोग करना अनुचित नहीं है और कोई वैद्य यह कहते हैं कि—यहां पर "नागर" से "नागरमोथा" का बोध करना चाहिये क्योंकि कहीं २ पर नाम के एकदेश से भी सम्पूर्ण नाम का बोध किया जाता है जैसे "भीम" कहने से "भीमसेन" इस नाम का बोध होता है॥ २८॥

*चन्दनैरित्यत्र सहार्थे तृतीया। तेन मुस्तादिभिः षड्भिरामैरेव क्षुण्णैः सहितं जलं शृतं जलमेव यथर्त्तुपक्कं पश्चात्तच्छीतलीकृतं दद्यात्। तथा च वङ्गसेनः—

यदप्सु शृतशीतासु षडङ्गादि प्रयुज्यते। कर्षमात्र ततो द्रव्यं ग्राहयेत्प्रास्थिकेऽम्भसि॥ २९॥

और पूर्वोक्त ९३ सङ्ख्यक श्लोक मे "चन्दनैः" इस पद में सहार्थ मे तृतीया है। अतः मोथा आदिक ६ द्रव्यों को कच्चे ही खून लेवें तत्पश्चात् ऋतु के अनुसार औटाये हुये केवल जल को शीतल करके उक्त द्रव्यों के साथ देवे। और इसी विषय में "वङ्गसेन" ने भी स्पष्टरूप से यह कहा है कि—औटाकर शीतल किये हुये जल मे जो षडङ्गादि मोथा आदि द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है। अतः वहां पर द्रव्य १ कर्ष (१ तो०) लेकर १ प्रस्थ (६४ तोले) जल में डालना चाहिये॥ २९॥

*अस्यायमर्थः—यद्यस्माद्धेतोरप्सु जले शृतशीतासु शृतासु केवलास्वेव यथर्त्तुपक्कासु शीतासु तासु शीतलीकृतासु षडङ्गादि द्रव्य प्रयुज्यते, आममेव संक्षुद्य जले स्थाप्यते ततः प्रक्षेप्यत्वात् कर्षमात्र द्रव्यं समुचितं षडङ्गादि, प्रास्थिकेऽम्भसि प्रस्थमात्रे क्वथितशीतले जले क्षेप्तु ग्राहयेत्॥ २९॥

यहां पर इसका यह स्पष्ट अर्थ समझना चाहिये कि—जब कि ऋतु के अनुसार पूर्वोक्त रीति से औटाकर शीतल किये हुये ही जल मे षडङ्गादि मोथा आदिक द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है अत एव कच्चे ही उक्त षडङ्गादि मोथा आदिक द्रव्यों को खून कर उक्त जल में भिगोने के लिये डाल देना चाहिये। और यहां पर षडङ्गादिद्रव्यों का प्रक्षेप किया जाता है अत एव उन सबों की मात्रा मिलकर १ कर्ष (१ तो०) की होनी उचित है तथा प्रथम ही औटाकर शीतल किये हुये १ प्रस्थ (६४तो०) जल मे भिगोने के लिये उन सबों को डालना चाहिये पश्चात् कुछ देर बाद छानकर देना चाहिये॥२९॥

*अत एव षडङ्गमभिधाय षडङ्गपानीयमिति वङ्गसेनादिभिरुक्तम्; अस्मिन् पक्षे चन्दनं श्वेतमेव ग्राह्य न तु रक्तं, तत्कषायलेपयोरेव प्रयोक्तुमुक्तम्। यत आह—

कषायलेपयोः प्रायो युज्यते रक्तचन्दनम्॥ ३०॥ इति॥

और यहां पर वङ्गसेनादिकने षडङ्ग पद का प्रयोग करके इसका नाम "षडङ्गपानीय" कहा है अर्थात् इन्हे क्वाथ करना अभीष्ट नहीं है। और मोथा आदिक ६ द्रव्य सत्कार करने मे अङ्ग हैं जिसमें, ऐसे योग को "षटङ्ग" कहते हैं। और इस पक्ष में यहां पर "चन्दन" पद से "सफेद चन्दन" का ग्रहण करना चाहिये न कि "लाल चन्दन" का क्योंकि इसका प्रयोग क्वाथ तथा लेप मे ही करने को कहा गया है, जैसा कि अन्यत्र कहा हुआ है कि "क्वाथ तथा लेप में प्राय. लाल चन्दन का ही प्रयोग करना उचित है"॥३०॥

*षडङ्गपानीयमिदं षडङ्गादेः पानेऽनुविधातव्ये प्रक्रिया विहिता महावङ्गसेनेन—

कर्षमात्र तथा द्रव्यं ग्राहयेत्प्रास्थिकेऽम्भसि। अर्द्धशृतं प्रयोक्तव्य पाने पेयाऽऽदिसविधौ॥३१॥

यह "षडङ्गपानीय" की प्रक्रिया हुई, और जहां पर षडङ्गादि का क्वाथ करके पीना हो वहां पर निम्नलिखित प्रक्रिया "महावङ्गसेन" ने कही है जो कि यह है कि—एक कर्ष (१ तो०) खुने हुये द्रव्य को लेकर १ प्रस्थ (६४ तो०) जल में डालकर क्वाथ बनाना चाहिये, जब आधा जल अवशिष्ट रह जाय तब उसे उतार लेवें तत्पश्चात् छान कर कार्य में लेना चाहिये, यह विधि क्वाथ तथा पेया आदि के बनाने मे समझनी चाहिये॥ ३१॥

*आदिशब्देन यूष यवागू-विलेपी-भक्तानि गृह्यन्ते॥ ३१॥

यहां पर "आदि" पद से "जूस, यवागू, विलेपी तथा भात" का ग्रहण किया जाता है॥ ३१॥

*पानप्रक्रियां शार्ङ्गधरोऽप्येतामेवाह—

क्षुण्ण द्रव्य पल साध्य चतुःषष्टिपले जले। अर्द्धशिष्टन्तु तद्देय पाने पेयाऽऽदिसंविधौ॥३२॥

और "शार्ङ्गधर" ने भी पान (पीने के लिये क्वाथ) बनाने के लिये इसी प्रक्रिया को कहा है—खुने हुये १ पल (४ तो०) द्रव्य को ६४ पल (२५६ तो०) जल में डालकर पकाना चाहिये, जब आधा जल शेष रहजाय तब उसे कार्य में लेवें, यही प्रकार पेया आदि बनाने में समझना चाहिये॥३२॥

पानप्रयोगश्च षडङ्गमुक्तवान्। अस्मिन् पदे चन्दनं रक्तं ग्राह्यम् ॥ ३२ ॥

यहां पर यह और भी समझना चाहिये कि—जहां पर पान का प्रयोग है वहां पर षडङ्ग मोथा आदि द्रव्य डालने के लिये कहा है, अतः क्वाथ बनाने का पक्ष होने से चन्दन पद से रक्त चन्दन का ही ग्रहण करना चाहिये ॥ ३२ ॥

"कषायलेपयोः प्रायो युज्यते रक्तचन्दनम्" इति वचनात्।

तथा च रक्तचन्दनस्य गुणाः—

रक्तं हिमं स्वादुपाकं छर्दितृष्णाऽस्रपित्तजित्। तिक्तं नेत्रहि[illegible] ज्वरव्रणविषापहम् ॥३३॥

क्योंकि—"कषाय (क्वाथ) तथा लेप में प्रायः रक्तचन्दन का ही ग्रहण करना उपयुक्त होता है" ऐसा वचन शास्त्र में मिलता है, तथा रक्तचन्दन के निम्नलिखित गुण भी मिलते हैं, जिससे उसका ग्रहण करना आवश्यक है। रक्तचन्दन के गुण—रक्तचन्दन—शीतल, विपाक में मधुररसयुक्त तथा वमन, तृष्णा तथा रक्तपित्त को नष्ट करने वाला, तिक्तरसयुक्त, नेत्रों के लिये हितकर, वीर्यवर्द्धक होता है और ज्वर, व्रण तथा विष को दूर करने वाला है ॥ ३३ ॥

षडङ्गादि प्रयुञ्जीत इत्यादिशब्देन वक्ष्यमाणा योगा उच्यन्ते। यथा—

श्रीपर्णीचन्दनोशीरसमधूकपरूषकम् ॥ ३४ ॥

और पूर्वोक्त टीका के ३० वें श्लोक में "षडङ्गादि" इस पद के अन्तर्गत "आदि" पद से आगे कहे जाने वाले योगों का भी ग्रहण किया जाता है। जैसे कि—गम्भारी (गम्भारी का फल), चन्दन, खस, महुवे का फूल, फालसा (फालसे का फल) इनका पानक षडङ्गपानीय की भांति बनाया जाता है, और इन द्रव्यों का पानक पित्तज्वर को नष्ट करने वाला होता है। यह प्रथम योग है ॥३४॥

अत्र श्रीपर्णीपरूषकयोः फलं ग्राह्यं मधूकस्य तु पुष्पम् ॥ ३४ ॥

यहां पर "गम्भारी तथा फालसे" के कहने से उनके फल का ही ग्रहण करना चाहिये तथा "महुवे" के कहने से उसके फूल का ही ग्रहण करना चाहिये ॥ ३४ ॥

पानं पित्तज्वरं हन्यात् सारिवाऽऽद्यं सशर्करम् ॥ ३५ ॥

इसी भांति सारिवाऽऽदिगणपठित (अनन्तमूल, खस, गम्भार, महुवे व लाल चन्दन, मुलेठी, फालसा) द्रव्यों का पानक बनाकर उसमें शर्करा मिला कर पिलाने से पित्तज्वर नष्ट होता है। यह द्वितीय योग है ॥ ३५ ॥

अन्यच्च—

[illegible]पूर्वकम्। पाने [illegible] शर्करायुतम् ॥ ३६ ॥

और भी कहा है कि—[illegible] (मुलेठी) और [illegible] पूर्वोक्तोंमें से [illegible] पानक [illegible] पित्तज्वर नष्ट होता है। [illegible] (चीनी) मिलाकर पानक बनाया [illegible] पित्तज्वर नष्ट होता है। यह [illegible] है ॥ ३६ ॥

[illegible] ॥ ३६ ॥ [illegible] ॥

[illegible]

[illegible]

[illegible]

अथ दिवाशयनार्हजनानाह—

व्यायामप्रमदाऽध्ववाहनरतान् क्लान्तानतीसारिणः—
शूलश्वासवमीतृपापरिगतान्हिक्कामरुत्पीडितान् ॥
क्षीणान्क्षीणकफाञ्छिशून्मदहतान्वृद्धांस्तथाऽजीर्णिनो—
रात्रौ जागरितान्नराञ्निरशनान्काम दिवा स्वापयेत् ॥ ९६ ॥

दिन मे सोने के लिये योग्य लोग—जो लोग व्यायाम (कसरत) करने वाले, स्त्री सग करने वाले, रास्ता चलने वाले, घोडे आदि की सवारी करने वाले तथा परिश्रम से थके हुये हों अथवा अतीसार, शूल, श्वास, वमन, तृषा इन रोगों से युक्त हों कि वा हिचकी तथा वायु से पीडित हों या क्षीण धातु वाले हों वा जिन लोगों का कफ क्षीण हो गया हो अथवा जो बालक, नशा से भरे हुये तथा वृद्ध हों वा जिन्हें अजीर्ण हो गया हो या रात्रि में जागरण किये हों कि वा जिन्होंने लङ्घन किया हो, ऐसे लोगों को उनके इच्छाऽनुसार दिन में सुलाना हितकर होता है ॥ ९६ ॥

अथ वातिकादिज्वराणां पाकावधिमाह—

वातिकः सप्तरात्रेण दशरात्रेण पैत्तिकः । श्लैष्मिको द्वादशाहेन ज्वरः पाकमुपैति हि ॥ ९७ ॥

वातादि से उत्पन्न हुये ज्वरों में दोषों के परिपक्व होने की अवधि—वातज्वर सात ७ दिन मे पचता है, पित्तज्वर दश १० दिन में और कफज्वर बारह २ दिन में पचता है ॥ ९७ ॥

*रसस्यामत्वे अवधिमतिक्रम्यापि ज्वरस्तिष्ठति । यत आह सुश्रुतः—

बहुदोषस्य मन्दाग्नेः सप्तरात्रात्परं ज्वरे । लङ्घनाम्बुयवागूभिर्यदा दोपो न पच्यते ॥
तदा तं मुखवैरस्यतृष्णाऽरोचकनाशनैः। कषायः पाचनैर्हृद्यैर्ज्वरघ्नैः समुपाचरेत् ३७ इति॥९७॥

यहा पर यह और भी समझना चाहिये कि—यदि रस की आमता (कच्चापन) बना रहै तो उक्त वातादिजन्य ज्वरों की अवधि समाप्त होने पर भी ज्वर बना रहता है । क्योंकि सुश्रुत ने कहा है कि—दोष की अधिकता तथा अग्नि की मन्दता होने से जिसका ज्वर सात ७ दिन के बाद भी बना रहै तथा लङ्घन एव उष्ण जलपान तथा यवागू खिलाने पर भी दोष का परिपाक न हो तो उस समय मुख की विरसता, तृषा (प्यास) तथा अरुचि को दूर करने वाले, दोषों को पचाने वाले, हृदय के लिये हितकारी, ज्वरनाशक क्वाथों के द्वारा उसका उपचार करना चाहिये । (३७) ॥ ९७ ॥

अथ ज्वरस्य तारुण्यमध्यावस्थाजीर्णताऽवधिमाह—

आ सप्तरात्रात्तरुण ज्वरमाहुर्मनीषिणः । द्वादशाहमभिव्याप्य मध्यं जीर्णं ततः परम् ॥ ९८ ॥

ज्वर की तरुण तथा मध्य अवस्था एवम् जीर्ण अवस्था की अवधि—"सात दिन के पूर्व ज्वर की तरुण अवस्था रहती है उसके बाद बारह १२ दिन तक मध्य अवस्था तदुपरान्त ज्वर की जीर्ण अवस्था होती है" ऐसा वैद्य लोग कहते हैं ॥ ९८ ॥

*आ सप्तरात्रादिति । अत्राङ् मर्यादायां रात्रिशब्दो दिवसस्योपलक्षकः । तेन सप्तदिवसादर्वाग् ज्वरस्तरुण इत्यर्थः । तथा चोक्तं तन्त्रान्तरे—

ज्वरे व्यतीते षडहे जीर्णं इत्युच्यते बुधैः । द्वादशाहात्परं जीर्णमाहुरन्ये मनीषिणः ३८ इति ।

यहाँ पर "आ सप्तरात्रात्" इस पद में "आ (आङ्)" पद मर्यादा अर्थ में है तथा "रात्रि" शब्द "दिन" का उपलक्षक है अर्थात् दिन को लक्ष्य करके प्रयोग किया गया है । अत एव "सात दिन के पूर्व ज्वर की तरुण अवस्था रहती है" यह अर्थ किया गया है । और तन्त्रान्तरों में भी कहा है कि—"छ ६ दिन बीत जाने पर ज्वर जीर्ण कहलाता है" ऐसा पण्डित लोग कहते हैं । और अन्य कोई २ पण्डित यह भी कहते हैं कि—१२ बारह दिन के बाद ज्वर जीर्ण कहलाता है ।। ३८ ॥

*अत एव जातूकर्णः—"जीर्णस्त्रयोदशे दिवसे" इति । अथ ज्वरे युञ्जीत भेपजम् ॥ ९८ ॥

यहाँ पर यह और समझना चाहिये कि—अत एव जातूकर्ण ने भी कहा है कि—१३ वें दिन ज्वर जीर्ण कहलाता है । अतः तदुपरान्त ज्वर में औषध देना उचित होता है ॥ ९८ ॥

अथ ज्वरौषधदानसमयमाह—

वातिके सप्तरात्रेण दशरात्रेण पैत्तिके । श्लैष्मिके द्वादशाहेन ज्वरे युञ्जीत भेपजम् ॥ ९९ ॥

ज्वर में औषध देने का समय—वातजन्य ज्वर मे ७ वें दिन, पित्तज्वर में १० दिन और कफजन्य ज्वर में १२ दिन व्यतीत होने पर औषध देना चाहिये ॥ ९९ ॥

सप्तरात्रेऽत्र रात्रिशब्दो दिवसस्योपलक्षकः। अत एवोक्तम्—

पाचयेदातुरं वाममौषधं सप्तमे दिने। शमनेनाथ वा दृष्ट्वा निरामं तमुपाचरेत्॥ इति॥ ३९॥

यहां पर यह और समझना चाहिये कि—"सप्तरात्रेण" इस पद में "रात्रि" शब्द "दिन" का उपलक्षक है। इस पर अन्यत्र कहा हुआ है कि—यदि वातज्वर वाले रोगी की सामावस्था हो अर्थात् रोग का परिपाक न हुआ हो तो सातवें ७ वें दिन उसे औषध देना चाहिये। अथवा रोगी को निराम (आम दोष से रहित) अवस्था यदि दिखाई पड़े तो शमन (दोषों का शमन करने वाली) औषधि के द्वारा उसका उपचार करना चाहिये॥ ३९॥

शार्ङ्गधरेणोक्तम्—

गुडूचीपिप्पलीमूलनागरैः पाचनं स्मृतम्। वातज्वरे तथा पेयं क्वथितं सप्तमेऽहनि॥ इति॥ ४०॥

शार्ङ्गधर ने भी कहा है कि—वातज्वर में रोगी को सातवें दिन गिलोय, पिपरामूल, सोंठ और इनकी इन का पाचन (दोषों को पचाने वाला) क्वाथ पीने के लिये देना चाहिये॥ ४०॥

हारीतेनोक्तम्—

पूर्वां क्रियां प्रकुर्वीत षडात्रं सप्तमेऽहनि। विरेककषायसंयोगात्पेयां ज्वरविनाशिनीम्॥ ४१॥

हारीत ने भी कहा है कि—ज्वररोगी के लिये इस उपवास आदि क्रिया को ६ छः दिन रात्रि तक करना चाहिये, इस के बाद सातवें दिन से यथोचित दोषनाशक औषधियों के क्वाथ से बनाई गई ज्वरनाशक पेया पिलानी चाहिये॥ ४१॥

पूर्वां क्रियां लङ्घनादिरूपां कषायसंयोगात् कषायेण साधितां पेयामित्यर्थः॥ ४१॥

यहां पर "पूर्वां क्रियाम्" इन पदों का "लङ्घन (उपवास) आदिक क्रिया को" और "कषायसंयोगात्" इस पद का "यथोचित दोषनाशक औषधियों के क्वाथ से बनाई गई" यह अर्थ समझना चाहिये॥ ४१॥

चरकेनाप्युक्तम्—

इति षड्भिः प्रोक्तो नवज्वरहरो विधिः। ततः परं पाचनीयं शमनीयं ज्वरे हितम्॥ ४२॥

चरक ने भी कहा है कि—इस प्रकार से प्रारम्भ में केवल ६ छः रात्रि (दिन) तक नवीन ज्वर के दूर करने वाली विधियां कही गईं, उनके बाद ज्वर के काल में प्रयोग करने योग्य अवस्थानुसार पाचन अथवा शमन औषध देना हितकर होता है॥ ४२॥

ततो ज्वरमध्ये करणीयमित्यर्थः॥ ४२॥

यहां पर "ततो" पद का "ज्वर के मध्य में प्रयोग करने योग्य" यह अर्थ समझना चाहिये॥ ४२॥

वाग्भटोऽप्याह—

सप्ताहादौषधं केचिदाहुरन्ये दशाहतः। लघ्वन्ने भोजिने केचिद्देयमामोल्बणे न तु॥ ४३॥

और वाग्भट ने भी कहा है कि—कुछ वैद्यों ने सातवें दिन से औषध देना कहा है, और इनसे अन्य [illegible] वैद्यों ने दसवें दिन [illegible] लघु अन्न पर [illegible] औषध देना कहा है। किन्तु आमदोष का आधिक्य रहने पर तो [illegible] औषध नहीं देनी चाहिये॥ ४३॥

[illegible] ॥ ४३॥

[illegible] ॥ ४३॥

[illegible] आह—

[illegible] ॥ ४४॥ इति॥

[illegible] ॥ ४४॥

[illegible] ॥ ४५॥

[illegible] ॥ ४५॥

*अत्र चरकस्त्वेवमाह—

ज्वरितं षडहेऽतीते लघ्वन्नप्रतिभोजितम् । पाचनं शमनीयं वा कषायं पाययेत्तु तम् ॥ ४५ ॥

इस विषय में चरक महर्षि तो इस प्रकार कहते हैं कि—ज्वर रोगी को जब ६ दिन तक लङ्घन करते हुए हो जायँ तब उसे लघु अन्न भोजन कराकर पाचन अथवा शमन क्काथ पिलाना चाहिये ॥ ४५ ॥

*अस्यायमर्थः-ज्वरितं षडहे लङ्घनेन व्यतीते सप्तमेऽहनि लघ्वन्नं दत्त्वा, अष्टमे दिने कषायं पाययेदित्यर्थः ॥ ४५ ॥

यहां पर इसका स्पष्ट अर्थ यह समझना चाहिये कि—ज्वर रोगी को लङ्घन (उपवास) करने से ६ दिन व्यतीत होने पर ७ वें दिन लघु अन्न जूस आदिक खिलाकर ८ वें दिन पाचन वा शमन रूपी क्काथ पिलाना चाहिये ॥ ४५ ॥

*तथा च सुश्रुतः—

सप्तरात्रात्परं केचिन्मन्यन्ते देयमौषधम् ॥ ४६ ॥ इति ॥

और इसी विषय में सुश्रुत भी कहते हैं कि—कोई २ महर्षि "सात दिन के बाद ज्वर रोगी को औषध देना चाहिये" इस मत को मानते हैं ॥ ४६ ॥

*सप्तरात्रात् परम्=अष्टमेऽहनीत्यर्थः । केचिच्चरकादयः ॥ ४६ ॥

यहां पर "सप्तरात्रात्परम्" इन पदों का "सात दिन के बाद अर्थात् आठवें दिन" और "केचित् पद का "कोई २ म [illegible] अर्थात् चरकादिक" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ४६ ॥

*चक्रदत्तोऽपि—

सप्तरात्रेण पच्यन्ते सप्तधातुगता मलाः । निरामस्तु ततः प्रोक्तो ज्वरः प्रायोऽष्टमे दिने ॥४७॥

और चक्रदत्त भी कहते हैं कि—"सात दिन में रस रक्तादि ७ धातुओं में स्थित मल का परिपाक होता है, अत. इसके बाद आठवें दिन प्रायः ज्वर आमदोष रहित होता है" ऐसा आयुर्वेदज्ञ ऋषियों ने कहा है ॥ ४७ ॥

*एवं सति कषायदाने सप्तमाष्टमयोर्दिवसयोर्विकल्पः । तत्रापि वयोबलाग्निदोषदेश-कालोचितं कुर्यात् । भेषजमन्नञ्च दोषपाकं दृष्ट्वा दद्यादित्याह सुश्रुतः—

पैत्तिके च ज्वरे देयमल्पकालसमुत्थिते । अचिरज्वरितस्यापि भैषज्यं दोषपाकतः ॥४८॥ इति ।

इस प्रकार क्काथ देने के विषय में अनेक मत होने पर यही स्थिर हुआ कि—क्काथ देने मे सातवां या आठवा दिन उत्तम है । उसमें भी रोगी की अवस्था, बल, अग्नि, दोष, देश तथा काल के अनुसार जो उचित हो उसे करना चाहिये । और "दोषों के परिपाक को देखकर अर्थात् वस्तुतः जभी दोषों का परिपाक हो तभी औषध तथा अन्न देना चाहिये" इसी विषय को सुश्रुत ने भी कहा है कि—रोगी को थोडे समय मे उत्पन्न हुये पैत्तिक ज्वर में तथा थोडे समय से उत्पन्न हुए अन्य ज्वरों में भी दोष के पाक होने पर ही औषध देना चाहिये ॥ ४८ ॥

*अस्यायमर्थः—अल्पकालसमुत्थिते पैत्तिके ज्वरे दोषपाकं दृष्ट्वा भैषज्यं देयं न तु तत्र दशरात्रापेक्षा, तथा अचिरज्वरितस्यापि पैत्तिकेतरनवज्वरयुक्तस्यापि दोषपाकं दृष्ट्वा भैषज्यं देयमित्यर्थः ॥ ४८ ॥

इसका स्पष्ट अर्थ यह समझना चाहिये कि—थोडे समय से उत्पन्न हुए पैत्तिक ज्वर में दोष के पाक को देख कर अर्थात् जब दोष का पाक हो तब रोगी को औषध देना चाहिये, उस समय दश दिन व्यतीत हुआ या नहीं हुआ इसकी अपेक्षा नहीं रखनी चाहिये । और इसी भांति थोडे समय से उत्पन्न हुये अन्य ज्वरों से युक्त वाले अर्थात् पैत्तिक ज्वर से अन्य नवीन ज्वर वाले रोगी को भी दोष के पाक को देखकर औषध देना चाहिये ॥ ४८ ॥

*अथ दोषपाकलक्षणमाह सुश्रुतः—

मृदौ ज्वरे लघौ देहे प्रचलेषु मलेषु च । पक्वं दोषं विजानीयाज्ज्वरे देयं तदौषधम् ॥४९॥ इति ॥

अब सुश्रुतोक्त दोषपाक के लक्षण कहते हैं—"जब रोगी का ज्वर कम हो जाय, शरीर मे हलकापन मालूम हो, वातपित्त, कफ, मूत्र तथा विष्ठा ये सब मल अपने २ मार्ग मे यथोचित सञ्चार करने लगें तब दोष परिपक्व अर्थात् आम से रहित हो गया ऐसा समझना चाहिये । और तभी उस समय ज्वर में रोगी को औषध देना चाहिये ॥ ४९ ॥

Cज्वरे मृदौ = स्वल्पीभूते । मलेषु = वातपित्तकफमूत्रपुरीषेषु । प्रचलेषु = स्वमार्गसञ्चारिषु । पक्वं = निरामम् ॥ ४९ ॥

यहाँ पर "ज्वरे मृदौ" पदों का "रोगी का ज्वर कम हो जाय" यह अर्थ समझना चाहिये । तथा "मल" पद से "वात, पित्त, कफ, मूत्र तथा विष्ठा" का ग्रहण किया गया है, यह समझना चाहिये । "प्रचलेषु" पद का "अपने २ मार्ग में यथोचित सञ्चार करने लगें" और "पक्वम्" पद का "निराम अर्थात् आम से रहित" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ४९ ॥

§"दोषप्रकृतिवैकृत्यादेतेषां पक्वलक्षणम् ॥ ५० ॥

और कोई लोग यह भी कहते हैं कि—दोषों की प्रकृति में विकृति हो जाने से भी इनके (दोषों के) परिपाक होने का लक्षण समझना चाहिये ॥ ५० ॥

Cदोषाणां = दुष्टवातपित्तकफानां, प्रकृतिः = ज्वरस्य तदुपद्रवाणां चोत्पादनम् , तस्या वैकृत्यं = वैपरीत्यं तस्माद्दोषपाकज्ञानम् ॥ ५० ॥

इसका स्पष्ट अर्थ यह समझना चाहिये कि—अपने २ कारणों से दुष्ट हुये जो वात, पित्त तथा कफ ये दोष हैं इनकी जो ज्वर तथा ज्वर के उपद्रवों को उत्पन्न करने की प्रकृति (स्वभाव) है उनकी जो विकृति अर्थात् उस स्वभाव के विपरीत हो जाना है, उससे दोषों के परिपाक का ज्ञान करना चाहिये ॥ ५० ॥

Cकेषांचिद् मते एवम्—

क्षुत्क्षामता लघुत्वञ्च गात्राणां ज्वरमार्दवम् । दोषप्रवृत्तिरुत्साहो निरामज्वरलक्षणम् ॥ ५१ ॥

और किन्हीं लोगों के मत में इस प्रकार भी है कि—भूख लगना, शरीर की क्षीणता तथा हल्कापन, ज्वर की कमी, दोषों का अपने २ मार्ग में सञ्चार करना और उत्साह ये सब लक्षण जब मालूम हों तब ज्वर "निराम" अर्थात् आम रहित हो गया, यह समझना चाहिये ॥ ५१ ॥

Cदोषप्रवृत्तिः = दोषाणां स्वमार्गसञ्चारः (५१) इति ॥ ९९ ॥

यहाँ पर "दोषप्रवृत्ति" पद का "दोषों का अपने २ मार्ग में सञ्चार करना" यह अर्थ समझना चाहिये (५१) ॥ ९९ ॥

ज्ञेयः पञ्चविधः कालो भैषज्यग्रहणे नृणाम् ॥ १०० ॥

यत्राऽनुक्तं प्रभाते स्यात्कषायेषु विशेषतः । गुरुभैषज्यमत्यन्तो निषिद्धस्तरुणज्वरे ॥ १०१ ॥

मनुष्यों (रोगियों) के लिये औषध ग्रहण काल के ५ प्रकार का समय कहा हुआ है, उनमें से जहाँ पर औषध ग्रहण करने के लिए किसी समय का निर्देश न हो तो वहाँ पर प्रातःकाल औषध [illegible] चाहिये, और [illegible] देना हो तो वहाँ पर विशेष रूप से प्रातःकाल [illegible] और तरुण ज्वर में गुरु औषध का देना निषिद्ध है ऐसा [illegible] ॥ १००-१०१ ॥

Cगुरुभैषजं [illegible] = पाचनम् । [illegible]—

न कषायं प्रयुञ्जीत नराणां तरुणे ज्वरे । कषायेणाकुलीभूता दोषा जेतुं सुदुस्तराः ॥ ५२ ॥

[illegible]

[illegible] = [illegible] परिपाकः [illegible] । [illegible]

[illegible] (५२) ॥ १००-१०१ ॥

[illegible]

[illegible] ॥ १०२ ॥

[illegible]

का प्रयोग किया जा सकता है वहा पर कोई दोष नहीं है। भाव यह है कि जिस प्रकार जल का संस्कार करने के लिये मोथा आदिक के साथ षटङ्ग पानीय बनाकर उसे नवीन ज्वर में पिलाया जाता है तथा जिस प्रकार विशेष २ ओषधियों के साथ पेया, यवागू आदिक पका कर पिलाया जाता है उस प्रकार से नवीन ज्वर मे औषध देने मे कोई हानि नहीं होती है ॥ १०२ ॥

***तोयपेयाऽऽदिसंस्कारैर्निर्दोष तत्र भेषजमिति । तत्र=तरुणज्वरे मुख्यभेषजं क्वाथ-रूपं, न तु कल्पनमुद्दिश्य कषायः प्रतिषिध्यत इति। कल्पन तोयपेयायवाग्वादिकम् ।**

ननु—

स्वरसश्च तथा कल्कः क्वाथश्च हिमफाण्टकौ। ज्ञेयाः कषायाः पञ्चैते लघवः स्युर्यथोत्तरम् ॥५४॥

यहा पर "तत्र" पद का "नवीन ज्वर में", तथा "भेषज" पद का "मुख्य औषध अर्थात् क्वाथ" अर्थ समझना चाहिये। और उसी क्वाथ का नवीन ज्वरमें देना निषिद्ध समझना चाहिये, न कि कल्पना के उद्देश्य से बने हुये क्वाथ का देना निषिद्ध समझना चाहिये। यहा पर "कल्पना" पद से षडङ्ग पानीय, पेया और यवागू आदि का ग्रहण करना चाहिये अत. इनके बनाने के लिये जो क्वाथ बनता है उस क्वाथ का निषेध नहीं समझना चाहिये।

अब यहां पर यह शङ्का होती है कि—"स्वरस, कल्क, क्वाथ, हिम तथा फाण्ट ये पॉच कषाय कहलाते हैं और ये उत्तरोत्तर एक दूसरे की अपेक्षा लघु होते हैं" ॥ ५४ ॥

***इति वचनात्स्वरसादयोऽपि कथं न निषिध्यन्ते, तत्राह—**

यः कषायः कषायः स्यात्स वर्ज्यस्तरुणज्वरे ॥ ५५ ॥ इति

इस वचन से कषायपदवाच्य क्वाथ की भांति स्वरसादिकों का भी नवीन ज्वर में निषेध क्यों नहीं किया जाता है, इस शका का निवारण करने के लिये अन्यत्र यह कहा हुआ है कि—

जो कषायपदवाच्य कषाय अर्थात् क्वाथ है उसीका निषेध नवीन ज्वर में समझना चाहिये कि कषायपदवाच्य स्वरसादिक का भी निषेध समझना चाहिये ॥ ५५ ॥

***चतुर्थभागावशेषकरणेन, अष्टमभागावशेषकरणेन च कषायवर्णः कषायरसश्च स्यात्। स कषायः क्वाथः, स तरुणज्वरे निषिद्धः ॥ ५५ ॥**

क्वाथस्य लक्षणमाह—

***पादशिष्टः कषायः स्याद् यः षोडशगुणाम्भसा। क्वथितोऽतः षडङ्गादिर्न निषिद्धो नवज्वरे॥५६॥**

यहा पर इस श्लोक का यह भाव समझना चाहिये कि—क्वाथ के बनाने में औटाते २ जल का चतुर्थांश या अष्टमांश अवशेष करने से क्वाथ अर्थात् कषाय का वर्ण कसैला हो जाता है एवम् वह कसैले रस से युक्त भी हो जाता है अत· कषाय पद से पाच प्रकार के स्वरसादि सञ्ज्ञक कषायों में से क्वाथ सञ्ज्ञक कषाय का ही बोध किया जाता है, और वही (क्वाथ सञ्ज्ञक) कषाय नवीन ज्वर में निषिद्ध समझा जाता है। और क्वाथ के लक्षण के विषय में अन्यत्र यह कहा हुआ है कि—

जो क्वाथ्य द्रव्य से (जिस द्रव्य का क्वाथ बनाना हो उसे क्वाथ्य द्रव्य कहते हैं) १६ गुने जल के साथ पकाया जाता है और चतुर्थांश जल अवशिष्ट रहने पर उतार लिया जाता है उसे "कषाय" समझना चाहिये। अत षडङ्गादिक नवीन ज्वर में निषिद्ध नहीं समझे जाते है ॥ ५६ ॥

***अस्यायमर्थः—यः क्वाथ्यद्रव्यात् षोडशगुणेनाम्भसा क्वथितः=पक्वः। अथ च पादशिष्टः=चतुर्थभागावशेष., स कषायः स्यात्। अतः षडङ्गादिस्तरुणज्वरे न निषिद्धः। अपाकादर्द्धपाकाच्चोक्तलक्षणाभावेन कषायत्वाभावात् (५६) ॥ १०२ ॥**

इस उपर्युक्त श्लोक का भाव यह समझना चाहिये कि—जो क्वाथ्य द्रव्य से १६ गुने जल के साथ पकाया जाता है और चतुर्थांश जल अवशिष्ट रहते उतार लिया जाता है वह कषाय कहलाता है। अतः षडङ्गादिक नवीन ज्वर में निषिद्ध नहीं समझे जाते है क्योंकि षडङ्गादिकों में किसी का तो पाक ही नहीं बनाया जाता है और किसी का यदि पाक बनाया जाता है तो आधा जल अवशिष्ट रहते ही उतार लिया जाता है अतः उपर्युक्त कषाय के लक्षण का इनमें अभाव होने से ये कषाय नहीं कहलाते हैं, सुतराम् ये नवीन ज्वर में निषिद्ध नहीं माने जाते हैं। (५६) ॥ १०२ ॥

अथ तरुणज्वरे कषायस्य दोषमाह—

दोषा वृद्धाः कषायेण स्तम्भितास्तरुणज्वरे। स्तभ्यन्ते न विपच्यन्ते कुर्वन्ति विषमज्वरम् ॥१०३॥

नवीन ज्वर में कषाय (क्वाथ) देने के दोष—नवीन ज्वर में बढे हुये दोष कषाय (क्वाथ) देने

से स्तम्भित हो जाते हैं, अर्थात् बाहर निकलने के लिये रोक दिये जाते हैं, जिससे आध्मान करने वाले होते हैं तथा (दोषों का) विपाक भी सुख से नहीं होता है, अन्त में ये (दोष) विषमज्वर को उत्पन्न करने वाले हो जाते हैं ॥ १०३ ॥

कषायेणेति। स्तम्भिताः=प्रवृत्तये निवारिताः। यत आह कषायरसगुणान्—

कषायः स्तम्भनः शीतो रूक्षः पित्तकफापहः ॥ ५७ ॥

यहाँ पर "कषायेण स्तम्भिताः" इन पदों का 'कषाय (क्वाथ) देने से स्तम्भित हो जाते हैं अर्थात् बाहर निकलने के लिये रोक दिये जाते हैं' यह अर्थ समझना चाहिये। क्योंकि कषाय रस के गुण—कषाय रस युक्त द्रव्य-स्तम्भनकारक (दोषों को बाहर निकलने के लिये रोकने वाला), शीतल, रूक्ष, तथा पित्त कफ को नष्ट करने वाला होता है ॥ ५७ ॥

स्तभ्यन्त इति। स्तभ्यन्ते=आध्मानं कुर्वन्ति। न विपच्यन्ते=सुखेन न विपच्यन्ते दुःखं यथा विलम्बेन विपच्यन्त इति यावत् ॥ १०३ ॥

स्तभ्यन्त इत्यादि कहे हुये हैं। और "स्तभ्यन्ते" इस पद का 'आध्मान करने वाले होते हैं' तथा "न विपच्यन्ते" पदों का "सुख से (आसानी से) उनका (दोषों का) विपाक भी नहीं होता है अर्थात् दुःख पूर्वक विलम्ब से वे विपाक को प्राप्त होते हैं। यह अर्थ समझना चाहिये ॥ १०३ ॥

अन्यच्च—

न च्यवन्ते न पच्यन्ते कषायैः स्तम्भिता मलाः। तिर्यग्विमार्गगा वाते घोरं कुर्युर्नवज्वरम् ॥ १०४ ॥

और भी कहा हुआ है कि—नवीन ज्वर में कषाय (क्वाथ) पीने से स्तम्भित हुये दोष (दुष्ट वातादि) बाहर नहीं निकल पाते हैं और न विपाक को प्राप्त होते हैं किन्तु तिर्यक् या विमार्ग से गमन करने वाले होकर नवीन ज्वर को भयङ्कर करने वाले हो जाते हैं ॥ १०४ ॥

अथ तरुणज्वरे वमननिषेधमाह—

अनवस्थितदोषाणां वमनं तरुणज्वरे। हृद्रोगं श्वासमानाहं मोहं च कुरुते भृशम् ॥ १०५ ॥

नवीन ज्वर में वमन कराने का निषेध—नवीन ज्वर में वातादि दोषों की अनवस्थिति रहते हुये उन दोषों को वमन कराने वाली औषधि देने से यदि वमन कराया जाय तो उसे प्रबल हृद्रोग, श्वास (दमा), आनाह और मोह उत्पन्न होता है ॥ १०५ ॥

अनवस्थितदोषाणामिति। कफादिदोषोपस्थितौ स्वयमेव भवति वमनं न तद्दोषाय। अनवस्थितदोषाणां तरुणज्वरे वमनं कारयन्ते हृद्रोगादीन् करोतीत्यर्थः। एतेन वचनेन तरुणज्वरे वमनादानं निषिद्धम् ॥ १०५ ॥

यहाँ पर इस श्लोक का यह अर्थ समझना चाहिये कि—कफादि दोषों की उपस्थिति होने पर [illegible] ॥ १०५ ॥

[illegible]

[illegible] ॥ १०६ ॥

[illegible]

अथवा यदि रोगी वमन के योग्य हो तो वमन द्वारा भुक्त अन्न को बाहर निकालना चाहिये। तथा "वमनार्ह" पद के प्रयोग से यह समझा जाता है कि—गर्भिणी, अत्यन्त कृश तथा अत्यन्त वृद्ध आदिकों को वमन निषिद्ध होने से उन लोगों को वमन नहीं कराया जाता है। अत एव इसी विषय में वृद्ध वाग्भट का यह वचन है कि-बुद्धिमान् वैद्य जिसे पूर्व मे वमन कराया गया है ऐसे रोगी को लङ्घन करावे किन्तु जिसे पूर्व में लङ्घन कराया गया हो उसे वमन न करावे। क्योंकि-वमन करने में अत्यन्त कष्ट होता है अत एव लङ्घन (उपवास) से कृश हुये व्यक्ति को वमन कर्म कराने से वह नष्ट कर देता है। और गर्भिणी, बालक, वृद्ध, दुर्बल तथा डरपोक ऐसे व्यक्तियों को वमन नहीं कराना चाहिये ॥ ५८ ॥

अनशनमिति शेषः। अनेनानशननिषेधेन गुर्विण्यादीनां ज्वरे सामे पाचनं, निरामे शमनं पथ्यान्न मण्डादिकञ्च दद्यात्। पाचनलक्षण पश्चाद् गुणप्रस्तावे बोद्धव्यम् ॥ १०६ ॥

यहां पर "वमन नहीं कराना चाहिये" इतना ही नहीं समझना चाहिये किन्तु अनशन भी नहीं कराना चाहिये" यह ऊपर से और समझ लेना चाहिये। और यहा पर इस अनशन निषेध से यह समझना चाहिये कि—गर्भिणी आदिकों को ज्वर की सामावस्था रहने पर पाचन औषध और निरामावस्था होने पर शमन औषध, पथ्य अन्न, मण्ड (माड) आदिक देना चाहिये। और पाचन का लक्षण पीछे गुणप्रस्ताव में समझ लेना चाहिये ॥ १०६ ॥

अथ पाचनशमनौषधदानसमयमाह—

पाययेदातुरं सामं पाचनं सप्तमे दिने। शमनेनाथ वा दृष्ट्वा निरामं तमुपाचरेत् ॥ १०७ ॥

पाचन तथा शमन औषध देने का समय—लङ्घनादि द्वारा भी यदि आम का भली भांति परिपाक न हुआ हो तो आम को पचाने के लिये ज्वर रोगी को सातवें दिन पाचन औषध देना चाहिये। और यदि रोगी के दोषों की निरामावस्था दिखाई पडे तो उस समय शमन औषध द्वारा उसकी चिकित्सा करनी चाहिये ॥ १०७ ॥

ननु-

लालाप्रसेको हृल्लासो हृदयाशुद्ध्यरोचकौ। तन्द्राऽऽलस्याविपाकास्यवैरस्यं गुरुगात्रता ॥
क्षुन्नाशो बहुमूत्रत्व स्तब्धता बलवाञ्ज्वरः। आमज्वरस्य लिङ्गानि न दद्यात्तत्र भेषजम् ॥
भेषज ह्यामदोषस्य भूयो जनयति ज्वरम् ॥ ५९ ॥

यहा पर यदि यह कहो कि शास्त्र में कहा हुआ है कि—मुख से लार गिरना, हृल्लास (वमन का वेग आना), हृदय की अशुद्धि, अरुचि, तन्द्रा, आलस्य अन्न का परिपाक न होना, मुख की विरसता, शरीर मे गुरुता (भारीपन), क्षुधा का न लगना, अधिक मूत्रत्याग होना, शरीर की स्तब्धता (बँधा सा मालूम पडना) एवम् ज्वर का अधिक वेग होना, ये सब लक्षण आमज्वर के होते हैं, अत एव इन लक्षणों के रहते हुए औषध (क्वाथ रूप) नहीं देना चाहिये। क्योंकि ऐसे समय मे (आमदोष में) औषध प्रयोग करने से ज्वर अधिक रूप से बढता है ॥ ५९ ॥

भूयो बाहुल्येन ॥ ५९ ॥

यहां पर "भूयः" पद का "अधिकरूप से" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ५९ ॥

अन्यच्च—

पाययेद्दोषहरण मोहादामज्वरे तु यः। स सुप्तं कृष्णसर्पन्तु कराग्रेण परामृशेत् ॥ ६० ॥

और भी कहा हुआ है कि—जो वैद्य भूल से आमज्वर में दोषों को दूर करने के लिये औषध प्रयोग करता है वह मानो सोये हुये काले सर्प को अगुलियों से स्पर्श करता है ॥ ६० ॥

इति वचनादामज्वरे भेषजनिषेधात्कथ सामे ज्वरे वा पाचन देयम्? उच्यते—निरुपद्रवे सामज्वरे पाचन देयम्। सोपद्रवे तु सामे भेषजं निषिद्धम्। तथा च वाग्भटः—

सप्ताहात्परतोऽदुष्टे सामे स्यात्पाचन ज्वरे। निरामे शमन स्तब्धे सामे नौषधमाचरेत् ॥६१॥

इन सब पूर्वोक्त वचनों के द्वारा आमज्वर में औषध देनेका निषेध होने से किस प्रकार से आमयुक्त ज्वर में पाचन औषध देना चाहिये? इसके उत्तर में यह कहते हैं कि—उपद्रव रहित सामज्वर में पाचन औषध देना चाहिये, क्योंकि उपद्रवयुक्त सामज्वर में ही औषध निषिद्ध है। और वाग्भट में भी इसी विषय में कहा हुआ है कि—उपद्रव रहित सामज्वर में सात दिन के बाद पाचन औषध देना

चाहिये, और निरामज्वर में शमन औषध देना चाहिये किन्तु उपद्रव युक्त सामज्वर में औषध नहीं देना चाहिये ॥ ६१ ॥

अदुष्टे = निरुपद्रवे । स्तब्धे = सोपद्रवे (६१) ॥१०७॥

यहां पर "अदुष्टे" पद का "उपद्रव रहित" तथा "स्तब्धे" पद का "उपद्रवयुक्त" यह अर्थ समझना चाहिये (६१) ॥ १०७ ॥

अन्यच्च—

कृशं चेचाल्पदोषञ्च शमनीयैरुपाचरेत् ॥ १०८ ॥

और भी कहा हुआ है कि—उपवास आदि करने से ज्वररोगी यदि कृश हो गया हो अथवा उसके दोष अल्प हो गये हों तो उसे दोषों को शमन करने वाली औषधियाँ देनी चाहिये ॥ १०८ ॥

अथ सामान्यज्वरे पाचनकषायमाह सुश्रुतः—

नागरं देवकाष्ठञ्च ध्यामकं बृहतीद्वयम् । दद्यात्पाचनकं पूर्वं ज्वरितेभ्यो ज्वरापहम् ॥ १०९ ॥

सामान्यज्वर में पाचन कषाय (क्वाथ) देने के विषय में सुश्रुत का वचन— सोंठ, देवदारु, रोहिष घास, कटेरी, बड़ी कटेरी इन सब समान भाग लेकर पूर्वोक्त रीति से क्वाथ बनाकर ज्वर रोगी को सर्व प्रथम देना चाहिये । यह क्वाथ आमदोष को पचाने वाला होने से "पाचन" कहलाता है तथा ज्वरनाशक भी होता है ॥ १०९ ॥

ध्यामकं = रोहिषं तदलाभादुशीरं दद्यात् । बृहतीद्वयं = बृहत्फला सूक्ष्मफला च । बृहती = क्षुद्रा, बृहती चेति कण्टकारीद्वयं वा दद्यात् ।

"कण्टकारीद्वयं शुण्ठी ध्यामकं सुरदारु च" ॥ ६२ ॥

यहां पर "ध्यामक" पद से "रोहिषघास" का ग्रहण करना चाहिये । और यदि यह न मिल सके तो "खस" देना चाहिये । और "बृहतीद्वयम्" इस पद से "बड़ी तथा सूक्ष्म फल वाली अथवा छोटी और बड़ी कटेरी" का बोध करना चाहिये । क्योंकि—

"दोनों कटेरी (छोटी और बड़ी कटेरी), सोंठ, रोहिष घास, देवदारु" ॥ ६२ ॥

इति शार्ङ्गधरेणोक्तत्वात् । इति नागरादिक्वाथः ॥ ॥ १०९ ॥

ऐसा शार्ङ्गधर ने अपने ग्रन्थ में भी कहा है, अतः यहां छोटी तथा बड़ी कटेरी का ही बोध [illegible] है । और इसका नाम "नागरादिक्वाथ" समझना चाहिये ॥ १०९ ॥

[illegible] —

[illegible] निर्दिष्टे । सर्वज्वरेषु [illegible] ॥ ११० ॥

[illegible] ॥ ११० ॥

[illegible] ॥ १११ ॥

[illegible]

[illegible] । यथा च [illegible] —

[illegible] ॥ ६३ ॥

[illegible]

[illegible] —

[illegible] ॥ ६४ ॥

[illegible]

और दूध से चौगुना जल लेकर पकाना चाहिये। और जब केवल दूध अवशिष्ट रह जाय तब उतार लेना चाहिये, यह क्षीरपाक बनाने की विधि समझना चाहिये ॥ ६४ ॥

*द्रव्यात्=पलपरिमितात् (६४) ॥ १११ ॥

यहां पर "द्रव्यात्" पद का "एक पल (४ तो०) क्वाथ्य द्रव्य से" यह अर्थ समझना चाहिये। अतः निष्कर्ष यह निकला कि क्वाथ्य द्रव्य १ पल, दूध ८ पल, जल ३२ पल लेकर पकाना चाहिये, और जलते २ जब केवल दूध रह जाय तब उतार लेना चाहिये (६४) ॥ १११ ॥

अन्यच्च—

उदकाद् द्विगुणं क्षीरं शिशपोशीरमेव च। तत्क्षीरशेषं क्वथितं पेयं सर्वज्वरापहम् ॥ ११२ ॥

और भी कहा हुआ है कि—जल से दूना दूध लेकर उसमें सीसम का बुरादा तथा खस डालकर पकावे और जब केवल दूध रह जाय तब उतार लेवे, इस क्वाथके पीने से सम्पूर्ण ज्वर दूर होते हैं ॥११२॥

अथ गुडूच्यादिक्वाथमाह—

गुडूचीधान्यकारिष्टं पद्मकं रक्तचन्दनम्। एषां क्वाथः सुप्रसिद्धः सर्वज्वरहरः स्मृतः॥
दीपनो दाहहृल्लासतृष्णाच्छर्द्यरुचीर्हरेत् ॥ ११३ ॥

गुडूच्यादि क्वाथ—गुरुच, धनिया, नीमकी छाल, पद्माख, लालचन्दन इन सबों का क्वाथ सम्पूर्ण ज्वरों को दूर करने में सुप्रसिद्ध माना गया है। और अग्निदीपक एवम् दाह, उबकाई, प्यास, वमन तथा अरुचि को भी नष्ट करने वाला होता है ॥ ११३ ॥

अथ संशोधननिषेधमाह—

छर्दिमूर्च्छामदश्वासभ्रमतृड्विषमज्वरान्। संशोधनस्य पानेन प्राप्नोति तरुणज्वरी ॥ ११४ ॥

संशोधनविषयक निषेध—नवीन ज्वर वाला रोगी संशोधन (दोषों का शोधन करने वाले) औषधों को यदि खाये तो उससे उसे वमन, मूर्च्छा, मद, दमा, भ्रमरोग, प्यास एवम् विषमज्वर हो जाता है ॥ ११४ ॥

अथ निषिद्धमपि संशोधनमवस्थाविशेषे देयमित्याह—

रोगे शोधनसाध्ये तु यं विद्याद् दोषदुर्बलम्। तं समीक्ष्य भिषक्कुर्याद् दोषप्रच्यावनं मृदु ॥११५॥

पूर्वोक्त वचन से निषिद्ध भी संशोधन औषधों को अवस्थाविशेष में देने के विषय में वचन— शोधन औषधों द्वारा ही यदि रोग साध्य हो तो बढे हुये दोषों के द्वारा दुर्बल रोगी को समझ कर ही दोषों को निकालने वाला मृदु (हलका) विरेचन देना वैद्यों के लिये उचित कर्त्तव्य है ॥ ११५ ॥

*दोषदुर्बल=दोषैरुपचितैर्दुर्बलं न तूपवासादिकृशम्। अत एव समीक्ष्येति ॥ ११५ ॥

यहां पर यह और भी समझना चाहिये कि—विरेचन कराते समय वैद्य को यह अवश्य ध्यान देना चाहिये कि रोगी दोष की अधिकता से दुर्बल है अथवा उपवासादि से, यदि दोष की अधिकता से दुर्बल है तो विरेचन कराना चाहिये और यदि उपवासादि से दुर्बल हो तो विरेचन नहीं कराना चाहिये। इन बातों को 'समीक्ष्य" पद के स्वारस्य से समझना चाहिये ॥ ११५ ॥

अथ शोधनसाध्यरोगानाह—

सद्योज्वरे विषेऽजीर्णे मन्देऽग्नावुदरे तथा। स्तन्यरोगे च हृद्रोगे कासश्वासेषु वामयेत् ॥११६॥
जीर्णज्वरगरच्छर्दिगुल्मप्लीहोदरेषु च। शूले शोथे मूत्रघाते कृमिरोगे विरेचयेत् ॥ ११७ ॥

शोधन से साध्य रोगों का निर्देश—तत्काल का उत्पन्न हुआ ज्वर, विष, अजीर्ण, अग्नि की मन्दता, उदररोग (पाठान्तर में अरुचि), स्तन्य (स्तनसम्बन्धी अथवा दुग्धसम्बन्धी) रोग, हृद्रोग, कास (खांसी), दमा इन सब रोगों में रोगी को वमन कराना चाहिये।

और पुराना ज्वर, विष, वमन, गुल्म, प्लीहा, उदररोग, शूल, शोथ, मूत्राघात एवम् कृमिरोग इन सबों में रोगी को विरेचन कराना चाहिये ॥ ११६-११७ ॥

अन्यच्च—

चले दोषे मृदौ कोष्ठे नेक्षेत्तत्र बलं नृणाम्। अव्यापद् दुर्बलस्यापि शोधनं हि तदा भवेत् ॥११८॥

और भी कहा है कि—दोष जिस समय चलायमान हों और रोगी का कोष्ठ मृदु हो तो उस समय वैद्य उसके बलाबल का विचार न करके शोधन (वमन, विरेचन) कर्म के लिये औषध देवे क्योंकि— उस अवस्था में दोष से दुर्बल हुये रोगी को शोधन औषध देने से वमन आदि उपद्रवरूप व्याधि उत्पन्न नहीं होता है ॥ ११८ ॥

[illegible]कुतो दलं नापेक्षणीयमित्याशङ्कायामाह—तदा तस्यामवस्थायां शोधनं दुर्बलस्यापि = दोषदुर्बलस्यापि, अत्यापदमेव = दुर्धांदिव्याधिकृत भवतीत्यर्थः ॥ ११८ ॥

यहाँ पर "[illegible] नहीं बल की अपेक्षा रखनी चाहिये" इस शङ्का का निवारण श्लोक के उत्तरार्द्ध "[illegible] दुर्बलस्यापि अत्यापद् भवेत्" इससे करते हैं" यह समझना चाहिये। और "तदा" पद का "[illegible] में" और "दुर्बलस्यापि" पदों का "दोष से दुर्बल हुये रोगी को भी" एवम् "अत्यापद् [illegible]" इन पदों का "[illegible] आदि उपद्रवरूप व्याधि को उत्पन्न नहीं करता है" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ११८ ॥

पक्वोऽप्यनिर्हृतो दोषो देहे तिष्ठन्महात्ययम्। विषमं वा ज्वरं कुर्याद् बलव्यापदमेव वा ॥११९॥

और [illegible] (दोष) शरीर में रहकर [illegible] को उत्पन्न करने वाले होते हैं ॥ ११९ ॥

[illegible] पुनरस्य पक्वस्य दोषस्य स्वस्थानस्थितस्य शोधनाविधाने दोषमाह सुश्रुतः— पक्व इति। पक्वो [illegible]नतिक्ताम्बुपानपेयाऽऽदिभिः। अनिर्हृतः = अधोमार्गेणानुत्सृष्टः। महा[illegible] = विषमे ज्वरे चातुर्थिकं तस्यैव [illegible] गदाधरः। गम्भीरमिति कार्त्तिकः। बाहात्ययं = महाकष्टं वा। बलव्यापदं = बलक्षयम् ॥ ११९ ॥

[illegible] कि—यह वचन "[illegible] यदि परिपक्व दोष [illegible] और उसको शोधन औषध द्वारा निकाला न जाय तो हानिकारक होता है", [illegible] और "पक्व" [illegible] "परिपक्व हो गये हों अर्थात् [illegible] आदि पिलाने के द्वारा परिपक्व हो गये हों" और "अनिर्हृत" [illegible] विरेचन द्वारा अधो (गुदा) मार्ग से निकाले न गये हों" एवम् "[illegible]" [illegible] कि—यहाँ पर "[illegible]" पद [illegible] "चातुर्थिक (चौथिया) विषमज्वर" [illegible] क्योंकि [illegible] ([illegible]) [illegible] गया हुआ है। और "कार्त्तिक" आचार्य [illegible] "[illegible]" [illegible] समझना चाहिये। और "[illegible]" [illegible] ॥ ११९ ॥

[illegible]—

[illegible] कषायः।
[illegible] दीपनपाचनश्च ॥ १२० ॥
[illegible]।

[illegible]

[illegible]—

[illegible] ॥ १ ॥
[illegible]।

[illegible]

[illegible]—

[illegible] ॥ [illegible] ॥
[illegible] ॥ [illegible] ॥

[illegible]

थोड़े ही दिनों में सम्पूर्ण ज्वरों को नष्ट करने वाला होता है। और कोष्ठ की शुद्धि करने वाला तथा अग्नि को प्रदीप्त करने वाला होता है॥ १२२–१२३॥

*अनन्ता = सारिवा॥ १२२–१२३॥

यहां पर "अनन्ता" पदका "सारिवा अर्थात् अनन्तमूल" अर्थ समझना चाहिए॥ १२२–१२३॥

अथ सशोधनशमनौषधनिषेधमाह—

पीताम्बुर्लङ्घनक्षीणो जीर्णो भुक्तः पिपासितः। न पिबेदौषधं जन्तुः संशोधनमथेतरत्॥१२४॥

सशोधन तथा शमन औषध के निषेध के विषय—तिक्तक द्रव्यों से संस्कृत जल या क्वाथ को पीने वाले, लङ्घन करने से क्षीण हुये, अजीर्णयुक्त, (पाठान्तर मे वृद्ध), तत्काल भोजन किये हुये, और प्यासे हुये ऐसे लोगों को सशोधन तथा सशमन औषध खाने को नहीं देना चाहिये॥ १२४॥

***पीताम्बुः = पीततिक्ताम्बुः, भुक्तो = भुक्तवानित्यर्थः। अत्राध्यवसितादिवत् (१) कर्त्तरि क्तप्रत्ययः। इतरत् = सशमनम्॥ १२४॥**

यहां पर "पीताम्बु" पद का "तिक्तक द्रव्यों से सस्कृत जल या क्वाथ को पीने वाले" और "भुक्त" पद का "तत्काल भोजन किये हुये" यह अर्थ समझना चाहिये और "भुक्त" पद मे अध्यवसित आदि के समान "*गत्यर्थाकर्मके०*" इत्यादि सूत्र से कर्त्ता मे क्त प्रत्यय हुआ है, ऐसा समझना चाहिये। "इतरत्" पद का "सशमन" अर्थ समझना चाहिये॥ १२४॥

अथ सुदर्शनचूर्णमाह—

त्रिफला रजनीयुग्मं कण्टकारीयुगं शटी। त्रिकटु ग्रन्थिकं मूर्वा गुडूची धन्वयासकः॥ १२५॥
कटुका पर्पटो मुस्तं त्रायमाणा च बालकम्। निम्बः पुष्करमूलञ्च मधुयष्टी च वत्सकः॥१२६॥
यवानीन्द्रयवो भार्गी शिग्रुबीजं सुराष्ट्रजा। वचात्वक्पद्मकोशीरचन्दनातिविषाबलाः॥१२७॥
शालिपर्णी पृश्निपर्णी विडङ्गं तगरं तथा। चित्रकं देवकाष्ठञ्च चव्यं पत्रं पटोलजम्॥ १२८॥
जीवकर्षभकौ चैव लवङ्गं वंशलोचनम्। पुण्डरीकञ्च काकोली पत्रकं जातिपत्रकम्॥ १२९॥
तालीसपत्रमेतानि समभागानि चूर्णयेत्। अर्द्धांशं सर्वचूर्णस्य किरातं प्रक्षिपेत्सुधीः॥ १३०॥
एतत्सुदर्शनं नाम चूर्णं दोषत्रयापहम्। ज्वरांश्च निखिलान्हन्ति नात्र कार्या विचारणा॥१३१॥
दोषजागन्तुकांश्चापि धातुस्थान्विषमज्वरान्। सन्निपातोद्भवांश्चापि मानसानपि नाशयेत्॥१३२॥
शीतादीनपि दाहादीन्मेहं तन्द्रां भ्रमं तृषाम्। कासं श्वासञ्च पाण्डुञ्च हृद्रोगं कामलामपि॥१३३॥
त्रिकपृष्ठकटीजानुपार्श्वशूलं निवारयेत्। शीताम्बुना पिबेदेतत्सर्वज्वरनिवृत्तये॥ १३४॥
सुदर्शनं यथा चक्रं दानवानां विनाशनम्। तथा ज्वराणां सर्वेषां चूर्णमेतत्प्रणाशनम्॥१३५॥

सुदर्शनचूर्ण—त्रिफला (हरड़, बहेरा, आंवला), दोनों हलदी (हल्दी, दारुहल्दी), दोनों कटेरी (छोटी तथा बड़ी कटेरी), कचूर, त्रिकटु (सोंठ, पीपर, मिर्च), पिपरामूल, मूर्वा, गुरुच, धमासा, कुटकी, पित्तपापडा, नागरमोथा, त्रायमाण, सुगन्धबाला, नीमकी छाल, पुहकरमूल, मुलहठी, कुड़े की छाल, अजवाइन, इन्द्रजौ, भारङ्गी, सहिंजने के बीज, सोरठ की मिट्टी, बालवच, दालचीनी, पद्माख, खस, सफेद चन्दन का बुरादा, अतीस, खिरेटी, शालिपर्णी (सरिवन), पृश्निपर्णी (पिठवन), वायविडङ्ग, तगर, चीता, देवदारु, चव्य, परवल के पत्ते, जीवक, ऋषभक, लौंग, वंशलोचन, सफेद कमल, काकोली, तेजपात, जावित्री और तालीसपत्र इन सबों को समभाग में लेकर चूर्ण करडाले, और सम्पूर्ण चूर्ण के आधे भाग बराबर चिरायता का चूर्ण मिलाकर रख देवे, इसे "सुदर्शन चूर्ण" कहते हैं। यह तीनों दोषों को दूर करने वाला और सभी प्रकार के ज्वरों को दूर करने वाला होता है। इस विषय में कोई विचार नहीं करना चाहिये अर्थात् यह सत्य है। और वातादि दोषों से उत्पन्न होने वाले, आगन्तुक (चोट आदि से उत्पन्न होने वाले) तथा रस–रक्तादि धातु स्थित ज्वर एवम् विषमज्वर, सन्निपातज्वर, मानसज्वर, शीतज्वर, दाहादिज्वर, मेहरोग, तन्द्रा, भ्रम, तृषा, खांसी, दमा, पाण्डुरोग, हृद्रोग, कामला, एवम् त्रिकस्थान, पीठ, कमर, जानु, पँसुली इन सब स्थानों मे होने वाला शूल इन सब रोगों को भी दूर करने वाला होता है। और सर्व प्रकार के ज्वर को दूर करने के लिये इस चूर्णको

(१) अत्र सर्वत्र "अध्यवसितादिवा"दिति पाठ उपलभ्यते, स प्रामादिकः; अध्यवसितादिगणस्यानुपलभ्भात्।

[illegible] जल के साथ पीना चाहिये। और जिस प्रकार से सम्पूर्ण दानवों को नष्ट करने वाला भगवान् विष्णु का सुदर्शन चक्र होता है उसी भांति से सम्पूर्ण ज्वरों को नष्ट करनेवाला होने से इसे सुदर्शन (१) चूर्ण [illegible] है ॥ १२५–१३० ॥

[illegible] अभावे तु कुष्ठमपि दद्यात्। कार्व्यभावे कण्टकारीमूलम्। सौराष्ट्र्यभावे स्फटिका [illegible]। तगराभावे कुष्ठं देयम्। क्षीरकर्कट्योरभावे विदारीकन्दस्य भागद्वयं दद्यात्। [illegible] = श्वेतचन्दनम्। काकोल्यभावे अश्वगन्धामूलम्। "तालीसपत्राभावे स्वर्णताली [illegible]" [illegible] अथवा—[illegible] जटा देया। इति सुदर्शनचूर्णम् ॥ १२०—१३५ ॥

यहाँ पर "[illegible]" [illegible] में 'कुठ' डालना चाहिये। "भार्गी" के अभाव में "कटेरी का मूल" देना चाहिये। "[illegible]" के अभाव में "[illegible]" देना चाहिये। "तगर" के न मिलने पर "कुठ" [illegible] चाहिये। [illegible] तथा "[illegible]" के अभाव में "विदारीकन्द दो भाग" लेना चाहिये। [illegible] से "श्वेत चन्दन" का बोध करना चाहिये। "काकोली" के अभाव में "असगन्ध [illegible]" लेना चाहिये। "[illegible]" के अभाव में "स्वर्णताली" अथवा "कटेरी" की जड़ देना चाहिये। इस प्रकार सुदर्शन चूर्ण की विधि समझनी चाहिये ॥ १२०–१३५ ॥

अथ निम्बादिचूर्णम्—

निम्बपत्र [illegible]। भागो द्वित्रिशिखीषुत्रिनेत्रान् क्रमतोऽष्टकान् ॥ १३६ ॥
[illegible] चूर्णं प्रभूते [illegible]। ऐकाहिकं द्व्याहिकञ्च तथा त्रिदिवसज्वरम् ॥ १३७ ॥
चातुर्थिकं [illegible] सन्ततं [illegible]। चातुर्थ्यं च त्रिदोषोत्थं ज्वरं हन्ति न संशयः ॥१३८॥

इति निम्बादिचूर्णम्।

[illegible] चूर्ण—[illegible] के पत्ते १० भाग, त्रिफला [illegible] भाग (हरड़ १ भाग, आमला १ भाग, [illegible] १ भाग), त्रिकटु ३ भाग (सोंठ १ भाग, पीपल १ भाग, मरिच १ भाग), [illegible] ५ भाग, [illegible] ३ भाग (सेंधा [illegible] १ भाग, [illegible] १ भाग, [illegible] १ भाग), [illegible] भाग, इन सबों को चूर्ण [illegible] प्रातःकाल [illegible] के पहले शीतल जल के साथ [illegible] है वो एकाहिक, द्व्याहिक, त्र्याहिक (तिजरिया), चातुर्थिक ([illegible]) [illegible] ज्वर, [illegible] ([illegible], [illegible]), [illegible] ज्वर, [illegible] होने वाला ज्वर [illegible] नष्ट होते हैं। इसमें कोई [illegible] नहीं [illegible] चाहिये। [illegible]) ॥ १३६–१३८ ॥

[illegible]

[illegible] सुण्ठी [illegible] ।

[illegible] ॥ १३९ ॥
[illegible] ॥१४०॥

[illegible] ॥ १३९–१४० ॥

[illegible]

[illegible] ॥ १४१ ॥
[illegible]

[illegible]

सोंठ, गिलोय, गोखरू, शतावर, सहदेई, बायविडङ्ग ये सब प्रत्येक एक पल (४ तो०) लेवे और सबों का चूर्ण बनाकर एकत्र कर मधु मिलाकर वटी (गोली) बना लेवे। इस वटी(१) को जो खाता है उसके ज्वर, खांसी, दमा, मलस्तम्भ (मलावरोध) और अग्नि की मन्दता ये सब रोग नष्ट हो जाते हैं॥१४१-१४३॥

*अनुभूतोऽयम् ॥ १४१-१४३ ॥

* यह प्रयोग अनुभूत है ॥ १४१-१४३ ॥

अथ लाक्षाऽऽदितैलमाह—

लाक्षा दशाक्षा स्वरुणा षडक्षा सचन्दनं लोहितचन्दनञ्च ।
त्वक्पत्रकं वारि मुरा समुस्ता प्रत्येकमेतानि पलोन्मितानि ॥ १४४ ॥
किराततिक्तात्रिवृतासतिक्ताऽमृताकणापर्पटकण्टकार्यः ।
विडङ्गविश्वाऽऽमलकानि वासारस्नानिशावीरणसिन्दुवाराः ॥ १४५ ॥
एतानि देयानि पृथक्पलार्द्धमानानि सर्वाणि च भेषजानि ।
कल्कानमीषां विदधीत गव्यदुग्धेन वै सार्द्धतुलामितेन ॥ १४६ ॥
तैलं तिलाना तु तुलाऽनुमानं तेनैव कल्केन शनैः पचेच्च ।
हन्याज्ज्वरास्तैलमिदं समस्तान् कुर्याद् बल वीर्यमतीव पुष्टिम् ॥ १४७ ॥
विमर्दनादाशु परिश्रमं भ्रम शम नयेत्सञ्जनयेद् द्युति तनोः ।
तथा व्यथामस्थिसमुद्भवामपि प्रहृत्य निद्रां समुपा येत्सुखम् ॥ १४८ ॥

लाक्षादितैल—उत्तम पीपल की लाख २० तोले, मंजीठ ६ तोले, और सफेद चन्दन तथा लालचन्दन इन दोनों का बुरादा, दालचीनी, तेजपात, सुगन्धवाला, मुरा, नागरमोथा ये सब प्रत्येक ४ तोले एवम् चिरायता, निसोथ, कुटकी, गुरुच, पीपल, पित्तपापडा, कटेरी, वायविडङ्ग, सोंठ, आंवला, अडूसा, रास्ना, हल्दी, खस, सम्हालू ये सब प्रत्येक दो तोले, इन सब औषधों को १॥ तुला (६०० तोले) दूध के साथ पीस कर कल्क बना लेवै, और उसे १ तुला (४०० तोले) तिल(२) के तेल में डालकर मन्द आंच से पकावै, जब तैयार हो जाय तब उतार कर छान लेवै। इसे लाक्षादितैल कहते हैं। इस तैल के मालिश करने से सम्पूर्ण ज्वर दूर होते हैं तथा शरीर में बल, वीर्य की वृद्धि होती है एवम् अत्यन्त पुष्टि होती है, और परिश्रम तथा भ्रमरोग शान्त हो जाते हैं। शरीर की कान्ति बढ़ती है और हड्डियों के अन्दर की पीडा दूर हो कर सुखपूर्वक निद्रा आती है॥ १४४-१४८ ॥

*अरुणा = मञ्जिष्ठा। वारि = बालम्। रसा = रास्ना ॥ १४४-१४८ ॥

---

(१) आधुनिक पुरुषोपयोगी मात्रा—६ माशे से १ तोला तक समझना चाहिये।

(२) लाक्षादितैल सिद्ध करने के लिये जो तिल-तैल काम में आता है उसे मूर्च्छित करके लेना चाहिये। मूर्च्छित करने की विधि आगे लिखते हैं—

तैलं कृत्वा कटाहे दृढतरविमले मन्दमन्दानले तत्-
पक्वं निष्फेनभावं गतमिह हि यदा शैत्यभावं समेत्य ॥
मञ्जिष्ठारात्रिलोध्रैर्जलधरनलिकै सामलै साक्षपथ्यैः
सूचीपुष्पाङ्घ्रिनीरै रुपहितमथितैस्तैलगन्धं जहाति ॥ १ ॥
तैलस्येन्दुकलांशिकेन विकसा ग्राह्या तु मूर्च्छाविधौ,
ये चान्ये त्रिफलापयोदरजनीह्रीवेरलोध्रान्विताः ॥
सूचीपुष्पवटावरोहनलिकास्तस्याश्च पादांशिका
पाच्यास्तैलजगन्धदोषहृतये कल्कीकृतास्तद्विदा ॥ २ ॥

अर्थात्—तिल के तेल को लोहे की कडाही में रखकर मन्द २ आंच से पकावें। जब तेल फेन रहित हो जाय उतार कर शीतल होने दें। फिर इसमे मजीठ, हरड; बहेडा, आंवला, नागरमोथा, हल्दी, सुगन्धवाला, पठानी लोध, केवडा, बटाकुर तथा नलिका (सुगन्धिद्रव्य विशेष) इनके कल्क (तेल का चतुर्थांश) तथा तेल का चौगुना पानी मिलाकर पुनः आग पर पाक करना चाहिये। कल्क द्रव्य में से मजीठ तेल का सोलहवां भाग तथा त्रिफलादि द्रव्यों को मजीठ का चतुर्थांश लेना चाहिये, अर्थात्-यदि २ सेर तेल हो तो पानी ८ सेर, मजीठ की मात्रा १० तोले, आंवला, हरड आदि शेष द्रव्य प्रत्येक २½ तोले लेना चाहिये। तेलके शीतल होने पर उसमें कल्क को थोडा २ करके मिलाना चाहिये।

यहां पर "[illegible]" पद से "[illegible]"। "[illegible]" पद से "सुगन्धवाला" और "रसा" पद से "[illegible]" का [illegible] किया गया है, यह समझना चाहिये ॥ १४४–१४८ ॥

अथ [illegible] लाक्षादितैलम्—

लाक्षारससमं तैलं तैलान्मस्तु चतुर्गुणम्। अश्वगन्धानिशादारुकौन्तीकुष्ठाब्दचन्दनैः ॥१४९॥
मूर्वारोहिणिरास्नाशताह्वामधुकैः समैः। सिद्धं लाक्षादिकं नाम तैलमभ्यञ्जनाद्धितम् ॥१५०॥
सर्वज्वरक्षयोन्मादश्वासापस्मारवातनुत्। यक्षराक्षसभूतघ्नं गर्भिणीनां च शस्यते ॥ १५१ ॥

[illegible]—लाख का रस और तिल का तेल ये दोनों समभाग में लेकर इसमें तेल के चौगुना दही का [illegible] असगन्ध, हल्दी, देवदारु, रेणुका, कूठ, नागरमोथा, सफेद चन्दन, मूर्वा, [illegible], रास्ना, सतावर, मुलेठी इन सब औषधों को समभाग में लेकर कल्क बनाकर [illegible] के अनुसार तैल बना लेवे। सिद्ध होने पर इसको लाक्षादि तैल कहते हैं। यह [illegible] सभी प्रकार के ज्वर, क्षय, उन्माद, श्वास, अपस्मार (मिर्गी), वातरोग [illegible], राक्षस तथा भूतसम्बन्धी बाधा को दूर करता है। और गर्भिणी स्त्रियों के लिये [illegible] हितकर होता है ॥ १४९–१५१ ॥

मस्तु = दधिजलम्। कौन्ती = रेणुका। चन्दनमत्र श्वेतमेव न तु रक्तम्। रोहिणी = कुटकी ॥ १४९–१५१ ॥

यहां पर "मस्तु" पद का "दही का [illegible]"। "कौन्ती" पद का "रेणुका" यह अर्थ समझना चाहिये। और "चन्दन" पद से "सफेद चन्दन" का ही ग्रहण करना चाहिये न कि लाल चन्दन का। [illegible] "रोहिणी" पद का "कुटकी" अर्थ समझना चाहिये ॥ १४९–१५१ ॥

अथ महालाक्षादितैलम्—

लाक्षा हरिद्रा मञ्जिष्ठा फलिनी मधुकं वचा। लामज्जकं चन्दनं च चम्पकं नीलमुत्पलम् ॥१५२॥
प्रत्येकशोऽपि पञ्चमुष्टीः पक्त्वा तोये चतुर्गुणे। चतुर्भागावशेषे तु गर्भे चैतत्समावपेत् ॥ १५३ ॥
रेणुका पद्मकं चैव [illegible] तथैव च। चेतसं धान्यकं कुष्ठं देवदारु नतं त्वचम् ॥ १५४ ॥
शतपुष्पा [illegible] मूर्वा मधुकमेव च। एभिरक्षमितैः कल्कैः कषायेणैव पेषितैः ॥ १५५ ॥
[illegible] समावपेत्। [illegible]समायुक्तं तेनैतत् विपाचयेत् ॥ १५६ ॥
[illegible] दाहज्वरोहतिः। [illegible] तथा वातपित्तकफसमुद्भवम् ॥ १५७ ॥
[illegible]। सद्योपसृष्टा ये बाला रक्षसा दुष्टिनाश ये।
तेषां कष्टे प्रकल्पयेत्तत् लाक्षाऽऽदिकं महत् ॥ १५८ ॥

[illegible]—लाख, हल्दी, मजीठ, [illegible], मुलेठी, [illegible], सफेद चन्दन, [illegible] ...

[illegible]

[illegible] ॥ १५२–१५८ ॥

यहां पर "फेनिल" पद का "वेर"। "लामज्जक" पद से "खस की भांति पीले रंग के एक तृण विशेष" का बोध करना चाहिये, और यदि लामज्जक न मिल सकें तो इसके अभाव में खस का प्रयोग करना चाहिये। "चम्पक" अर्थात् "चम्पा" के स्थान में कहीं ? "गैरिक" का पाठ होने से "गेरू" का बोध करना चाहिये। नीलोत्पल अर्थात् नीलकमल के अभाव में कुमुद अर्थात् कोई का ग्रहण करना चाहिये। "चोरक" पद से "ग्रन्थिपर्ण (गठिवन) का भेद "भटेउर" नाम से नैपाल देश में प्रसिद्ध द्रव्य का बोध करना चाहिये। और इसके अभाव में ग्रन्थिपर्ण (गंठिवन) का प्रयोग करना चाहिये। "पुण्डरीक" पद का 'सफेद कमल"। 'मस्तु" पद का "दही का जल" अर्थ समझना चाहिये। शुक्त तथा आरनाल सन्धान के भेद हैं, इनके लक्षण पूर्वखण्ड में कह आये हैं, वहां से समझ लेना चाहिये। इसको महालाक्षादि तैल कहते हैं ॥ १५२-१५८ ॥

अथ नवज्वरे रसप्रयोगाः।

अथोदकमञ्जरीरसमाह—

सूतो गन्धष्टङ्कण. शोषणश्च सर्वैस्तुल्या शर्करा मत्स्यपित्तैः।
भूयो भूयो मर्दयेत्तत् त्रिरात्रं वल्लो देयः शृङ्गवेरद्रवेण ॥ १५९ ॥
तापे शीतं व्यञ्जनैस्तक्रभक्तं वृन्ताकाढ्य पथ्यमेतत्प्रदिष्टम्।
अह्नायोग्रं हन्ति सद्यो ज्वरन्तु पित्ताधिक्ये मूर्ध्नि तोयं च दद्यात् ॥ १६० ॥

नवीन ज्वर में रस प्रयोग बताते हुए प्रथम "उदकमञ्जरीरस" को कहते हैं—शुद्ध पारा, शुद्ध गन्धक, भुना हुआ सुहागा और मरिच ये सब समभाग में लेकर उसमें इन सबों के बराबर शक्कर मिला• कर रोहू मछली के पित्त के साथ तीन दिन तक बराबर खरल करें पश्चात् इसमें से २ या तीन रत्ती के बराबर गोली बनाकर उसे अदरख के स्वरस के साथ रोगी को खिलावें, इसके खाने के बाद यदि गर्मी मालूम पड़े तो शीतल उपचार (शीतल जल पिलाना, पंखे की हवा करना) करें और भात, मट्ठा तथा बैंगन का शाक प्रायः करके भोजन के लिये देवें, क्योंकि यही पथ्य कहा हुआ है। इसके सेवन करने से एक ही दिन में भयङ्कर भी नवीन ज्वर शान्त हो जाता है। यदि पित्त की अधिकता हो तो शिर के ऊपर शीतल जल की धारा देनी चाहिये (आधुनिक मात्रा १ से १½ रत्ती तक देनी चाहिये)॥१५९-१६०॥

***अस्य प्रक्रिया—पारा शुद्ध भाग १, गन्धक भाग १, सोहागा भृष्ट भाग १, मरिच-भाग १, शर्करा भाग ४, रोहितमत्स्यपित्त भाग ४, प्रतिदिनं सर्वं दिनत्रय मर्दयेत्। रसमिमं रक्तिकात्रयमितमार्द्रकरसेन दद्यात्। ओदन, तक्रं, वृन्ताकफलं च भोक्तुं दद्याद्, व्यञ्जनाद्यैः शीतलमुपचार कुर्याद्। अयमुदकमञ्जरीरसो नवज्वरेषु रसरत्नप्रदीपे उक्तः॥ १५९-१६० ॥**

इसके बनाने की प्रक्रिया—पारा शुद्ध १ भाग, गन्धक १ भाग, भुना हुआ सुहागा १ भाग, मरिच १ भाग, शक्कर ४ भाग, रोहू मछली का पित्त ४ भाग, प्रतिदिन इन सबों को एकत्र कर तीन दिन तक खरल करना चाहिये। इस रस की मात्रा २ या ३ रत्ती के बराबर है अत उतनी बड़ी गोली बना लेनी चाहिये और उसे अदरख के स्वरस के साथ देना चाहिये। एवम् भात, मट्ठा, बैंगन का शाक खाने के लिये देना चाहिये। और पंखे आदि के द्वारा हवा करके शीतल उपचार करना चाहिये। यह उदक मञ्जरी रस नवीन ज्वर के लिये रसरत्नप्रदीप ग्रन्थ मे कहा हुआ है ॥ १५९-१६० ॥

अथ ज्वरधूमकेतुरसमाह—

भवेत् सम सूतसमुद्रफेनहिङ्गूलगन्धं परिमर्द्य यामम्।
नवज्वरे वल्लयुग त्रिघस्रमार्द्राम्भसाऽय ज्वरधूमकेतुः ॥ १६१ ॥

ज्वरधूमकेतु रस—शुद्धपारा; शुद्ध गन्धक, शुद्ध हिंगुल (सिंगरफ), समुद्रफेन इन सबों को समान भाग में लेकर एक पहर तक अदरख के स्वरस के साथ खूब खरल करें। पश्चात् ४–६ रत्ती प्रमाण की (मात्रा अधिक होने से १–२ रत्ती तक की) गोली बनाकर उसमें से १ गोली अदरख के स्वरस के साथ तीन दिन तक नवीन ज्वर में रोगी को खिलाना चाहिये। यह ज्वर के नाश करने मे धूमकेतु है अत. इसका नाम ज्वरधूमकेतु रस कहा गया है ॥ १६१ ॥

***अस्य प्रक्रिया यथा-पाराशुद्ध, हिङ्गुलशुद्ध, गन्धकशुद्ध, समुद्रफेन-समभागं सर्वं याम-मेकमार्द्रकरसेन समर्द्य रक्तिकाषट्कमितमार्द्रकरसेन दिनत्रय नवज्वरी भक्षयेद्दिनत्रयान्नवज्वरो नश्येद्। इति ज्वरधूमकेतु., रसेन्द्रचिन्तामणौ ॥ १६१ ॥**

[illegible]—पारा शुद्ध, हिङ्गुल (सिंगरफ) शुद्ध, गन्धक शुद्ध, समुद्रफेन इन सबों को समान भाग [illegible] दो पहर तक अदरख के स्वरस के साथ खूब खरल कर ४–६ रत्ती प्रमाण [illegible] गोलियाँ बनाकर इसे अदरख के रस के साथ तीन दिन तक नवीन ज्वर वाला रोगी खावें, [illegible] तीन दिन के अन्दर ही नवीन ज्वर दूर हो जाता है । यह ज्वरधूमकेतु रस रसेन्द्रचिन्तामणि [illegible] में कहा हुआ है ॥ १६१ ॥

अथ महाज्वराङ्कुशरसमाह—

शुद्धसूतो विषं गन्धः प्रत्येक भागसम्मितः । धूर्त्तबीजं त्रिभागं स्यात्सर्वेभ्यो द्विगुणा भवेत् ॥१६२॥
[illegible] सूक्ष्मं चूर्णं प्रयत्नतः । देयं जम्बीरमज्जाभिश्चूर्णं गुञ्जाद्वयोन्मितम् ॥१६३॥
[illegible] हन्ति त्रिदोषजम् । ऐकाहिकं द्व्याहिकं च त्र्याहिकं च चतुर्थकम् ॥१६४॥
विषमञ्च ज्वरं हन्त्याशु जीर्णञ्च सर्वथा । महाज्वराङ्कुशो नाम्ना रसोऽयं सर्वसम्मतः ॥१६५॥

[illegible]—शुद्ध पारा, शुद्ध विष, शुद्ध गन्धक ये सब प्रत्येक एक २ टङ्क; धतूरे का बीज [illegible] टङ्क, इन सबों के दूना अर्थात् १२ टङ्क घोक (भटभाड़ अर्थात् सत्यानाशी की जड़) लेकर सबों का [illegible] चूर्ण कर डाले और इसे जम्बीरी नीबू अथवा अदरख के रस के साथ दो रत्ती प्रमाण खाने [illegible] तो इससे ऐकाहिक (अंतरिया), द्व्याहिक, त्र्याहिक, (तिजरिया), चातुर्थिक (चौथिया) ज्वर, [illegible] नवीन तथा पुराना सभी प्रकार के ज्वर नष्ट हो जाते हैं । यह महाज्वराङ्कुश नाम से [illegible] सभी वैद्य लोगों का सम्मत है (आधुनिक मात्रा १ रत्ती तथा अनुपान मधु, आदी [illegible]) ॥ १६२–१६५ ॥

[illegible]—शुद्धपारा, शुद्धगन्धक, शुद्धविष, प्रत्येकं टंक १, धत्तूरबीज टंक ३, घोक टंक १२, सर्वेषां चूर्णमतिसूक्ष्मं कर्त्तव्यम् । इति महाज्वराङ्कुशः सर्वज्वरेषु शार्ङ्गधरे ॥१६२–१६५॥

[illegible]—शुद्ध पारा, शुद्ध गन्धक, शुद्ध विष, प्रत्येक एक २ टङ्क, धतूरा का बीज ३ टङ्क, घोक १२ टङ्क [illegible] । [illegible] चूर्ण [illegible] करना चाहिये । यह महाज्वराङ्कुश रस सभी ज्वरों में दिया [illegible] है । [illegible] में कहा हुआ है ॥ १६२–१६५ ॥

अथ ज्वरघ्नी वटिकामाह—

[illegible] पिप्पली शिवा । आकारकरभो [illegible] ॥१६६॥
[illegible] धमी । एतत् सर्वं [illegible] ॥ १६७ ॥
[illegible] वटीं कृत्वा दद्यान्नवे ज्वरे बुधः । शिशिरमानुपानेन ज्वरघ्नी वटिका मता ॥१६८॥

[illegible] शुद्ध [illegible] चूर्ण [illegible] ॥ १६६–१६८ ॥

[illegible] = "[illegible]" इति लोके । शिवा = हरीतकी । [illegible] = "[illegible]" इति [illegible] । [illegible] ज्वरघ्नी [illegible] ॥ १६६–१६८ ॥

[illegible] ॥ १६६–१६८ ॥

[illegible]

[illegible] ॥ १६९ ॥
[illegible] ॥ १७० ॥

[illegible] ॥ १६९–१७० ॥

अथ नवज्वरहरीं वटीमाह—

रसो गन्धो विषं शुण्ठी पिप्पली मरिचानि च।
पथ्या विभीतकं धात्री दन्तीबीजं च शोधितम् ॥ १७१ ॥
चूर्णमेषां समांशानां द्रोणपुष्पीरसैः पुटेत्। वटीं माषनिभां कुर्याद्भक्षयेन्नूतने ज्वरे ॥ १७२ ॥

नवज्वरहरी वटी—शुद्ध पारा; शुद्ध गन्धक, शुद्ध विष, सोंठ, पीपल, मरिच, हरड़, बहेरा, आमला, शुद्ध दन्ती का बीज इन सबों को समान भाग में लेकर चूर्ण कर डाले, पश्चात् गूमा के रस मे भावना देकर खरल करके उरद के बराबर गोली बना डाले। इसको नवीन ज्वर में सेवन करना चाहिये॥१७१-१७२॥

अथ सर्वज्वरहरं रसमाह—

एकभागो रसो भागद्वय शुद्धश्च गन्धकम्। गरलस्य त्रयो भागाश्चतुर्भागा हिमावती ॥ १७३ ॥
जैपालकः पञ्चभागो निम्बूद्रवविमर्दितः। कृमिघ्नप्रमिता वट्यः कार्याः सर्वज्वरच्छिदः ॥ १७४ ॥
आर्द्रकेण दातव्या वटिकैका दिने दिने। जीर्णज्वरे तथाऽजीर्णे सामे वा विषमे तथा ॥१७५॥
ज्वरं सर्वं निहन्त्यसौ दावो वनमिवानलः ॥ १७६ ॥

सर्वज्वरहर रस—शुद्धपारा १ भाग, शुद्धगन्धक २ भाग, शुद्ध विष ३ भाग, चोक (सत्यानाशी की जड़) ४ भाग, शुद्ध जमाल गोटा ५ भाग लेकर इन सबों के चूर्ण को नीबू के रस के साथ खूब खरल करके बायविडङ्ग के समान गोली बना लेवै। इस गोली के सेवन करने से सम्पूर्ण ज्वर दूर होते हैं। और अदरख के रस के साथ प्रतिदिन इसकी एक १ गोली देनी चाहिये; जीर्णज्वर (पुराना ज्वर), अजीर्ण ज्वर (नवीन ज्वर); सामज्वर (आमदोष युक्त ज्वर), विषमज्वर इन सब में प्रयोग करने से यह वटी सपूर्ण ज्वरों को इस भाती नष्ट करती है, जैसे कि दावाग्नि वन को नष्ट कर देती है ॥ १७३–१७६ ॥

इति नवज्वरे रसाः।

अथ सामान्यज्वरे रसाः।

तत्र महाज्वराङ्कुशरस (सर्वज्वरेषु)—

शुद्धं सूतं विषं गन्धं धूर्त्तबीजं त्रिभिः समम्। चतुर्णां द्विगुणं व्योषं चूर्णं गुञ्जाद्वयोन्मितम्॥१७७॥
आर्द्रकस्य रसैः किं वा जम्बीरस्य रसैर्युतम्। महाज्वराङ्कुशो नाम्ना सर्वज्वरविनाशनः ॥१७८॥
ऐकाहिकं द्व्याहिकञ्च त्र्याहिकञ्च चतुर्थकम्। विषमं वा त्रिदोषं वा ज्वरं हन्ति न संशयः १७९

अब सामान्यरूप से ज्वर में रसों को कहते हुये प्रथम महाज्वराङ्कुश रस को कहते हैं, जो कि सम्पूर्ण ज्वरों में दिया जाता है—महाज्वराङ्कुश रस—शुद्ध पारा, शुद्ध विष, शुद्ध गन्धक ये तीनों द्रव्य प्रत्येक एक १ भाग, धतूरे के बीज तीन भाग, सोंठ ४ भाग, पीपल ४ भाग, मिरच ४ भाग लेकर इन सबों का अत्यन्त सूक्ष्म चूर्ण तैयार कर लेवै पश्चात् दो रत्ती प्रमाण लेकर अदरख या जमीरी नीबू के रस के साथ ज्वररोगी को सेवन करावै। यह महाज्वराङ्कुश नामक रस सम्पूर्ण ज्वरों को नष्ट करने वाला होता है क्योंकि इसके सेवन से ऐकाहिक (अँतरिया), द्व्याहिक, त्र्याहिक (तिसरिया), चातुर्थिक (चौथिया) ज्वर; विषमज्वर, त्रिदोष से उत्पन्न हुआ ज्वर ये सभी ज्वर निःसन्देह नष्ट हो जाते हैं ॥ १७७–१७९ ॥

*प्रक्रिया—शुद्धपारद टंकः १, शुद्धविष टंकः १, शुद्धगन्धक टंकः १, धत्तूरबीज टंकः ३, त्रिकटु प्रत्येक टंकः ४, सर्वेषां चूर्णमतिसूक्ष्मं कर्त्तव्यम्। इति महाज्वराङ्कुशः सर्वज्वरेषु ॥ १७७–१७९ ॥

प्रक्रिया—शुद्धपारा १ टङ्क, शुद्ध विष १ टङ्क, शुद्ध गन्धक १ टङ्क, धतूरा के बीज ३ टङ्क, त्रिकटु प्रत्येक ४ टङ्क (सोंठ ४ टङ्क, पीपल ४ टङ्क, मिरच ४ टङ्क), इन सबों का चूर्ण अति सूक्ष्म करना चाहिये। यह महाज्वराङ्कुश रस सम्पूर्ण ज्वरों में देने योग्य होता है (इस की मात्रा १ चावल से २ चावल बराबर है) ॥ १७७–१७९ ॥

अथ श्वासकुठाररसमाह—

सूतं गन्धं विषं चैव टङ्कणं च मनःशिला। एतानि टङ्कमात्राणि मरिचं स्वष्टटङ्ककम् ॥ १८० ॥
कटुत्रयं टङ्कषट्कं खल्ले क्षिप्त्वा विचूर्णयेत्। रसः श्वासकुठारोऽयं सर्वज्वरहरः परः ॥१८१॥

श्वासकुठाररस—शुद्ध पारा, शुद्ध गन्धक, शुद्ध विष, शुद्ध सुहागा, शुद्ध मैनशिल ये सब प्रत्येक

[illegible] २ टङ्क, [illegible] ८ टङ्क, शिङ्गरफ ६ टंक (सोंठ २ टंक, पीपल २ टङ्क, मरिच २ टङ्क) लेकर इन [illegible] रस में [illegible] खरल करके चूर्ण बना लेवें. इसका नाम श्वासकुठाररस है और यह सम्पूर्ण [illegible] को भी [illegible] नष्ट करने वाला होता है ॥ १८०–१८१ ॥

इति श्वासकुठारो रसः। श्वासे, सर्वज्वरे, रसरत्नाकरे ॥ १८०–१८१ ॥

यह श्वासकुठाररस श्वास (दमा) में तथा सम्पूर्ण ज्वरों में दिया जाता है और इसका उल्लेख रसरत्नाकर ग्रन्थ में मिलता है, (इसकी मात्रा १ रत्ती पान के रस में देना चाहिये) ॥१८०–१८१॥

अथ ज्वराङ्कुशः—

दारदं शिखिग्रीवं रसकञ्च पृथक् पृथक्। टङ्कत्रयानुमानेन गृहीत्वा कनकद्रवैः ॥ १८२ ॥
मर्दयेत् त्रिदिनं कार्या वटी चणकमात्रया। मरिचैरेकविंशत्या सप्तभिस्तुलसीदलैः ॥ १८३ ॥
[illegible] पथ्यं कुर्याद्भक्त [illegible]। तरुणं विषमं जीर्णं हन्यात्सर्वज्वरं ध्रुवम् ॥ १८४ ॥

ज्वराङ्कुश—शुद्ध दारचूर्ण (शिंगरफ), शुद्ध तूतिया, शुद्ध खपरिया ये सब पृथक् २ तीन २ टंक लेकर धतूरे के रस के साथ तीन दिन तक खरल करके चने के बराबर २ गोलियाँ बना लेवें. और प्रतिदिन दो २ गोली २१ काली मिरच और ७ तुलसी के पत्तों के साथ सेवन करे। इसमें दूध [illegible] तथा [illegible] पथ्य है, इससे नवीन, विषम तथा पुराने सभी प्रकार के ज्वर निश्चय [illegible] ॥ १८२–१८४ ॥

दारदस्य=दारचूर्णम्। शिखिग्रीवा=तुत्थम्। रसकं 'खपरिया' इति लोके। प्रत्येकस्यात्र टङ्कत्रयम् ३ धत्तूरपत्रस्य रसेन मर्दयेत्। इति ज्वराङ्कुशः सर्वज्वरेषु ॥ १८२–१८४ ॥

"[illegible]" [illegible] "शिखिग्रीवा" इसका "तूतिया"। "रसक" इसका "खपरिया" [illegible]। और ये तीनों द्रव्य प्रत्येक तीन २ टङ्क लेकर धतूरे के पत्ते के रस के साथ मर्दन ([illegible]) करना चाहिये। यह ज्वराङ्कुश सम्पूर्ण ज्वरों में दिया जाता है। (मात्रा १ से २ रत्ती [illegible] चाहिये) ॥ १८२–१८४ ॥

अथ हुताशनरसः—

नागरं [illegible] टङ्कणं कर्षकत्रयम्। मरिचं [illegible] ॥ १८५ ॥
विषं [illegible] सर्वमेकत्र चूर्णयेत्। रसो हुताशनो नाम्ना साध्यो [illegible] ज्वरे ॥१८६॥

हुताशन रस—सोंठ १ तोला, शुद्ध सुहागा ३ तोला, मरिच १॥ तोला, [illegible] १॥ तोला, शुद्ध विष [illegible] चूर्ण कर लेवें। यह हुताशन नामक रस है, [illegible] सभी प्रकार के [illegible] आदि [illegible] चाहिये, [illegible] सम्पूर्ण ज्वर नष्ट हो जाते हैं ॥१८५–१८६॥

[illegible]

[illegible] ॥ १८७ ॥
[illegible] ॥ १८८ ॥

[illegible] ॥ १८७–१८८ ॥

[illegible]

[illegible] ॥ १८९ ॥
[illegible] ॥ १९० ॥

[illegible]

टंकः २, रोहितमत्स्यपित्त टंकः १, सर्वमेकत्र चूर्णयित्वा निम्बपत्ररसैर्भावयित्वा २१ वारानुष्णे संशोष्य १ रक्तिकामात्र श्वेतशर्करया भक्षणीयम्। इति सर्वज्वरे रविसुन्दरो रसः॥ १८९-१९०॥

इसकी प्रक्रिया—शुद्ध पारा १ टक, शुद्ध गन्धक १ टक, शुद्ध विष १ टक, दुगुनी हरताल से मारा हुआ तबा २ टक, रोहू मछली का पित्त १ टक, इन सबों को एकत्र चूर्णकर नीम के पत्तों के रस के साथ २१ बार भावना देकर धूप में सुखाकर १ रत्ती प्रमाण सफेद शक्कर के साथ सेवन करना चाहिये। यह रविसुन्दर रस सभी प्रकार के ज्वरों मे देने योग्य होता है॥ १८९-१९०॥

अथ कज्जलीमाह—

(रसरत्नप्रदीपे)

शुद्धं सूत तथा गन्ध खल्वे तावद्विमर्दयेत्। सूत न दृश्यते यावत्किन्तु तत्कज्जल भवेत्॥१९१॥
एषा कज्जलिका ख्याता बृंहणी वीर्यवर्द्धिनी। नानाऽनुपानयोगेन सर्वव्याधिविनाशिनी॥१९२॥

रसरत्नप्रदीप में कही हुई कज्जली बनाने की विधि—शुद्ध पारा और शुद्ध गन्धक दोनों को समान भाग में लेकर खरल में रख तब तक घोटना चाहिये कि जब तक पारा दिखाई पडे, पश्चात् जब पारा न दिखाई पडे किन्तु कज्जली के रूप में हो जाय तो घोटना बन्द कर देना चाहिये। इसीको कज्जली कहते हैं। यह कज्जली बृंहण (धातुवर्धक होती है एवम् अनेक प्रकार के अनुपान के साथ देने से सम्पूर्ण रोगों को दूर करने वाली होती है॥ १९१-१९२॥

अथ रसपर्पटीमाह—

जपापत्ररसेनाथ वर्द्धमानरसेन च। भृङ्गराजरसेनापि काकमाच्या रसेन च॥ १९३॥
रस संशोधयेत्तेन तत्समं शोधयेद्बलिम्। भृङ्गराजरसैः पिष्ट्वा शोषयेदर्करश्मिभिः॥ १९४॥
सप्तधा वा त्रिधा वाऽपि पश्चाच्चूर्णन्तु कारयेत्। चूर्णयित्वा सम तेन रसेन सह मर्दयेत्॥१९५॥
नष्टसूतं यदा चूर्णं भवेत्कज्जलसन्निभम्। निर्धूमबदराङ्गारे द्रवीकुर्यात्प्रयत्नतः॥ १९६॥
तत्र तं महिषीविष्ठास्थापिते कदलीदले। निक्षिपेत्तदुपर्य्यन्यत् पत्र दत्वा प्रपीडयेत्॥ १९७॥
शीतलश्च ततः पश्चात् समुद्धृत्य विचूर्णयेत्। एवं सिद्धा भवेद्व्याधिघातिनी रसपर्पटी॥१९८॥
ज्वरादिव्याधिभिर्व्याप्त विश्व दृष्ट्वा पुरा हरः। चकार कृपया युक्त सुधावद्रसपर्पटीम्॥ १९९
रक्तिकासम्मितां तावद् भृष्टजीरकसयुताम्। गुञ्जाऽर्द्धभृष्टहिङ्ग्वाढ्यां भक्षयेद्रसपर्पटीम्॥२००॥
रोगानुरूपभैषज्यैरपि तां भक्षयेद् बुधः। पिबेत्तदनु पानीयं शीतल चुलुकत्रयम्॥ २०१॥
प्रत्यह वर्धयेत्तस्या एकैकां रक्तिकां भिषक्। नाधिकां दशगुञ्जातो भक्षयेत्तां कदाचन॥ २०२॥
एकादशदिनारम्भात्तां ततो वाऽपकर्षयेत्। एवमेतां समश्नीयान्नरो विंशतिवासरान्॥२०३॥
शिव गुरूस्तथा विप्रान्पूजित्वा प्रणम्य च। श्रद्धया भक्षयेदेतां क्षीरमांसरसाशनः॥ २०४॥
ज्वरञ्च ग्रहणीं वाऽपि तथाऽतीसारमेव च। कामला पाण्डुरोगञ्च शूल प्लीहं जलोदरम्॥ २०५
एवमादीन् गदान् हत्वा हृष्टः पुष्टश्च वीर्यवान्। जीवेद्वर्षशत साग्रं वलीपलितवर्जितः॥२०६॥

रसपर्पटी—सर्वप्रथम पारे को लेकर अढौल के पत्ते के रस के साथ यत्नपूर्वक शोधन करे, तत्पश्चात् सफेद एरण्ड के पत्तों के साथ, भागरा के रसके साथ और अन्त मे मकोय के रसके साथ पारे का शोधन करे। पुन इसके बाद पारा हीके बराबर गन्धक लेकर उसका भी पूर्वोक्त रसों के साथ पृथक् २ शोधन करे। और उक्त गन्धक को भांगरा के रस में मर्दन करके धूप में, रखकर सुखावे, इस भांति से ७ बार वा तीन बार गन्धक को भांगरा के रस में मर्दन कर धूप में रखकर सुखाने के बाद चूर्ण करके उक्त पाराके साथ मिलाकर खूब खरल करे, और जब खरल करते२ पारा जिस समय न दिखाई पडे एवम् पारा गन्धक मिलकर कज्जली की भांति दिखाई पडने लगे तब उस कज्जली को लोहे की कलछी में रखकर उसे निर्धूम बेरके कोयलों पर यत्नपूर्वक रखकर गलाना चाहिये और जब गल जाय तब भैस के गोबर के ऊपर केले के पत्ते को रखकर उसीके ऊपर उडेल देवे और ऊपरसे दूसरे केलेके पत्ते को रखकर दबा देवे, उस के बाद जब शीतल हो जाय तब केलेके पत्ते के ऊपर से उठाकर उसका चूर्ण कर डाले, इसप्रकारसे बनी हुई यह रसपर्पटी सम्पूर्ण रोगोंको दूर करने वाली होती है। पहले एक समय भगवान् श्रीशिवजी ने ज्वरादिक अनेक प्रकार के रोगों से व्याप्त इस ससार को देखकर कृपा से युक्त हो अमृत के समान इस रसपर्पटी को बनाया। इसे १ रत्ती प्रमाण लेकर १ रत्ती भुने जीरे का चूर्ण और आधी रत्ती भुने हींगका चूर्ण इन दोनों के साथ मिलाकर खाना चाहिये। और बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिये

कि—यह रोगानुसार अनुपान द्रव्यों के साथ मिलाकर इसका सेवन करे और पश्चात् ऊपर से तीन चिरपू [illegible] प्रतिदिन एक २ रत्ती बढ़ाता जाय । इस भांति बढ़ाते २ दश रत्ती से अधिक [illegible] नहीं बढ़ाना चाहिये और ११ वें दिन से एक २ रत्ती प्रतिदिन घटानी चाहिये । इस प्रकार से २० दिन तक सेवन कराना चाहिये । जो मनुष्य प्रथम श्रीशिवजी, गुरु [illegible] का पूजन करके और उन्हें भक्तिपूर्वक प्रणाम कर इस रसपर्पटी का इच्छापूर्वक सेवन करता है, तथा दूध और [illegible] ([illegible]) का भोजन करता है, वह ज्वर, संग्रही, अतीसार, [illegible], पाण्डुरोग, शूल, अर्श, [illegible] आदिक भयङ्कर रोगों को नष्ट करके स्वयं हृष्ट, पुष्ट, दीर्घ- [illegible] तथा [illegible] से सहित होता हुआ १०० वर्ष से अधिक समय तक जीता है॥१९३–२०३॥

अथ ज्वरिणोऽन्नदानसमयस्तत्र चरकः—

क्षुत्सम्भवति पक्वेषु रसदोषमलेषु च । काले वा यदि वाऽकाले सोऽन्नकाल उदाहृतः ॥२०४॥

[illegible] को अन्न देने का समय कब है ? इस विषय में चरक का वचन—रस, दोष तथा मलों के [illegible] होने पर ही क्षुधा लगती है, अतः जिस समय में क्षुधा लगती है, वह समय चाहे अन्न देने का हो या न हो किन्तु वस्तुतः जो क्षुधा लगने का समय है, वही अन्न देने का समय कहा गया है २०९

अन्यच्च—

आमे पाकं गते तृष्णा यदा भोजनलालसा । भवेत्काले ह्यकाले वा सोऽन्नकाल उदाहृतः ॥२०८॥

और भी कहा है कि—मनुष्यों को जब आम दोष के पक जाने पर भोजन करने की लालसा होती है, उस समय चाहे अन्न देने का समय हो, या न हो किन्तु वस्तुतः वही समय अन्न देने का युक्तियुक्त होता है, ऐसा [illegible] ने कहा है ॥ २०८ ॥

अत्र कारणमाह—ज्वरस्य पाकावस्थाऽन्नदानकालः । तत्र ज्वरस्य पाककालश्च—

वातिकः सप्ताहेषु दशाहेन पैत्तिकः । श्लैष्मिको द्वादशाहेन ज्वरः पाकमुपैति हि ॥९५॥

यहां पर [illegible] को और भी समझ लेना चाहिये, जो कि ये हैं—पूर्वोक्त [illegible] का कारण यह है कि—ज्वर में आम दोष की जब पाकावस्था होती है, तभी अन्न देने का समय होता है और ज्वर के [illegible] यह है कि—[illegible] ज्वर [illegible] दिन में, [illegible] दश दिन में और [illegible] ज्वर [illegible] दिन में [illegible] होता है ॥ ९५ ॥

[illegible] पाक [illegible] । [illegible] रसपाको दोषपाकोऽपि कथितः । दोषपाकं विना ज्वरपाको न भवति, रसपाकं विना दोषपाकश्च न भवति । ननु यथा पैत्तिकज्वरो दशाहो- [illegible] पाकं याति, [illegible] दृश्यते । तथा श्लैष्मिको ज्वरो द्वादशाहोरात्रेण पाकं याति, [illegible] दृश्यते । तथा वातिको ज्वरः सप्ताहोरात्रेण पाकं याति, अष्टमे [illegible] ? [illegible] विशेषेण दीयते इति ? उच्यते—

[illegible] ॥ ९६ ॥

[illegible]

[illegible]

[illegible]

*ज्वराभिभूतः षडहे व्यतीते विपक्वदोषः कृतलङ्घनादिः।
यो भेषज खादति वैद्यवश्यो निःसंशयं हन्त्यचिरात्स रोगान् ॥ ६७ ॥

इस वचन से यह सिद्ध हुआ कि—आम रस के पकने के बाद आहार पाये विना वायु एक क्षणमात्र भी लङ्घन नहीं सह सकता है। बल्कि वह (वायु) आशु(शीघ्र)कारी होने से क्षणमात्र में आक्षेपकादि अनेक वातसम्बन्धी रोगों को उत्पन्न कर देता है, अत एव वातज्वर में पाक दिनों के अन्तिम दिन अर्थात् ७ वें ही दिन मे अन्न दिया जाता है और इसी विषय में "धन्तन्तरि" ने भी कहा है कि—

वातज्वर से पीडित जो मनुष्य वैद्य के आज्ञावशवर्त्ती होकर लङ्घन आदि किये हुये ६ दिन व्यतीत होने पर वातदोष के पच जाने पर भेषज (औषध) खाता है, वह निःसन्देह शीघ्र अपने रोग को दूर करता है ॥ ६७ ॥

*ज्वराभिभूतः = वातज्वराभिभूतः। विपक्वदोषः = पक्ववातः। कृतलङ्घनादिः = आदिशब्दात् कृतपक्वजलपाननिवातगृहवासगुरूष्णवसनधारणादिः। भेषजमित्यन्नस्याप्युपलक्षणम्। अत एवाह चरकः—

*ज्वरितं षडहेऽतीते लघ्वन्नं प्रतिभोजितम्।
पाचनं शमनीयं वा कषायं पाययेत्तु तम् ॥ ६८ ॥ इति।

यहां पर "ज्वराभिभूत" पद का "वातज्वर से पीडित" और "विपक्वदोष" पद का "वात दोष के पच जाने पर" यह अर्थ समझना चाहिये और "घृतलङ्घनादि." इस पद मे पठित "आदि" पद से अर्थात् "लङ्घन आदि किये हुये" इसमें "आदि" पद से "पकाया हुआ जल पीना, वायुरहित स्थान में रहना, भारी और गर्म कपडों को पहिनना" इत्यादि का भी बोध करना चाहिये। अर्थात् "लङ्घन के साथ २ इन सभों को भी किये हुये" यह अर्थ समझना चाहिये। और "भेषज" अर्थात् औषध यह पद कहने से "अन्न का भी बोध करना चाहिये अर्थात् अन्न भी खिलाना चाहिये" क्योंकि यह अन्न का भी उपलक्षण है। अत एव चरक ने भी कहा है कि—

वातज्वर वाले रोगी को ६ दिन व्यतीत होने पर ७ वें दिन लघु अन्न पथ्य देकर ८ वें दिन अवस्थाऽनुसार पाचन कषाय (क्वाथ) वा शमन कषाय (क्वाथ) पिलाना चाहिये ॥ ६८ ॥

*ज्वरितं = वातज्वरिणम्। षडहे ते इत्युपलक्षणम्। पित्तज्वरिणं दशाहेऽतीते। श्लेष्मज्वरिणं द्वादशाहेऽतीते। लघ्वन्नं प्रतिभोजितं ज्वरिणम्—

*पाचनं शमनीयं वा कषायं पाययेत्पुनः। स एव सर्वज्वरिणं दिनान्ते भोजयेल्लघु ॥ ६९ ॥

यहांपर "ज्वरितम्" पद का "वातज्वर वाले रोगी को" यह अर्थ समझना चाहिये। और "षडहेऽतीते अर्थात् ६ दिन व्यतीत होने पर" ऐसा जो कहा गया है वह उपलक्षण है, अत पित्तज्वर वाले रोगी को दश दिन व्यतीत होने पर और कफज्वर वाले को १२ दिन व्यतीत होने पर लघु अन्न पथ्य देकर पाचन वा शमन कषाय पिलाना चाहिये।

और चरक ने और भी कहा है कि—वैद्य को चाहिये कि वह सभी प्रकार के ज्वर वाले रोगी को दिन के अन्त (मध्य) में लघु अन्न भोजन करावे ॥ ६९ ॥

*दिनान्ते = अन्तशब्दोऽत्र मध्यवाची तेन त्रिधा विभक्तस्य दिवसस्य मध्यभागे पित्तस्य प्राधान्यसमये। उक्तं च वाग्भटेन—

*ते व्यापिनोऽपि हृन्नाभ्योरधोमध्योर्ध्वसंश्रयाः।
वयोऽहोरात्रिभुक्तानां तेऽन्तमध्यादिगाः क्रमात् ॥ ७० ॥

यहां पर "दिनान्ते" इस पद मे "अन्त" शब्द का "मध्य" अर्थ समझना चाहिये, इसमे दिन के तीन भाग करके मध्यभाग में अर्थात् पित्त की प्रधानता के समय मे" यह अर्थ वस्तुत "दिनान्ते" अर्थात् "दिन के अन्त (मध्य) में" इन पदों का समझना चाहिये और इसी विषय में वाग्भट ने भी कहा है कि—

ये अर्थात् वात, पित्त तथा कफ ये तीनों दोष यद्यपि शरीर में सर्वत्र व्याप्त होकर रहते हैं, तथापि यथाक्रम हृदय और नाभि के नीचे के भाग में, मध्य भाग में और ऊपर के भाग मे विशेष रूप से रहते हैं। और इसी प्रकार से अनुक्रम से अवस्था (बाल्य, युवा तथा वृद्ध अवस्था), दिन (प्रातः, मध्याह्न, अपराह्न), रात्रि (सायम्, अर्धरात्र, पश्चिमरात्र अर्थात् पिछली रात), भुक्त (भोजन) इन सबों के अन्त, मध्य तथा आदि भागों में उन सबों (वातादिकों) की प्रधानता पाई जाती है ॥७०॥

*ते = वातपित्तश्लेष्माणः। पित्तकालेऽपि मध्याह्नादर्वाक्। यत आह—

यामसध्ये न भोक्तव्यं यामयुग्मं न लङ्घयेत् । याममध्ये रसोत्पत्तिर्यामयुग्माद् बलक्षयः ॥७१॥

यहाँ पर "त्रि अर्थात् ३" इसके कहने से "वात, पित्त तथा कफ इन तीनों दोषों का ग्रहण करना चाहिये । और यद्यपि पित्त का काल वस्तुतः दिन में १० बजे से लेकर २ बजे तक है तथापि मध्याह्न अर्थात् १२ बजे के पहले ही पथ्य देना चाहिये । क्योंकि इस विषय में अन्यत्र कहा हुआ है कि— १ पहर के अन्दर नहीं भोजन करना चाहिये और दो पहर का उल्लङ्घन भी नहीं करना चाहिये अर्थात् दो पहर के बाद भी भोजन नहीं करना चाहिये क्योंकि पहले पहर के मध्य में भोजन करने से रस की उत्पत्ति होती है और दो पहर के बाद भोजन करने से बल का क्षय होता है ॥ ७१ ॥

उपपत्त्यन्तरमपरिमितिश्चात्र, यत आह ।

श्लेष्मक्षये प्रवृद्धोष्मा बलवाननलस्तदा । वेगापायेऽन्यथा तद्धि ज्वरवेगाभिवर्द्धनम् ॥ ७२ ॥

अब यह प्रश्न होती है कि—क्या इस पूर्वोक्त वचन के आशय से ही एक पहर के अन्दर तथा दो पहर के बाद भोजन का निषेध समझना चाहिये कि अन्य भी कोई उपपत्ति है ? इसके उत्तर में यह कहते हैं कि—अन्यत्र कहा हुआ है कि—कफ के क्षय होने पर जिस समय जठराग्नि की उष्णता बढ़ती है उस समय अग्नि बलवान् होती है अतः इसी समय अर्थात् जठराग्नि के वेग के समय में ही भोजन देना चाहिये । अन्यथा अर्थात् उक्त समय से अन्य समय में जठराग्नि का वेग नष्ट होजाने पर भोजन करने से वह भोजन ज्वर के वेग को बढ़ाने वाला होता है ॥ ७२ ॥

तदा = पित्तप्राधान्यसमये । अन्यथा = उक्तसमयादन्यथा । वेगापाये = जठराग्निवेग-नाशे । तद् = भोजनम् । ज्वरवेगाभिवर्द्धनं भवतीत्यर्थः ॥ ७२ ॥ इति ॥ २०८ ॥

यहाँ पर "तदा" पद का "पित्त की प्रधानता के समय में" । "अन्यथा" पद का "उक्त समय से अन्य समय में" । "वेगापाये" पद का "जठराग्नि का वेग नष्ट हो जाने पर" और "तद्" पद का "भोजन" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ७२ ॥ २०८ ॥

अथ विषमज्वरेऽन्नदानसमयविशेषमाह चरकः—

सर्वज्वरेषु [illegible] मात्रावल्लघु भोजयेत् । वेगापायेऽन्यथा तद्धि ज्वरवेगाभिवर्द्धनम् ॥२०९॥

विषमज्वर में अन्न देने के [illegible] भगवान् कहते हैं कि— सम्पूर्ण [illegible] मात्रा के साथ लघु [illegible] भोजन [illegible] वह भोजन ज्वर के वेग को बढ़ाने वाला होता है ॥ २०९ ॥

सर्वज्वरेषु = सर्वविषमज्वरेषु, वेगापाये = ज्वरवेगापाये, भोजयेत् । अन्यथा = ज्वरवेगापायं विना, तद् = भोजनं, ज्वरवेगाभिवर्द्धनं भवति ।

यहाँ पर "सर्वज्वरेषु" पद का "सम्पूर्ण [illegible]" । "वेगापाये" पद का "ज्वर का वेग नष्ट होने पर" । [illegible] ॥ २०९ ॥

[illegible]

[illegible] ॥ २१० ॥

[illegible] ॥ २१० ॥

[illegible]

[illegible] ॥ ११ ॥

[illegible]

[illegible] ॥ २११ ॥

[illegible]

अथान्नग्रहणसमये ज्वरितेन कवलकरणमित्याह--

यथादोषोचितैर्द्रव्यैः कर्त्तव्यः कवल ह्ः। अरोचकास्यवैरस्यमलपूतिप्रसेकहृत् ॥ २१२ ॥
भृष्टजीरकचूर्णेन सिन्धुजन्मयुतेन च। जिह्वादन्तान्मुखस्यान्तर्घृष्ट्वा कवलमाचरेत् ॥ २१३ ॥
मु , मल विगन्धत्वं विरसत्व च नश्यति। मनः प्रसन्न भवति भोजनेऽतिरुचिर्भवेत् ॥ २१४ ॥

अब सर्वप्रथम अन्न ग्रहण करने के समय ज्वर वाले रोगी को कवल ग्रहण (मुख के अन्दर औषधों द्वारा घर्षण आदि) करने के विषय में यह कहते हैं कि—सर्वप्रथम अन्न ग्रहण करने के समय ज्वर वाले रोगी को प्रथम दोषानुसार यथोचित औषधों द्वारा अर्थात् ज्वर को उत्पन्न करने वाले दोषों को शमन करने वाले औषधों द्वारा कवल ग्रहण करना उचित है जिससे कि रोगी की अरुचि, मुख की विरसता, मैल तथा दुर्गन्ध एवम् लार का टपकना दूर हो। कवल ग्रहण के द्रव्य निम्न लिखित ये हैं कि—भुने हुये जीरे के चूर्ण में सेंधा निमक का चूर्ण मिलाकर उसमे यदि जिह्वा, दांत और मुख के अन्दर अन्य भागों को योग्यताऽनुसार मलकर कवल ग्रहण करे तो उसके मुख का मल, दुर्गन्ध तथा विरसता ये सब नष्ट होते हैं और मन में प्रसन्नता तथा भोजन में अत्यन्त रुचि होती है ॥ २१२–२१४ ॥

अथ ज्वरिणे हितवस्तु दातव्यमित्याह—

ज्वरितो हितमश्नीयाद्यद्यप्यस्यारुचिर्भवेत्। अन्नकाले ह्यभुञ्जानः क्षीयते म्रियतेऽपि च ॥ २१५ ॥

ज्वर वाले रोगी को हितकारक वस्तु पथ्य में देने के विषय में यह कहते हैं कि—ज्वर से युक्त रोगी को उचित है कि यद्यपि हितवस्तु से उसे अरुचि होती हो तथापि वह पथ्य ग्रहण करते समय हितकारक वस्तु का ही पथ्य लेवे। यदि अरुचि होने से अन्न ग्रहण करने का समय उपस्थित होने पर भी अन्न न ग्रहण करे तो वह क्षीण होता २ अन्त में मर भी जाता है ॥ २१५ ॥

*अयमर्थः— यद्यपि ज्वरितस्य हिते भक्ष्येऽरुचिर्भवेत्, तथाऽपि ज्वरितो हितमेवाश्नीयादिति नियमः। यत आह सुश्रुतः—

*गुर्वभिष्यन्द्यकाले च ज्वरी नाद्यात्कथञ्चन। न तु तस्याहितं भुक्तमायुषे वा सुखाय च ॥७३॥
आनद्धः स्तिमितैर्दोषैर्यावन्त कालमातुरः। तावत्कालं स लघ्वन्नमश्नीयात्सुविरिक्तवत् ॥७४॥

यहां पर इसका भावार्थ यह समझना चाहिये कि—"यद्यपि ज्वर रोगी को हितकारक भोज्य-पदार्थों मे अरुचि हो तथापि वह हितकारक ही पदार्थों का भोजन करे" यह नियम है, क्यों कि सुश्रुत ने कहा भी है कि—

ज्वर युक्त रोगी—भारी, अभिष्यन्दकारक एवम् असमय में कभी भोजन न करे क्योंकि अहित-कारक भोज्य पदार्थों के खाने से उसकी आयु तथा सुख की हानि होती है।

और जब तक ज्वररोगी अपरिपक्व दोषों से व्याप्त हो तब तक वह भलीभांति विरेचन लिये हुए के समान लघु अन्न का पथ्य लिया करे ॥ ७३–७४ ॥

*आनद्धः स्तिमितैर्दोषैः=अपक्वैर्दोषैर्व्याप्त इत्यर्थः ॥ ७४ ॥

यहा पर "आनद्धः स्तिमितैर्दोषै" इन पदों का "अपरिपक्व दोषों से व्याप्त हो" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ७४ ॥

*ननु हिते वस्तुनि कथमरुचिः स्यादत आह—

*सातत्यात्स्वाद्वभावाच्च पथ्यं द्वेष्यत्वमागतम् ॥ ७५ ॥ इति।

अब यहां पर यह शङ्का होती है कि—ज्वर रोगी को हितकारक वस्तु मे अरुचि क्यों होती है? इसका उत्तर देते हुये यह कहते हैं कि—एक ही भोज्य पदार्थ को सर्वदा खाने से अथवा स्वादिष्ट न लगने से हितकारक वस्तु से रोगी को द्वेष (चिढ) हो जाता है ॥ ७५ ॥

*सातत्याद्=एकस्यैव भक्ष्यस्य सर्वदोपयोगात्। स्वाद्वभावात्=भक्ष्यान्तरादपि विस्वादुतः। पथ्यमप्रिय स्यात्तथाऽपि तदेव पथ्यम् ॥ ७५ ॥

यहां पर "सातत्यात्" अर्थात्—"एक ही भोज्य पदार्थ को सर्वदा खाने से"। "स्वाद्वभावात्" अर्थात् "जो सर्वदा खाता हो उससे अन्य हित कर वस्तु में स्वाद का अभाव होने से" वह भी अप्रिय हो जाय तथापि उसी को खाना चाहिये क्योंकि वही पथ्य है। यह अर्थ समझना चाहिये।

*कल्पनाविधिभिस्तैस्तैः प्रियत्वं गमयेत्पुनः ॥ ७६ ॥ इति।

अत एव—ज्वररोगी को जब पथ्य भोज्य पदार्थों से अरुचि हो तो उसी पथ्य पदार्थों को बनाने के प्रकार में भेद करके अर्थात् नाना प्रकार से उसे बना करके जिस प्रकार से वह कथंचन प्रिय लग सके-

[illegible] हितकारक पदार्थ ही ॥ ७६ ॥

[illegible] ज्वरितोऽन्नकालेऽश्नीयादेवेति द्वितीयो नियमः कुत इति चेत् ? हि=यतो हेतोर- [illegible] पीडनै=[illegible] वर्धति ततो म्रियतेऽपि च ॥ २१५ ॥

[illegible] हितकारक वस्तु का ही पथ्य [illegible] यह प्रथम नियम है तथा [illegible] ग्रहण करने [illegible] भूख लगने के समय पथ्य भोजन करे यह दूसरा नियम क्यों बनाया गया है ? इसी [illegible] कि—क्योंकि भूख लगने के समय अप्रिय होने से यदि भोजन न करे [illegible] धातु के परिपाक हो चुकने पर आहार भी न [illegible] है जिससे कि अन्त में वह मर भी जाता है। अतः [illegible] भूख लगने पर हितकारक ही वस्तु पथ्य रूप रोगी को खिलाना चाहिये [illegible] ॥ २१५ ॥

[illegible] ज्वरिताय [illegible]—

रक्तशाल्यादयः शस्ताः पुराणाः षष्टिकैः सह। यवाग्वोदनलाजार्थे ज्वरितानां ज्वरापहाः ॥२१६॥
मुद्गान् मसूरांश्चणकान् कुलत्थांश्च मकुष्ठकान्। यूषार्थं यूषसात्म्यानां ज्वरितानां प्रदापयेत् ॥२१७॥
पटोलपत्रं वार्ताकुं कठिल्लं कारवेल्लकम्। कर्कोटकं पर्पटकं गोजिह्वां बालमूलकम् ॥ २१८ ॥
पत्रं गुडूच्याः शाकार्थे ज्वरितानां ज्वरापहम्। लावान् कपिञ्जलानेणान् हरिणान् पृषतान् शशान् ॥२१९॥
कुरङ्गान् कालपुच्छांश्च तथैव मृगमातृकान्। मांसार्थं मांससात्म्यानां ज्वरितानां प्रदापयेत् ॥२२०॥

[illegible] उपर्युक्त रोगियों के लिये यवागू, भात तथा लावा [illegible] आदि के पुराने [illegible] तथा साठी के पुराने चावल [illegible] होते हैं।

[illegible] को यूष सात्म्य (प्रकृति के अनुकूल) हो तो उनके लिये यूष बनाने में [illegible] कुलथी और [illegible] चाहिये।

[illegible] परवल के पत्ते, बैंगन, [illegible], करेला, ककोड़ा, [illegible] और गुर्च के पत्ते इन सबों का शाक बनाकर देना चाहिये।

[illegible] मांस सात्म्य हो तो उन रोगियों को मांस देने में [illegible], कपिञ्जल ([illegible]), [illegible] ([illegible]), [illegible] ([illegible] का मृग), पृषत ([illegible]), [illegible] ([illegible]), मृगमातृका (हरिण विशेष) [illegible] देना चाहिये ॥ २१६—२२० ॥

[illegible] ॥२२१॥

[illegible] ॥ २२१ ॥

[illegible] ॥ २२२ ॥

[illegible] ॥२२३॥

[illegible] ॥२२४॥

[illegible]

[illegible] ॥ २२५ ॥

[illegible]

[illegible]

[illegible] ॥ २२६ ॥

शुण्ठीसैन्धवसंयुक्तो दीपनः पाचनश्च सः। अन्नस्य सम्यक्सिद्धत्वं ज्ञेया मण्डस्य सिद्धता ॥२२५॥
पेयायूषयवागूनां विलेपीभक्तयोरपि। मण्डो ग्राही लघुः शीतो दीपनो धातुसाम्यकृत्॥
ज्वरघ्नस्तर्पणो बल्यः पित्तश्लेष्मश्रमापहः ॥ २२६ ॥

अब अन्न बनाने की प्रक्रिया बतलाते हुये प्रथम मण्ड (माड) बनाने की विधि और गुण कहते हैं—१४ गुने जल में भली भांति पकाये हुये चावलों का जो सीठी से रहित रस होता है उसे "मण्ड" अर्थात् "मांड" कहते हैं। और वह मांड सोंठ व सेंधा निमक से युक्त करके यदि पिलाया जाय तो अग्निदीपक तथा पाचक होता है। और अन्न के भलीभांति सिद्ध हो जाने पर मांड की भी सिद्धि समझ लेनी चाहिये। इसी प्रकार अन्न के सिद्ध हो जाने पर पेया, जूस, यवागू, विलेपी और भात की भी सिद्धि समझनी चाहिये।

मांड के गुण—मांड-ग्राही, लघु, शीतल, अग्निदीपक, धातुओं को समभाव में करने वाला, ज्वरनाशक, तृप्तिकारक, बलकारी एवम् पित्त, कफ तथा श्रम को दूर करने वाला होता है॥२२४–२२६॥

अथ पेयाया विधिगुणानाह—

चतुर्दशगुणे नीरे रक्तशाल्यादिभिः कृता। द्रवाधिका स्वल्पसिक्था पेया प्रोक्ता भिषग्वरैः॥२२७॥
साऽतिलघ्वी ग्राहिणी च धातुपुष्टिविधायिनी। तृड्ज्वरानिलदौर्बल्यकुक्षिरोगविनाशिनी ॥२२८॥
स्वेदाग्निजननी ज्ञेया वातवर्चोऽनुलोमनी। शुण्ठीसैन्धवसंयुक्ता दीपनी पाचनी च सा ॥२२९॥
आमशूलहरी रुच्या स्याद्विबन्धविनाशिनी ॥ २३० ॥

पेया बनाने की विधि तथा गुण—रक्त शालि (लाल जडहन) आदि धान्यों के चावलों से १४गुने जल में पकाई हुई अधिक द्रव भाग से युक्त तथा थोड़े सिक्थ (सीठी) भागों से युक्त जो होती है, उसे वैद्य "पेया" कहते हैं। यह पेया-अत्यन्त लघु, ग्राही, धातुओं को पुष्ट करनेवाली, एवम् प्यास, ज्वर, वायु, दुर्बलता और कुक्षिसम्बन्धी रोग को दूर करने वाली होती है, तथा स्वेद (पसीना) लाने वाली, जठराग्नि को दीपन करने वाली, वायु तथा मल का अनुलोमन करने वाली होती है, और यदि इसमें सोंठ तथा सेंधा निमक मिला दिया जाय तो अग्निदीपक, पाचक, आमशूल को नष्ट करने वाली, रुचिकारक और विबन्ध को दूर करने वाली होती है ॥ २२७–२३० ॥

अथ प्रमथ्याया विधिगुणानाह—

प्रमथ्या प्रोच्यते द्रव्यपलात्कल्कीकृताच्छृतात्। तोयेऽष्टगुणिते तस्याः पानमाहुः पलद्वयम् ॥
गुणैः प्रमथ्या पेयावत्ततो लघ्वी विशेषतः ॥ २३१ ॥

प्रमथ्या बनाने की विधि तथा गुण—४ तोले पाच्य द्रव्य (जिस द्रव्य की प्रमथ्या बनानी हो वह द्रव्य) को लेकर उसका कल्क बना कर अठगुने (३२ तोले) जल में पकावे। जब ८ तोले जल रह जाय तब उतार कर उसे पिलाना चाहिये। इसी को "प्रमथ्या" कहते हैं। यह गुणों में यद्यपि पेया ही के समान होती है तथापि उसकी अपेक्षा विशेष हलकी होती है॥ २३१ ॥

***द्रव्यं = पाच्यद्रव्यम्। तस्याः = पलद्वयशेषायाः ॥ २३१ ॥**

यहां पर "द्रव्य" पद से "पाच्य द्रव्य अर्थात् जिसकी प्रमथ्या बनानी हो उस द्रव्य" का ग्रहण करना चाहिये। और "तस्या." पद का "उसे अर्थात् उतारने पर ८ तोले बची हुई प्रमथ्या को" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ २३१ ॥

अथ यूषस्य विधिगुणानाह—

अष्टादशगुणे नीरे शिम्बीधान्यश्रृतो रसः। विरलान्नो घनः किञ्चित्पेयातो यूष उच्यते ॥
उक्तः स एव निर्यूहो रुचिकृच्च विशेषतः ॥ २३२ ॥

यूष बनाने की विधि तथा गुण—१८ गुने जल मे शिम्बी धान्य मूँग आदि के दाल को पकावे, और जब इस में किञ्चित् मात्र सिक्थ अन्न का रहे और पेया की अपेक्षा किञ्चिद् गाढा हो तो उसे "यूष" कहते हैं। और उसीको "निर्यूह" भी कहते हैं। यह विशेष करके रुचिकारक होता है॥२३२॥

अथ यूषस्य प्रकारान्तरमाह—

कल्कद्रव्यपलं शुण्ठी पिप्पली चार्द्धकार्षिकी। वारिप्रस्थेन विपचेत्तद्रवो यूष उच्यते ॥२३३॥

यूष बनाने के अन्य प्रकार—जिसका "यूष" बनाना हो उस द्रव्य को ४ तोला लेकर जल से पीस डाले और उसमें सोंठ, पीपल मिलाकर आध तोले के पीस कर डाल देवे पश्चात् सबों को ६४ तोले

[illegible] "यूष" कहते हैं ॥ २३३ ॥

[illegible]—द्विधान्यं पलमितं [illegible]कृतम्, शुण्ठी पिप्पली च समुदिताः कर्षमिता [illegible], उभयमपि प्रस्थमितेन वारिणा पचेत् तज्जो यूषः ॥ २३३ ॥

[illegible]—यूष बनाने के द्रव्य (मूंग आदि की दाल) को [illegible] या पीपल इन दोनों को मिलाकर आधा [illegible] दोनों द्रव्यों को ६४ तोले जल में [illegible] ॥ २३३ ॥

अथ यूषगुणाः—

यूषो बल्यो लघुः पाके रुच्यः कण्ठ्यः कफापहः ॥ २३४ ॥

यूष के गुण—[illegible] लघु, रुचिकारक, कण्ठ (गले) के लिये हितकर अर्थात् [illegible] कफनाशक भी होता है ॥ २३४ ॥

अथ मुद्गयूषविधानम्—

(वृन्दटीकायां तन्त्रान्तरे)

[illegible] द्विपले तोये [illegible] । पादस्थं मर्दितं पूतं दाडिमस्य पलेन तत् ॥ २३५ ॥
[illegible] । कणाजीरकयोश्चूर्णाच्छाणैकेनावचूर्णितम् ॥
संस्कृतो मुद्गयूषोऽयं पित्तश्लेष्महरो मतः ॥ २३६ ॥

[illegible] मूंग के यूष की विधि इस प्रकार कही हुई है कि—[illegible] मूंग को [illegible], और [illegible] चतुर्थांश [illegible] छान ले, [illegible] सेंधा निमक, सोंठ, धनिया इन सबों का चूर्ण [illegible] । इस प्रकार से संस्कृत मूंग का यूष [illegible] होता है ॥ २३५–२३६ ॥

अथ [illegible]—

[illegible] यूषः दीपनः शीतलो लघुः । [illegible]कफपित्तज्वरापजित् ॥ २३७ ॥

[illegible] यूष [illegible] है तथा अग्निदीपक, शीतल और लघु होता है, [illegible] दूर करने वाला होता है ॥ २३७ ॥

अथ [illegible]—

[illegible] । [illegible] शीतो मूर्च्छाभ्रममदापहः ॥ २३८ ॥

[illegible]

अथ [illegible]—

[illegible] ॥ २३९ ॥

[illegible] होता है ॥ २३९ ॥

[illegible]—

[illegible] ॥ २४० ॥
[illegible] ॥ २४१ ॥

[illegible]

[illegible]

*संसिद्धा = अतीव सिद्धा। विलेपी 'गिलहथी' इति लोके ॥ २४२ ॥

यहां पर "समिद्धा" पद का "अत्यन्त सि द हो जाय" यह अर्थ समझना चाहिये। "विलेपी" पद का लोकप्रसिद्ध "गिलहथी" अर्थ समझना चाहिये ॥ २४२ ॥

विलेपी दीपनी बल्या हृद्या संग्राहिणी लघुः। व्रणाक्षिरोगिणां पथ्या तर्पणी तृड्ज्वरापहा॥२४३॥

गुण—विलेपी-अग्निदीपक, बलकारक, हृदय के लिये हितकर, मलसग्राही लघु, व्रण तथा नेत्र सम्बन्धी रोगियों के लिये पथ्य (हितकर), तृप्तिकारक एवम् प्यास तथा ज्वर को शान्त करने वाली होती है ॥ २४३ ॥

अथ भक्तस्य विधिगुणानाह—

जले चतुर्दशगुणे तण्डुलानां चतुष्पलम्। विपचेत्स्रावयेन्मण्डं तद्भक्तं मधुरं लघु ॥ २४४ ॥

भात बनाने की विधि तथा गुण—१६ तोले चावलों को लेकर १४ गुने जल में पकावे, और सिद्ध हो जाने पर माट को पसा कर अलग कर देवे, इसे "भात" कहते हैं। यह मधुर तथा लघु होता है॥२४४॥

चक्रदत्तस्तु—

अन्नं पञ्चगुणे तोये यवागूं षड्गुणे पचेत्। भक्तं वह्निकरं पथ्यं तर्पणं मूत्रलं लघु ॥ २४५ ॥

किन्तु "चक्रदत्त" का तो मत यह है कि—भात को पाचगुने जल में तथा यवागू को ६ गुने जल मे पकाना चाहिये। और भात-अग्निवर्धक, पथ्य, तृप्तिकारक, मूत्रजनक तथा लघु होता है ॥२४५॥

***तत्रान्न = भक्तम्। तथा च—**

***"भिस्सा स्त्री भक्तमन्धोऽन्नमोदनोऽस्त्री सदीदिविः" इत्यमरः ॥ २४६ ॥**

यहां पर "अन्न" पद का "भात" अर्थ समझना चाहिये क्योंकि अमरकोश में भात के पर्यायवाची शब्दों के अन्दर "अन्न" का भी पाठ है, जैसे कि—भिस्सा (स्त्री० लि०) भक्त, अन्धस्, अन्न (ये तीन न० पु० लि०), ओदन (स्त्रीलिङ्ग रहित), दीदिव (स्त्रीलिङ्ग रहित) ये सब भात के पर्यायवाची सस्कृत शब्द हैं ॥ २४५ ॥

सुधौतं प्रस्रुतं चोष्णं विशदं गुणवत्तरम्। अधौतमस्रुतं शीतं वृष्यं गुरु कफप्रदम् ॥ २४६ ॥

भात के गुण-उत्तम रीति से धुला हुआ तथा अच्छी तरह पसाया हुआ एवम् गर्म जो भात होता है वह विशद गुणयुक्त तथा अत्यन्त गुणकारी होता है। और विना धुला हुआ, विना पसाया हुआ एवम् शीतल जो भात होता है वह-वीर्यवर्द्धक, गुरु तथा कफकारक होता है ॥ २४६ ॥

अत्युष्णं बलहृद्भक्तं शीतं शुष्कञ्च दुर्जरम्। अतिक्लिन्नं ग्लानिकरं दुर्जरं तण्डुलान्वितम्॥२४७॥

और अत्यन्त गर्म भात—खाने से बलनाशक होता है शीतल तथा सूखा भात-देर मे हजम होने वाला होता है और जो जल से युक्त वासी भात होता है वह-ग्लानि उत्पन्न करने वाला होता है। एवम् जो भात भलीभांति सिद्ध न होने मे कच्चा रह गया हो वह देर से हजम होने वाला होता है॥२४७॥

***अतिक्लिन्न = सजलं यत् प °षितम् ॥ २४७ ॥**

यहां पर "अतिक्लिन्न" पद का "जो जल मे युक्त वासी भात" यह अर्थ समझना चाहिये॥२४७॥

भृष्टतण्डुलजं रुच्यं सुगन्धि कफहृल्लघु। वातास्थापितमन्दाग्निविरिक्तानां प्रशस्यते ॥ २४८ ॥

भुने हुये चावलों का भात-रुचिकारक, सुगन्धित, कफनाशक तथा लघु होता है। एवम् वातरोगी, निरूहबस्ति लिये हुये, मन्दाग्नि रोग वाले तथा विरेचन लिये हुये लोगों के लिये उत्तम होता है॥२४८

अथ रसौदनस्य विधिमाह—

(वृन्दटीकायां तन्त्रान्तरे)

मांसलं सक्थिजं मांसं तथाऽनस्थि च तैत्तिरम्। चतुष्पलोन्मितं सूक्ष्मं कल्पितं क्षालितं जले॥२४९॥
पिप्पलीपिप्पलीमूलशुण्ठीजीरकधान्यकैः। द्विशाणैः सयुते तोये क्वाथ्यमर्द्धाढकोन्मिते ॥२५०॥
पादस्थितं जलं तत्र दाडिमात् कुट्टिताद्धरेत्। तं रसं मर्दितं हिङ्गुभृष्टसैन्धवजीरकैः ॥
युक्तं प्रधूपितं पथ्यं शुद्धानां शुद्धिकाङ्क्षिणाम् ॥ २५१ ॥

तन्त्रान्तर में (वृन्दटीका में) कही हुई रसौदन की विधि-बकडे आदि पशुओं के पैरों में मांसयुक्त स्थानों के मांस तथा तित्तिर पक्षियों के अस्थिरहित मांस १६ तोले लेकर उसके पतले २ टुकडे कर डाले और उन टुकडों को जल से खूब धो डाले। उसके बाद पीपल, पिपरामूल, सोंठ जीरा, धनियां ये सब प्रत्येक आठ २ मासे लेकर पीसकर १२८ तोले जल में मिला देवे और इसी जल में उक्त मांस

[illegible] को [illegible] है [illegible] चतुर्थांश [illegible] तब उतार [illegible] है, और फालसों से मांस [illegible] के [illegible] रस को भुने हुये हींग तथा जीरे का चूर्ण [illegible] सुगन्धित द्रव्यों द्वारा धूपित कर लेवे, यह मांसरस विरेचनों द्वारा शुद्ध हुये तथा शुद्धि चाहने वालों के लिये पथ्य है ॥ २४९–२५१ ॥

अथ रसौदनगुणानाह—

रसोदनो गुरुर्बल्यो वृष्यो वातज्वरापहः ॥ २५२ ॥

रसौदन के गुण—रसौदन (अर्थात् [illegible] युक्त भात) गुरु, शोथवर्धक, बलकारक एवम् [illegible] होता है ॥ २५२ ॥

अथ [illegible] पदार्थप्रक्रियामाह—

[illegible] चतुर्दशगुणे [illegible] षड्गुणितेऽम्बुनि । [illegible] मण्डपेयाऽऽदि साधयेत् ॥२५३॥

[illegible] प्रक्रिया—१४ गुने द्रव्य (औषध) [illegible] १४ गुने जल में [illegible] मण्ड (माड), पेया आदि बनावे ॥ २५३ ॥

[illegible] सक्ता[illegible]दीनभिप्रायौगवत्साध्यानां तेषां प्रक्रियामाह-साध्यमिति ॥ २५३ ॥

[illegible] — [illegible] में बनाये जाने वाले मण्ड (माड) [illegible] बनाने की प्रक्रिया पूर्व में [illegible] औषध में [illegible] उन सबों की (माड आदियों [illegible]) [illegible] इत्यादि श्लोक को कहता है ॥ २५३ ॥

[illegible] प्राकृतवत्तारे [illegible] । भेषजस्यानियादुक्यात् कदा चिद्वपि[illegible] ॥२५४॥

[illegible] कल्पादयो बुधैः । विचार्य तद्गुणानेतान्स्तद्गुणानेव निर्दिशेत् ॥ २५५ ॥

[illegible] औषध [illegible] है, क्योंकि सम्भव है कि [illegible] ।

और [illegible] औषधियों द्वारा [illegible] आदिक बनावे उनके गुण [illegible] औषधियों के अनुसार विचार कर [illegible] ॥ २५४–२५५ ॥

[illegible] पेयागुणानाह—

[illegible] पेया [illegible] पाचनैः कृता । दीपनी पाचनी [illegible] ज्वरार्तानां ज्वरापहा ॥२५६॥

[illegible] पेया [illegible] — [illegible] पाचन औषधियों [illegible] पेया [illegible] ज्वर [illegible] पीड़ित लोगों के [illegible] को दूर [illegible] है ॥ २५६ ॥

[illegible] पाचनैः कृता = [illegible] पाचनैः कृता ॥ २५६ ॥

[illegible] पाचन औषधियों के [illegible] ॥ २५६ ॥

[illegible] —

[illegible] पाचन [illegible] सुगन्धि [illegible] ॥ २५७ ॥

[illegible] पाचनं [illegible] । [illegible] मद [illegible] ॥२५८॥

[illegible] । [illegible] ॥

सरिवन, पिठवन, छोटी कटेरी, बडी कटेरी, गोखरू ये लघु पञ्चमूल की ओषधियां हैं ॥ ७६ ॥

***श्लेष्मपित्ते—पिप्पल्या सह धान्यया। कफवाते—महत्या पञ्चमूल्या—**

***श्रीफलः सर्वतोभद्रा पाटला गणिकारिका। श्योनाकः पञ्चमः प्रोक्तः पञ्चमूलमिदं महत्॥७७॥**

कफपित्त-ज्वर में पीपल के साथ धनियां के क्वाथ से, कफवात में बृहत्पञ्चमूलो के क्वाथ से सिद्ध किये हुये अन्न को रोगी के लिये देना चाहिये। जो कि ये हैं—

बेल, गम्भारि, पाढल, अरनी, सोनापाठा इन पांच औषधों के समूह को बृहत्पञ्चमूल कहते हैं ॥७७॥

***त्रिदोषजे व्याघ्रीदुःस्पर्शगोक्षुरैः। व्याघ्री = कण्टकारिका। दुःस्पर्शः = यवासः ॥ २५७—२५९ ॥**

कटेरी, जवासा और गोखरू इन के क्वाथ से बने अन्न को त्रिदोष ज्वर मे खिलाना चाहिये। यहा पर "व्याघ्री" पद का "कटेरी"। "दु.स्पर्श" पद का "जवासा" अर्थ समझना चाहिये ॥२५७-२५९॥

पेयां वा रक्तशालीनां वस्तिपार्श्वशिरोरुजि। श्वदंष्ट्राकण्टकारीभ्यां सिद्धां ज्वरहरीं पिबेत्॥२६०॥

अथवा यदि ज्वर में वस्ति (मूत्राशय), पसुली तथा शिर इन में से कहीं पीडा हो तो गोखरू तथा कटेरी के क्वाथ से लाल अगहनी चावलों की बनी हुई पेया पिलानी चाहिये, यह पेया ज्वर को भी दूर करने वाली होती है ॥ २६० ॥

विबद्धवर्चाः सयवां पिप्पल्यामलकैः शृताम्। सर्पिष्मतीं पिबेत्पेयां ज्वरी दोषानुलोमिनीम्॥२६१॥

ज्वर में यदि मल का अवरोध होगया हो तो रोगी पीपल तथा आमलों के क्वाथ से सिद्ध अन्न की बनी हुई घी से युक्त पेया को पीवे, इससे दोषों का अनुलोमन होता है ॥ २६१ ॥

***यवोऽत्रान्नम् ॥ २६१ ॥**

यहा पर "यव" पद का "अन्न" अर्थ समझना चाहिये ॥ २६१ ॥

कासी श्वासी च हिक्की च पञ्चमूलीशृतां पिबेत् ॥ २६२ ॥

और कास, श्वास तथा हिचकी रोगवाला व्यक्ति पञ्चमूल की ओषधियों के क्वाथ से बनी पेया को पीवे ॥ २६२ ॥

***अत्र पञ्चमूली बृहती लघ्वी च हिता, तया शृतां पेयां पिबेदित्यर्थः ॥ २६२ ॥**

यहां पर "पञ्चमूल" पद से 'बृहत् तथा लघु दोनों पञ्चमूलों का ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि दोनों हितकर हैं, अत एव इन दोनों में से किसी के क्वाथ से बनी हुई पेया को पीवे" और यह भी समझ लेना चाहिये ॥ २६२ ॥

पेया भेषजसंयोगाल्लघुत्वाच्चाग्निदीपनी। वातमूत्रपुरीषाणां दोषाणां चानुलोमिका ॥२६३॥
स्वेदनाय च सोष्णत्वाद् द्रवत्वात्तृट्क्षयाय च। आहारभावात्प्राणाय सरत्वाल्लाघवाय च ॥
ज्वरघ्नी हेतुसाम्यत्वात्तस्मात्तां पूर्वमाचरेत् ॥ २६४ ॥

पेया—औषधों के सयोग से तथा लघु होने से अग्नि को दीपन करने वाली होती है तथा वायु, मूत्र, मल और दोषों का अनुलोमन करने वाली होती है, एवम् उष्ण होने से स्वेदन करने वाली द्रव होने से प्यास को दूर करने वाली, आहारस्वरूप होने से बलकारक, और सारक होने से शरीर में लघुता उत्पन्न करने वाली होती है। तथा ज्वर के कारणस्वरूप जो वात, पित्त तथा कफ हैं उन की समता उत्पन्न करने वाली होने से ज्वरनाशक होती है। अत सर्वप्रथम अन्न ग्रहण के समय उसी को पीना चाहिये ॥ २६३—२६४ ॥

***हेतुसाम्यत्वाद् = हेतवो वातपित्तकफास्तेषां साम्यत्वात् ॥ २६३--२६४ ॥**

यहां पर "हेतुसाम्यत्वात्" पद का "ज्वर के कारणस्वरूप जो वात, पित्त तथा कफ हैं उनकी समता उत्पन्न करने वाली होने से" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ २६३—२६४ ॥

अथ पञ्चमुष्टिकयूषमाह—

यवकोलकुलत्थानां मुद्गमूलकशुण्ठयो। एकैकमुष्टिमादाय पचेदष्टगुणे जले ॥ २६५ ॥
पञ्चमुष्टिक इत्येष वातपित्तकफापहः। शूले प्रशस्यते गुल्मे कासे श्वासे क्षये ज्वरे ॥ २६६ ॥

पञ्चमुष्टिक यूष—जौ, बेर, कुलथी, मूंग, मूली की डण्डी प्रत्येक चार २ तोले लेकर अठगुने जल में पकावें, तैयार होने पर इसी को "पञ्चमुष्टिक" यूष "कहते हैं। यह यूष—वातपित्त तथा कफ को नष्ट करने वाला होता है एवम् शूल, गुल्म, कास, श्वास, क्षय तथा ज्वर इन रोगो में रोगी को देने से विशेष हितकर होता है ॥ २६५—२६६ ॥

अथ वर्तिप्रयोगमाह—

[illegible]पुरीषस्य गुदे वर्तिं निधापयेत् ॥ २६७ ॥

[illegible]नीचन्[illegible]साधिताम् । पाययेद्वा यवागूं वा सा[illegible]नुलोमिनीम् ॥२६८॥

[illegible] गुदा के अन्दर पीपल, [illegible] आदि औषधियों के [illegible] हुई यवागू को [illegible] वायु का अनुलोमन करनेवाली होती है ॥२६७–२६८॥

अथ [illegible]—

[illegible] ग्रीष्मे पित्त[illegible]स्थिते । ऊर्ध्वगे रक्तपित्ते च यवागूर्न हिता ज्वरे ॥ २६९ ॥

[illegible] । घर्मार्त्तं मद्य[illegible] पापितोयात्यो[illegible]सक्तुकम् ॥२७०॥

[illegible] पापदं[illegible]तर्पणम् । ज्वरापहैः फलरसैर्युक्तमन्नं हितं क्वचित् ॥ २७१ ॥

[illegible] यवागू [illegible] अर्थात् देना अनुचित है, उनका वर्णन करते हैं— [illegible] पित्त-कफ से उत्पन्न रोगों में, [illegible] "यवागू" हितकर नहीं होती है।

[illegible] शरीर वाले, [illegible] रहने वाले, प्यास से व्याकुल, धूप [illegible] लाजा के सत्तू का [illegible] में घोल कर उसमें [illegible] तर्पण है अर्थात् तृप्ति [illegible] रसों से युक्त अन्न देना भी ज्वररोगी को हितकर होता है ॥ २६९–२७१ ॥

[illegible]र्पणं = [illegible]तर्पणम् ॥ २६९–२७१ ॥

[illegible] "लाजा के सत्तू का [illegible]" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ २६९–२७१ ॥

अथ [illegible]—

[illegible] मन्थ[illegible] ॥ २७२ ॥

[illegible] गुड़, [illegible] मधु तथा [illegible] पर [illegible] पानी से तृप्ति [illegible]

[illegible] गर्पणमुक्तं [illegible] ॥ २७२ ॥

[illegible] शहद और [illegible] से युक्त होने [illegible] ॥ २७२ ॥

अथ [illegible]—

[illegible] ॥ २७३ ॥

[illegible]

अथ [illegible]—

[illegible] ॥ २७४ ॥

[illegible]

*प्रियालमत्र पक्वफलं न तु तन्मज्जा गुरुत्वात् । तर्पणार्हस्य दाहच्छर्दितृषाऽऽर्त्तस्य लङ्घितस्य क्षीणस्येत्यर्थः ॥ २७५ ॥

यहां पर "प्रियाल" अर्थात् "चिरौंजी" कहने से "चिरौंजी" के पक्के फल" का ग्रहण करना चाहिये, न कि उसकी मींगी का क्योंकि उसकी मींगी गुरु होती है।

और "तर्पणार्ह" अर्थात् जो तर्पण के योग्य हों" ऐसा कहने से "दाह वमन तथा प्यास से दुःखित लङ्घन किये हुये एवम् क्षीण लोगों को समझना चाहिये ॥ २७५ ॥

श्रमोपवासानिलजे हितो नित्यं रसौदनः ॥ २७६ ॥

श्रम, उपवास तथा वायु से उत्पन्न ज्वर में रोगी को नित्य रसौदन देना हितकर होता है ॥२७६॥

*रसोऽत्र मांसरसस्तेन सिक्त ओदनो रसौदनः । "अन्नेन व्यञ्जनम्" इत्यनेन समासः॥२७६॥

यहां पर "रसौदन" पद में रस अर्थात् मांसरस में मिला हुआ जो भात होता है, उसका ग्रहण करना चाहिये। और "रसेन सिक्त ओदन" ऐसे विग्रह में "अन्नेन व्यञ्जनम्" इस सूत्र से समास हुआ, यह भी समझना चाहिये ॥ २७६ ॥

मुद्गयूषौदनश्चैव हितः कफसमुत्थिते । स एव सितया युक्तः शीतः पित्तज्वरे हितः ॥२७७॥

कफ से उत्पन्न ज्वर में मूंग के यूष के साथ मिला हुआ भात (मुद्गयूषौदन) हितकर होता हैं, एवम् पित्तज्वर में भी वही (मूंग के यूष से मिश्रित भात) सफेद शक्कर से युक्त तथा शीतल हितकर होता है ॥ २७७ ॥

*स एव = मुद्गयूषौदन एव ॥ २७७ ॥

यहां पर "स एव" पद का अर्थात् "वही" इस पद का "मूंग के यूष से मिश्रित भात। अर्थात् मुद्गयूषौदन" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ २७७ ॥

कृशोऽल्पदोषो यः क्षीणकफो जीर्णज्वरान्वितः । विबद्धासृष्टदोषश्च रूक्षपित्तानिलज्वरी ॥
पिपासाऽऽर्त्तः सदाहश्च पयसा स सुखी भवेत् ॥ २७८ ॥

जो लोग कृश शरीर वाले, अल्प बलशाली दोष से युक्त, क्षीण कफ वाले तथा जीर्णज्वर से युक्त हैं। एवम् जिनके दोष विबद्ध हों अत एव निकलते नहीं हों ऐसे लोग और जो रूक्ष, पित्तवात-सम्बन्धी ज्वर वाले, प्यास से दुःखी तथा दाह से युक्त हैं, उन्हें दूध देने के द्वारा सुखी बनाना चाहिये ॥२७८॥

अन्यच्च—

अजादुग्धं गुडोपेतं पातव्यं ज्वरशान्तये । तदेव तु पयः पीतं तरुणे हन्ति मानवम् ॥ २७९ ॥

और भी कहा है कि—बकरी का दूध गुड मिलाकर ज्वर की शान्ति के लिए रोगी को पीना चाहिये। किन्तु वही दूध यदि तरुण (नवीन) ज्वर में पीया जाय तो मनुष्य को मार डालता है॥२७९॥

*तरुणे ज्वर इति शेषः ॥ २७९ ॥

यहां पर मूल में केवल "तरुणे" पद है अत. "ज्वर" पद की कमी होने से उसे लेकर उसके साथ लगाकर अर्थ करना चाहिये ॥ २७९ ॥

अन्यच्च—

जीर्ण ज्वरे कफे क्षीणे क्षीरं स्यादमृतोपमम् । तदेव तरुणे पीतं विषवद्धन्ति मानवम् ॥२८०॥

और भी कहा है कि—जीर्ण ज्वर तथा कफ के क्षीण होने पर दूध अमृत के समान है किन्तु वही दूध नवीन ज्वर में पीने से विषके समान मनुष्य के लिये मृत्युदायक होता है ॥ २८० ॥

अथ ज्वररोगिनियमानाह—

न द्विरद्यान्न पूर्वाह्णे नाभिष्यन्दि कदाचन । न तीक्ष्णं न गुरुप्रायं भुञ्जीत तरुणज्वरी ॥२८१॥
न जातु तर्पयेत्प्राज्ञः सहसा ज्वरकर्शितम् । तेन संशमितोऽप्यस्य पुनरेव भवेज्ज्वरः ॥२८२ ॥

ज्वररोगियों के नियम—ज्वररोगी प्रतिदिन दो बार भोजन न करे और पूर्वाह्ण (दिन के पूर्व भाग) में भी भोजन न करे एवम् कभी अभिष्यन्दी, तीक्ष्ण तथा प्राय. करके गुरु (शीघ्र न हजम होने वाला) पदार्थ भोजन न करे। और जो बुद्धिमान् वैद्य हैं वे ज्वर से कृश हुये रोगी को सहसा तर्पण (तृप्तिकारक पदार्थ) द्वारा तृप्त न करे। क्योंकि उसके (तर्पण) द्वारा शान्त हुआ भी ज्वर पुनः प्रगट हो जाता है ॥ २८१-२८२ ॥

[illegible] दुर्बलत्वमाह—

[illegible] स्वेदो [illegible] तृष्णा कम्पो विट्भिदुमज्ञाता । कूजनं चातिवैगन्ध्यमाकृतिर्ज्वरमोक्षणे ॥२८३॥

[illegible] दुर्बल—दाह, स्वेद (पसीना), [illegible] तृष्णा (प्यास), कम्प, मल (दस्त) [illegible] शरीर में [illegible] दुर्गन्ध आना ये सब लक्षण ज्वर [illegible] होते हैं ॥ २८३ ॥

[illegible] भिद्=[illegible] । [illegible] भावे क्विप् । कूजनं=कुन्थनम् । [illegible] भवति ।

[illegible] समझना चाहिये और [illegible] सम्पदादिभ्यः क्विप् इस सूत्र से सम्पदादि के अन्दर होने से भाव में भिद् धातु [illegible] सिद्धि होती है यह [illegible] समझना चाहिये । [illegible] "शरीर में अत्यन्त दुर्गन्ध का आना" यह अर्थ [illegible] चाहिये । [illegible] समझने चाहिये ।

ननु दोषपाकं विना न व्याधिनिवृत्तिः, पीताश्च दोषाः कथमेवंविधं रूपं करिष्यन्ति ? [illegible] विनाशकाले स्वशक्तिं दर्शयति । यथा निर्वाणावस्थायां दीपो-[illegible] । [illegible]ऽप्याह—

[illegible] दोषो मोक्षकाले [illegible] । ततो नरः [illegible] चेष्टते ॥७८॥ इति ।

[illegible] दोषों का [illegible] हुए रोग की निवृत्ति नहीं हो [illegible] हुए दोष [illegible] प्रकार से उक्त दाहादि लक्षणों को प्रगट [illegible] अपनी विनाश [illegible] होने पर [illegible] विशेष रूप से [illegible] बढ़ता है ।

[illegible] है । [illegible] है [illegible] हो जाता है ॥ ७८ ॥

[illegible] पीतो=[illegible] । ७८) इति ॥ २८३ ॥

[illegible] चाहिये

[illegible] मोक्षकाले [illegible] ॥२८४॥

[illegible] है ॥ २८४ ॥

[illegible] मोक्षकाले [illegible] स्यात् । [illegible] त्रिदोषजेषु, आगन्तु [illegible] । २८४ ॥

[illegible]

[illegible] ॥ २८५ ॥

[illegible]

[illegible]

खुजली मचना, मुख में छाले पड जाना, छींक आना तथा अन्न खाने की इच्छा होना ये सब लक्षण ज्वर छूट जाने के हैं ॥ २८६ ॥

अथ ज्वरमुक्तस्य पालनीयनियमानाह—

व्यायामञ्च व्यवायञ्च स्नानं चङ्क्रमणानि च । ज्वरमुक्तो न सेवेत यावन्न बलवान्भवेत् ॥२८७॥

ज्वर से मुक्त हुये लोगों के लिये पालन करने योग्य नियम—व्यायाम (कसरत), मैथुन, स्नान और टहलना ये सब कार्य ज्वर से मुक्त हुआ पुरुष जब तक भलीभांति पूर्वावस्था की तरह बलवान् न होजाय तब तक न करै ॥ २८७ ॥

अन्यच्च

व्यायामञ्च व्यवायञ्च प्रवात शिशिरं जलम् । ज्वरमुक्तो न सेवेत यावन्न बलवान्भवेत् ॥२८८॥
जन्तोर्ज्वरविमुक्तस्य स्नानं कुर्यात्पुनर्ज्वरम् । तस्माज्ज्वरविमुक्तोऽपि स्नानं विषमिव त्यजेत् ॥
बलवर्णाग्निवपुषां यावन्न प्रकृतिर्भवेत् । तावज्ज्वरेण मुक्तोऽपि वर्जनीयानि वर्जयेत् ॥ २९० ॥

और भी कहा है कि—कसरत, मैथुन, अधिक वायु का झोंका, शीतल जल इन सब कार्यों को ज्वर से मुक्त रोगी जब तक बलवान् न होजाय तब तक न करै ।

और ज्वर से मुक्त हुये पुरुष को स्नान करने से पुन ज्वर आजाता है, इस लिये ज्वरामुक्त पुरुष विष की भांति स्नान करना छोड देवै ।

बल, वर्ण, जठराग्नि तथा शरीर की अवस्था जब तक पूर्व की भांति न हो जाय तब तक ज्वर से मुक्त हुये पुरुष को त्याग करने योग्य कार्यों का त्याग करना ही उचित है ॥ २८८–२९० ॥

अथ वातज्वराधिकारः ।

वातलाहारचेष्टाभ्यां वायुरामाशयाश्रयः । बहिर्निरस्य कोष्ठाग्निं ज्वरकृत्स्याद् रसानुगः २९१

अब यहा से वातज्वराधिकार आरम्भ होता है, उसमें प्रथम वातज्वर के निदान कहते हैं—वातकारक आहार–विहार का सेवन करने से कुपित हुआ वायु आमाशय में पहुच कर वहा पर आम रस को दूषित करता हुआ कोष्ठ की अग्नि को बाहर प्रगट करके ज्वर उत्पन्न करने वाला होता हैं ॥२९१॥

छवातज्वरस्य विप्रकृष्टसन्निकृष्टकारणकथनपूर्विकां सम्प्राप्तिमाह–वातेति । तस्य पूर्वरूप मुक्तम् । "जृम्भाऽत्यर्थं समीरणादि"ति । समीरणज्वरे उत्पत्स्यति, अत्यर्थं जृम्भा स्यात् । जृम्भा च श्रमादिपूर्विका भवति ॥ २९१ ॥

यहां पर यह और भी समझना चाहिये कि—यह श्लोक वातज्वर के विप्रकृष्ट (दूर के) तथ सन्निकृष्ट (नजदीक के) कारणों के साथ २ सम्प्राप्ति को भी कहता हैं ।

और यहीं पर इस वातज्वर का पूर्वरूप भी यह समझ लेना चाहिये कि—ज्वर जब वायुनिमित्तक होने वाला होता हैं तब उसके पहले अत्यन्त जभाई आती है, अर्थात् वातज्वर उत्पन्न होने के पूर्व अत्यन्त जम्भाई आती हैं और उसके साथ २ पहले श्रमादिक भी मालूम पडते हैं ॥ २९१ ॥

अथ वातज्वरस्य लक्षणमाह—

वेपथुर्विषमो वेगः कण्ठौष्ठमुखशोषणम् । निद्रानाशः क्षवस्तम्भो गात्राणां रौक्ष्यमेव च ॥२९२॥
शिरोहृद्गात्ररुग्वक्त्रवैरस्यं बद्धविट्कता । शूलाध्माने जृम्भणञ्च भवन्त्यनिलजे ज्वरे ॥ २९३ ॥

वातज्वर के लक्षण–शरीर का कांपना, ज्वर का वेग विषम होना, कण्ठ-ओठ तथा मुख का सूखना नींद का न आना, छींक का रुक जाना, शरीर का रूक्ष होना, शिर, हृदय तथा शरीर में पीडा होना, मुख की विरसता, मल का बँध जाना, शूल, अफरा तथा जम्भाई का होना ये सब लक्षण वात से उत्पन्न हुये ज्वर में रोगी के प्रगट होते है ॥ २९२–२९३ ॥

छविषमो वेगः, शरीरोष्णताऽऽदिरूपो ज्वरवेगो विषमो भवतीत्यर्थः । क्षवस्तम्भः= छिक्काया अभावः । तथा च वाग्भटः—

छहर्षो रोमाङ्गदन्तेषु वेपथुः क्षवथुग्रहः । इति ।

छचरकोऽपि–"क्षवथूद्गारविनिग्रह" इति । शिरोहृद्गात्ररुग्=अत्र गात्रपदे प्रयुक्ते शिरोहृच्छब्दप्रयोगस्तत्र तत्र विशेषेण वेदनाबोधनार्थं । एतानि लक्षणानि प्रायोभावित्वेन सुश्रुते निर्दिष्टानि । चकाराद्न्यान्यपि चरकनिदानोक्तानि बोद्धव्यानि । तान्येव श्लोकेन प्रदर्शयत्युत्तरत्र ॥ २९२–२९३ ॥

यहां पर '[illegible]' इन पदों का "अर्थात् ज्वर का वेग विषम होना" इसका "शरीर की [illegible] वेग विषम होना अर्थात् देह में उष्णता आदि की विषमता एवम् ज्वर [illegible] ज्वर रहने के [illegible] विषमता का होना" यह अर्थ समझना चाहिये। "[illegible]" इसका "[illegible] का अभाव [illegible] जाना" यह अर्थ समझना चाहिये।

और "[illegible]" में की कहा है कि—[illegible] रोमाञ्च होना, दांत खट्टे हो जाना, [illegible] में हर्ष होना, [illegible] तथा [illegible] का [illegible]। एवम् चरक ने भी कहा है कि—"[illegible] तथा [illegible] ([illegible]) [illegible]" यह [illegible] विशेष लक्षण है।

और "[illegible]" अर्थात् शिर—हृदय तथा शरीर में पीड़ा होना" यहां पर "गात्र" पद [illegible] पद का अर्थ [illegible] अर्थात् शरीर में पीड़ा होना ऐसा कहने से ही गात्र (शरीर) के अन्दर शिर—हृदय [illegible] होना पुनः [illegible] शिर तथा हृदय शब्द का [illegible] [illegible] कि—वातज्वर में यद्यपि शरीर में पीड़ा होती है तथापि शिर और हृदय में अधिक [illegible]। ये सब लक्षण [illegible] में प्रायः करके होते हैं [illegible] गये हुये हैं। और "[illegible]" यहां [illegible] का पाठ [illegible] के निदानस्थान में [illegible] हुये अन्यान्य लक्षणों [illegible] चाहिये और उन्हीं [illegible] को आगे [illegible] रूप में लिखता रहे हैं ॥२१२—२१३॥

चरके च—

भवन्ति विविधा वातवेदनाः स्यादसुप्तता ।

[illegible] गात्रसादो हनुस्तम्भो विश्लेषः सन्धिजानुनोः ॥२१४॥
[illegible] ॥ २१५ ॥

[illegible]—अनेक प्रकार की वात सम्बन्धी पीड़ा होना, नींद न आना, [illegible] होना, [illegible] में दर्द होना, [illegible] हो जाना, [illegible] जाना, सन्धिस्थान तथा जानुओं का शिथिल हो जाना, [illegible] होना, [illegible] तथा [illegible] आदि का [illegible] हो जाना, [illegible] वातज्वर में प्रगट होते हैं ॥२१४—२१५॥

[illegible]—

[illegible] पाचनं [illegible] पाययेद्भिषक् ॥२१६॥

[illegible] दिन [illegible] ॥ २१६ ॥

[illegible] ।

[illegible] ॥ २१७ ॥

[illegible]

[illegible]—[illegible] ॥ २१८ ॥

[illegible]

[illegible]—

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

अर्थात् रोगी दोषों की बदौलत उपवास सहन करता जाता है, क्योंकि दोषों का क्षय होने पर कोई रोगी अधिक लङ्घन (उपवास) नहीं सह सकता है। और कफ तथा पित्त ये दोनों द्रव रूप धातु हैं, अतः ये दोनों लङ्घन अधिक सहन करते हैं। किन्तु वायु आमदोष का क्षय होने के बाद एक क्षण भी लङ्घन करना नहीं सहन कर सकता है ॥ २९८–२९९ ॥

ननु "अन्नं वै प्राणिनां प्राणाः" इति श्रुतिः। तदन्नं विना प्राणिभिः कथं स्थातव्यमित्याह—दोषाणामिति ॥ २९८–२९९ ॥

और अब जो यहां पर यह शङ्का होती है कि—"अन्न ही प्राणियों का प्राण है" यह वेदवाक्य है, इसलिये अन्न के बिना प्राणी लोग ज्वर में कैसे जीते रहते हैं ?

इसी के समाधान में "दोषाणामि"त्यादि श्लोकों को कहा गया है, यह समझ लेना चाहिये २९८–२९९

तत्र भेषजम्—

अथ दशमूलादिकाथमाह—

श्रीफलः सर्वतोभद्रा कामदूती च शोणकः। तर्कारी गोक्षुरः क्षुद्रा बृहती कलशी स्थिरा॥३००॥
रास्ना कणा कणामूलं कुष्ठं शुण्ठी किरातकः। मुस्ता बलाऽमृता वाल द्राक्षायासशताह्विकाः ३०१
एषां क्काथो निहन्त्येव प्रभञ्जनकृत ज्वरम्। सोपद्रवश्च योगोऽयं सर्वयोगवरः स्मृतः ॥ ३०२ ॥

वातज्वर की ओषधियों में प्रथम दशमूलादि क्काथ–बेल, खम्भारि, पाढल, सोनापाठा, अरनी, गोखरू, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, पृश्निपर्णी, शालिपर्णी, रास्ना, पीपल, पिपरामूल, कूठ, सोंठ, चिरायता, नागरमोथा, खिरेंटी, गिलोय, सुगन्धवाला, दाख, जवासा और शतावर इन सबों को समान भाग में लेकर क्वाथ बनाकर पिलाने से उपद्रवयुक्त भी वातसम्बन्धी ज्वर नष्ट होता है यह योग सम्पूर्ण वातज्वरहर योगों में उत्तम है ॥ ३००–३०२ ॥

***श्रीफलः = बिल्वः। सर्वतोभद्रा = गम्भारी। कामदूती = पाटला। शोणकः = "सोनापाठा" इति लोके। तर्कारी = गणिकारी। कलशी = पृश्निपर्णी। स्थिरा = शालिपर्णी। वालं = सुगन्धवाला। यासः = यवासः ॥ ३००–३०२ ॥**

यहां पर "श्रीफल" पदका "बेल"। "सर्वतोभद्रा" पद का "खम्भारि"। "कामदूती" पद का "पाढल"। "शोणक" पद का "लोक प्रसिद्ध "सोनापाठा"। "तर्कारी" पदका "गनियारी (अरनी)"। "कलशी" पद का "पृश्निपर्णी"। "स्थिरा" पद का "शालिपर्णी"। "वालम्" पदका "सुगन्धवाला"। "यास" पदका "जवासा" अर्थ समझना चाहिये ॥ ३००–३०२ ॥

अथ बृहत्पञ्चमूलीक्काथमाह—

त्रिशतीतर्कारीश्रीफलटुण्टुकपाटलामूलैः। पाचनमुचितं मारुतजनितज्वरहारि वारिणा क्कथितैः॥

बृहत्पञ्चमूली क्वाथ—खम्भारि, अरनी, बेल, सोनापाठा और पाढ़ल इन पाच ओषधियों के मूल को जल मे यथाविधि औटा कर क्वाथ पिलावे। यह वातजनित ज्वर को दूर करने वाला उत्तम पाचन काथ है ॥ ३०३ ॥

***सुश्रुतः—**

"पञ्चमूलीकषायन्तु पाचन वातिके ज्वरे" ॥ ८० ॥ इति ॥

और यहां पर यह और समझना चाहिये कि—इसी विषय मे सुश्रुत भी कहते हैं कि—"पञ्चमूली कषाय (क्काथ) वातज्वर मे पाचन होता है ॥ ८० ॥

***अत्र पञ्चमूली बृहत्पञ्चमूली, अत एव त्रिशती = श्रीपर्णीति ॥ ३०३ ॥**

और यहां पर "पञ्चमूली" पद से "बृहत्पञ्चमूली" का ग्रहण किया जाता है अतः "त्रिशती" पद से "खम्भारि" का ग्रहण किया गया है ॥ ३०३ ॥

अथ किरातादिकाथमाह—

किराताब्दामृतोदीच्यबृहतीद्वयगोक्षुरः। त्रिपर्णीकलशीबिल्वैः क्काथो वातज्वरापहः ॥ ३०४ ॥

किरातादि काथ—चिरायता, नागरमोथा, गिलोय, सुगन्धवाला, छोटी तथा बडी कटेरी, गोखरू, शालिपर्णी, पृश्निपर्णी, बेल इन सबों का क्वाथ वातज्वर को नष्ट करने वाला होता है ॥ ३०४ ॥

***उदीच्यं = बालकम्। त्रिपर्णी = शालिपर्णी। कलशी = पृश्निपर्णी ॥ ३०४ ॥**

यहां पर "उदीच्य, त्रिपर्णी, कलशी" इन पदों का क्रम से "सुगन्धवाला, शालिपर्णी, पृश्निपर्णी यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ३०४ ॥

अथ [illegible]

गुडूचीपिप्पलीमूलनागरैः पाचनं स्मृतम् । वातज्वरे तथा पेयं कालिङ्गं सप्तमेऽहनि ॥ ३०५ ॥

[illegible]—[illegible] गिलोय, [illegible] और सोंठ इनका क्वाथ वातज्वर में पीने से [illegible] का क्वाथ पाचन होता है ॥ ३०५ ॥

(कालिङ्गम् = इन्द्रयवस्तस्य [illegible]तम् ॥ ३०५ ॥

[illegible] पर "कालिङ्गम्" [illegible] यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ३०५ ॥

अथ [illegible]—

[illegible]तोयं सत्ज्वरः स्यात्पिबतः [illegible]ऽयम् ॥

[illegible]देवदारु-[illegible]षधैः पाचनमत्र [illegible] ॥ ३०६ ॥

[illegible]—सोंठ, [illegible] और पिपरामूल इन सबोंका क्वाथ बनाकर पीनेवाले को वातज्वर [illegible] । और धनियां, देवदारु, [illegible] और सोंठ इनका क्वाथ वातज्वर में [illegible] होता है ॥ ३०६ ॥

(औषध = शुण्ठी । [illegible] पाचनमिति 'वेदाः प्रमाणमि'तिवत् ॥ ३०६ ॥

यहां पर "[illegible]" का "सोंठ" यह अर्थ समझना चाहिये । और "क्वाथ. पाचनम्" यह [illegible] "[illegible] प्रमाणम्" की भांति सिद्ध होता है, यह भी समझ लेना चाहिये ॥ ३०६ ॥

अथ [illegible]—

पञ्चमूली[illegible] सह पौष्करैः । क्वाथो हन्त्याशु[illegible] पर्वभेदं सवातज्वरम् ॥ ३०७ ॥

[illegible]—[illegible], [illegible], [illegible], [illegible], पुष्करमूल इन सबों का क्वाथ [illegible], [illegible] पीडा और वातज्वर नष्ट हो जाता है ॥ ३०७ ॥

(पञ्चमूली [illegible] ॥ ३०७ ॥

यहां पर "[illegible]" [illegible] (बेल, सोनापाठा, गम्भारि, पाढल और [illegible]) [illegible] चाहिये ॥ ३०७ ॥

अथ [illegible] —

[illegible]निर्दिग्ध[illegible] ।
[illegible] ॥ ३०८ ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥ ३०९ ॥

[illegible]

अथ [illegible] —

[illegible] ।
[illegible] ॥ ३१० ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥ ३११ ॥
[illegible] ।

आर्द्रकेण सममेष भक्षितो हन्ति वातकफसम्भवं ज्वरम् ।
श्वासकासमुखसेकशीतता-वह्निमान्द्यविसुचीश्च नाशयेत् ॥ ३१३ ॥
नस्येनाश्वेव हरति शिरोर्तिं कफवातजाम् । मोहं महान्तमपि च प्रलापं क्षवथुग्रहम् ॥३१४॥
(सामान्यज्वरचिकित्सोक्तो महाज्वराङ्कुशः प्रदेयोऽत्र)

कल्पतरु रस—शुद्ध पारा १ तोला, शुद्ध गन्धक १ तोला, शुद्धवत्सनाभ विष १ तोला, शुद्ध मैन॰ शिल १ तोला, शुद्ध सोनामाखी १ तोला, सुहागाखील १ तोला, सोंठ २ तोले, पीपर २ तोले, मरिच १० तोले लेवें, इनमें से सर्वप्रथम वत्सनाभ विष से लेकर पीसने योग्य जो औषधें हैं उन्हें पीस कर कपडछान कर लेवें। पश्चात् इस चूर्ण के साथ शुद्ध पारा और शुद्ध गन्धक को खरल में रखकर २ प्रहर तक खूब खरल करें। तब यह यथार्थ नाम वाला "कल्पतरु" रस सिद्ध होता है। जो कि वात तथा कफ सम्बन्धी रोगों का हरने वाला होता है। इस रस की श्रेष्ठ मात्रा एक रत्ती की होती है और अदरख के रस के साथ सेवन करने से यह वात-कफ जन्य रोग, दमा, खासी, मुख से पानी गिरना, शीत लगना, अग्नि की मन्दता तथा विषूचिका (हैजा) रोग को दूर करता है। और इस रस का नास लेने से कफ-वातसम्बन्धी शिर का दर्द, अधिक मोह तथा प्रलाप एवम् छींक का रुक जाना ये सब स्वयम् दूर हो जाते हैं। और इस वातज्वर में सामान्यज्वर की चिकित्सा में कहे हुए महाज्वराङ्कुश रस का भी प्रयोग करना चाहिये ॥ ३१०-३१४ ॥

अथ त्रिपुरभैरवरस—

विषमहौषधमागधिकोषण-द्युमणिरक्तकमार्द्रकमर्दितम् ।
क्रमविवर्द्धितमुद्दलितज्वर-स्त्रिपुरभैरव एष रसो वरः ॥ ३१५ ॥

त्रिपुरभैरव रस—शुद्ध वत्सनाभ विष १ भाग, सोंठ २ भाग, पीपल ३ भाग, मरिच ४ भाग, मारा हुआ (भस्म किया हुआ) तामा ५ भाग, सिंगरफ ६ भाग इन सबों को एकत्र कर अदरख के रस के साथ खूब खरल करें। तैयार होने पर इसी को "त्रिपुरभैरव रस" कहते हैं, यह ज्वर को एक दम से दूर करने वाला होता है ॥ ३१५ ॥

द्युमणिः=मारितं ताम्रं, तस्य भागाः पञ्च । रक्तकं=हिङ्गुलं तस्य भागाः षट् । मात्राऽस्य रक्तिकाऽर्द्धम् । त्रिपुरभैरवो रसो ज्वरे प्रयोज्यः ॥ ३१५ ॥

यहा पर "द्युमणि" पद का "मारा हुआ तामा (ताम्रभस्म)" अर्थ समझना चाहिये तथा इसके ५ भाग लेने चाहिये। "रक्तक" पद का "हिंगुल अर्थात् सिंगरफ" अर्थ समझना चाहिये तथा इसके ६ भाग लेने चाहिये। और इसकी मात्रा आधी रत्ती की लेनी चाहिये। एवम् यह त्रिपुरभैरव रस ज्वर में देने योग्य होता है, यह और समझना चाहिये ॥ ३१५ ॥

अथ स्वेदस्य विधिगुणावाह—

वातश्लेष्मज्वरे स्वेदं जङ्घापार्श्वास्थिशूलिनि । पीनसश्वासबाधिर्ये कारयेत्तद्विधानवित् ॥३१६॥
स्रोतसां मार्दवं कृत्वा नीत्वा पावकमाशयम् । हत्वा वातकफस्तम्भं स्वेदो ज्वरमपोहति ॥३१७॥

स्वेद लेने की विधि और गुण—जिस वात-कफ ज्वर में जाघ, पसुली तथा हड्डियों में पीडा होती हो तो वहा पर स्वेद देने की प्रक्रिया का जानने वाला वैद्य स्वेद देवें तथा इसी भांति पीनस, दमा तथा बहिरेपन मे भी स्वेद देवें।

स्वेद—शरीर स्थित रसवाहिनी नाडियों को मृदु बनाकर एवम् बाहर निकली हुई कोष्ठाग्निको पुन कोष्ठ के अन्दर पहुंचा कर तथा वात-कफ सबन्धी स्तब्धता को दूर कर ज्वरको नष्टकरता है ॥३१६-३१७॥

अथ वालुकास्वेदमाह—

खर्परभृष्टपटस्थितकाञ्जिकसंसिक्तवालुकास्वेदः । शमयति वातकफामयशूलाङ्गभङ्गकम्पादीन् ३१८
कम्पे शिरोहृदयगात्रव्यथायां जृम्भायां पादसुप्ततायाम् ।
पिण्डिकोद्वेष्टनेऽङ्गसादे हनुस्तम्भे च लोमहर्षे ॥ ३१९ ॥

वालुकास्वेद—खपरे मे रख कर गर्म किये हुए बालू को कपडे में बाधकर उसे कांजी में डुबो २ कर उससे जो स्वेद दिया जाता है, वह "वालुकास्वेद" कहलाता है। यह (वालुकास्वेद) वायु-कफ सबन्धी रोग, शिर का शूल, दर्द, अङ्ग-भङ्ग तथा कम्पादिक रोगों का शमन करता है। एवम् कम्परोग, शिर-हृदय तथा शरीर की पीडा, जम्भाई, पांवों का सो जाना (सुन्न हो जाना), पिंडलियों में ऐंठन की सी पीडा, अगों का अवसन्न होना, ठोडी का जकड जाना तथा रोमाञ्च होना इन सब

रोगों में उक्त स्वेदन लेना उत्तम होता है ॥ ३१८–३१९ ॥

अथ कवलस्य विधिगुणावाह—

मातुलुङ्गफलकेशरो धृतः सिन्धुजन्ममरिचान्वितो मुखे ।
हन्ति वातकफरोगमास्यगं शोषमाशु जडतामरोचकम् ॥ ३२० ॥

कवल की विधि तथा गुण—बिजौरा नीबू के फलों के अन्दर रहने वाले केशरों को सेंधा निमक तथा कालीमिर्च के चूर्ण के साथ लपेट कर यदि मुख में रक्खा जाय तो वात तथा कफ सम्बन्धी मुखगतरोग, मुखशोष, मुखसम्बन्धी जड़ता तथा अरुचि ये सब रोग शीघ्र नष्ट हो जाते हैं ॥ ३२० ॥

*इति कवलः । कण्ठौष्ठमुखशोषे प्रदेयः ॥ ३२० ॥

यहा पर यह और समझना चाहिये कि—यह कवल कण्ठ–ओठ तथा मुख के सूखने पर ज्वर रोगी को देना चाहिये ॥ ३२० ॥

अन्यच्च—

शर्करादाडिमाभ्याञ्च द्राक्षादाडिमयोस्तथा । कल्कं विधारयेदास्ये शोषवैरस्यनाशनम् ॥३२१॥
द्राक्षाऽऽमलकयोः कल्कं सघृतं वदने क्षिपेत् । तेन घृष्ट्वा मुखस्यान्तः कुर्वीत प्रतिसारणम् ॥३२२॥
तेन तालुगलान्तःस्थः सशोषश्चैव शाम्यति । सुरसं जायते वक्त्रं रुचिर्भवति भोजने ॥३२३॥

और भी कहा है कि—शक्कर सफेद तथा अनार का अथवा दाख और अनार का कल्क (चटनी) बनाकर यदि मुख में रक्खा जाय तो उससे मुख का सूखना तथा उसकी विरसता नष्ट होती है।

और दाख तथा आमले का कल्क किञ्चित् गोघृत के साथ मिलाकर यदि मुख के अन्दर रक्खे और उसीसे मुख के अन्दर के भागों को यथोचित घिसकर प्रतिसारण (लार गिराना) कर्म करे तो तालु तथा गले का शोष नष्ट हो जाता है तथा मुख सुरस (विरसता रहित होकर सुन्दर रस युक्त) होता है एवम् भोजन में रुचि होती है ॥ ३२१–३२३ ॥

अथ निद्रानाशस्य निदानमाह—

नावनं लङ्घनं चिन्ता व्यायामः शोकभीरुषः । एभिरेव भवेन्निद्रानाशः श्लेष्मातिसंक्षयात् ॥३२४॥

निद्रानाश के निदान—नस्य (नास लेना), उपवास, चिन्ता, व्यायाम, शोक, डर, तथा क्रोध इन सबों से निद्रा का नाश होता है एवम् कफ के क्षय होने से भी निद्रानाश होता है अर्थात् नींद नहीं आती है ॥ ३२४ ॥

अथ निद्रानाशचिकित्सामाह—

भृष्टन्तु विजयाचूर्णं मधुना निशि भक्षयेत् । निद्रानाशेऽतिसारे च ग्रहण्यां पावकक्षये ॥३२५॥
गुडं पिप्पलिमूलस्य चूर्णेनालोडितं लिहेत् । चिरादपि च संनष्टां निद्रामाप्नोति मानवः ॥३२६॥

निद्रानाश की चिकित्सा—किञ्चित् घृत में भुने हुए भाग का चूर्ण रात्रि में सोते समय मधु के साथ खाने से निद्रानाश, अतीसार, ग्रहणी तथा अग्नि की शक्ति का क्षीण हो जाना ये सब दूर होते हैं।

और गुड तथा पिपरामूल का चूर्ण एकत्र कर यदि मनुष्य खाता है तो उसकी बहुत दिनों से नष्ट हुई भी निद्रा पुनः प्राप्त हो जाती है ॥ ३२५–३२६ ॥

वायसजङ्घामूलं बद्धं वा शिरसि काकमाच्याश्च । विघृतं निद्राजनकं त्वङ्मूलं वा शृतं सगुडम् ॥३२७॥

अथवा काकजङ्घा का मूल या मकोय का मूल यदि शिर में बाँधा रहा जाय तो निद्रानाश के रोगी को पुनः नींद अच्छी तरह से आने लगती है। अथवा मकोय की छाल व जड का क्वाथ बनाकर उसमें गुड मिलाकर पीने से भी नींद आती है ॥ ३२७ ॥

*पीतमिति शेषः ॥ ३२७ ॥

यहा पर "पीतम्" इस पद की कमी है जिसे ऊपर से लगाकर अर्थ किया गया कि—"पीने से" यह और समझ लेना चाहिये ॥ ३२७ ॥

मूलन्तु काकमाच्या बद्धं सूत्रेण मस्तके नियतम् । विदधाति नष्टनिद्रो निद्रामाश्वेव सिद्धमिदम् ॥

और मकोय की जड को सूत्र से बाधकर निरन्तर शिर में रखने से जिसकी नींद नष्ट हो गई है उसे नींद शीघ्र आ जाती है। यह प्रयोग सिद्ध है ॥ ३२८ ॥

शीलयेन्मन्दनिद्रस्तु क्षीरमद्यरसान्दधि । अभ्यङ्गोद्वर्त्तनस्नानमूर्द्धकर्णाक्षितर्पणम् ॥ ३२९ ॥

जिसे नींद थोडी आती है वह पुरुष दूध, मद्य, मांसरस, दही, तेल की मालिश, उबटन, स्नान, शिर में तेल लगाना, कानों में तेल डालना और आँखों में तर्पण का प्रयोग करना इन सबों को प्रति-

दिन करने का अभ्यास रक्खे, इससे नींद अच्छी लगती है ॥ ३२९ ॥

***रसो = मांसरसः ॥ ३२९ ॥**

यहां पर "रस' पद का "मांसरस" अर्थ समझना चाहिये ॥ ३२९ ॥

कान्ताबाहुलताऽऽश्लेषो निर्वृतिः कृतकृत्यता। मनोऽनुकूला विषयाः कामं निद्रासुखप्रदाः॥३३०॥

और सुन्दर स्त्री की बाहुरूपी लता का आलिङ्गन, सन्तोष, कृतकृत्यता (किसी प्रारब्ध कार्य को समाप्त कर लेना), मन के अनुकूल विषयों की प्राप्ति ये सब अत्यन्त निद्रासबन्धी सुख को देने वाले हैं अर्थात् इनसे नींद अच्छी आती है ॥ ३३० ॥

रसे शाके च सूपे च सर्पिर्यूषपयःसु च। निद्रां सञ्जनयत्याशु पलाण्डुरुपयोजितः ॥ ३३१ ॥

मांसरस, शाक, दाल, घी, यूष, दूध इन सब वस्तुओं में यदि प्याज मिल कर खाया जाय तो शीघ्र नींद आती है ॥ ३३१ ॥

***रसे = मांसरसे ॥ ३३१ ॥**

यहां पर "रस" पद का "मांसरस" अर्थ समझना चाहिये ॥ ३३१ ॥

ऐक्षव पोतकी माषः सुरा मांसरसः पयः। गोधूमतिलमत्स्याश्च निद्रां कुर्वन्ति देहिनाम् ॥३३२॥

ईख के रस मे बने हुये पदार्थ, पोई का शाक, उरद, मद्य, मांसरस (सोरुआ), दूध, गेहूं, तिल, मछली ये सब पदार्थ खाने से मनुष्यों को नींद अधिक आती है ॥ ३३२ ॥

अथ दारुषट्कलेपः (शूलाध्माने)—

दा हैमवतीकुष्ठशताह्वाहिङ्गुसैन्धवैः। लिम्पेत्कोष्णैरम्लपिष्टैः शूलाध्मानयुतोदरम् ॥ ३३३ ॥

शूल तथा आध्मान (अफारा) में दारुषट्कलेप—देवदारु, सफेद वच, कूठ, सतावर, हींग, सेंधा निमक इन सबों को अम्लपदार्थ नीबू आदि के रस में पीसकर किंचित गर्म २ उदर पर लेप करने से शूल तथा अफारा दूर होता है ॥ ३३३ ॥

***हैमवती = श्वेतवचा ॥ ३३३ ॥**

यहां पर "हैमवती" पद का "सफेद वच" अर्थ समझना चाहिये ॥ ३३३ ॥

अथ कर्णनादचिकित्सामाह—

कटुतैलं कणाहिङ्गुवचालशुनसाधितम्। उष्णं विनिहितं हन्ति कर्णयोर्निःस्वनं व्यथाम् ॥३३४॥

कर्णनादचिकित्सा—पीपल, हींग, वच और लहसुन इन सबों को कडुये तेल में पकाकर अलग करले। पश्चात् बचे तेल को यदि गर्म २ कानों में डाला जाय तो कान मे हर समय शब्द होना तथा पीड़ा ये दोनों नष्ट हो जाते हैं ॥ ३३४ ॥

***इति तैलं कर्णस्वने ॥ ३३४ ॥**

यहां पर "यह तैल कर्णनाद रोग में देना चाहिये" इसे और भी समझ लेना चाहिये ॥ ३३४ ॥

अथ शुष्ककासचिकित्सामाह—

कणा सुगन्धिवचया यवान्या च समन्विता। ताम्बूलसहिता हन्ति शुष्ककासं मुखे धृता ॥३३५॥

सूखी खासी की चिकित्सा—पीपल, सुगन्धित वच, अजवाइन इन्हे पान के साथ मुख मे रक्खे रहने से सूखी खासी दूर होती है ॥ ३३५ ॥

अथ वातज्वरहितवस्तून्याह—

श्रमोपवासानिलजे हितो नित्यं रसौदनः। मुद्गामलकयूषस्तु बद्धविट्काय दीयते ॥ ३३६ ॥

वातज्वर में रोगी के लिये हितकर वस्तुयें—श्रम, उपवास तथा वात से उत्पन्न ज्वर में रोगी को नित्य मांसरस (सोरुआ) के साथ भात खाने को देना हितकर होता है, एवम् जिस वातज्वर मे रोगी का मल सूख गया हो, वहां पर उसे मूग तथा आमले का यूष भोजन के लिये देना चाहिये ॥ ३३६ ॥

***रसो = मांसरसः ॥ ३३६ ॥**

यहां पर "रस" पद का "मांसरस (सोरुआ)" अर्थ समझना चाहिये ॥ ३३६ ॥

पेयां वा रक्तशालीनां वस्तिपार्श्वशिरोरुजि। श्वदंष्ट्राकण्टकारीभ्यां सिद्धां ज्वरहरीं पिबेत् ॥
कासी श्वासी च हिक्की च पञ्चमूलीशृतां पिबेत् ॥ ३३७ ॥

और यदि वातज्वर में वस्ति (मूत्राशय), पसुली तथा शिर में पीड़ा होती हो तो लाल जड़हन के चावलों की पेया बनाकर रोगी को खिलाना चाहिये। अथवा गोखरू तथा कटेरी के काथ में लाल जड़हन के चावलों की पेया बनाकर खिलाना चाहिये। यह पेया ज्वरनाशक भी होती है। और यदि वातज्वर वाले रोगी को खांसी, श्वास अथवा हिचकी आती हो तो पञ्चमूल के काथ से बनी हुई पेया पिलानी चाहिये। इससे खासी आदि रोग नष्ट हो जाते हैं ॥ ३३७ ॥

✽पेयामिति शेषः ॥ ३३७ ॥

इति वातज्वराधिकारः ।

यहां पर "पेया" पद मूल में नहीं है, अतः ऊपर से लाकर अर्थ करना चाहिये ॥ ३३७ ॥

यहां पर वातज्वराधिकार समाप्त हो गया ।

अथ पित्तज्वराधिकारः ।

पित्तलाहारचेष्टाभ्यां पित्तमामाशयाश्रयम् । बहिर्निरस्य कोष्ठाग्निं ज्वरकृत्स्याद्रसानुगम् ॥३३८॥

पित्तज्वराधिकार में पित्तज्वर के निदान–पित्तजनक आहार में प्रथम विहार करने से कुपित हुआ पित्त आमाशय में पहुँच कर वहां के आमरस को दूषित करता हुआ कोष्ठ की अग्नि को बाहर निकाल कर अर्थात् अग्नि की गर्मी को बाहर प्रगट कर ज्वर को उत्पन्न करता है ॥ ३३८ ॥

✽तत्र पित्तज्वरस्य विप्रकृष्टसन्निकृष्टकारणकथनपूर्विकां सम्प्राप्तिमाह—पित्तलेति । पित्तस्य पङ्गुत्वात्तेन कोष्ठाग्नेरूष्मा बहिर्नेतुं न शक्यते । यत आह—

✽पित्तं पङ्गु कफः पङ्गुः पङ्गवो मलधातवः । वायुना यत्र नीयन्ते तत्र गच्छन्ति मेघवत् ॥८१॥

यहां पर यह और समझना चाहिये कि—इस श्लोक द्वारा पित्तज्वर के विप्रकृष्ट तथा सन्निकृष्ट कारणों को कहते हुये सम्प्राप्ति का वर्णन किया गया है। और पित्त स्वयं पङ्गु होने से कोष्ठाग्नि की गर्मी को बाहर निकालने में समर्थ नहीं होता है, क्योंकि कहा भी है कि—

पित्त पङ्गु है तथा कफ भी पङ्गु है एवम् मल- धातु सभी पङ्गु हैं, अतः ये सब वायु के द्वारा जहां जहां लिवाये जाते हैं वहां पर मेघ की भांति चले जाते हैं ॥ ८१ ॥

✽इति । ततोऽत्र पित्तं वातसहायं बोद्धव्यम् । अत आह—

✽द्रव्यमेकरसं नास्ति न रोगोऽप्येकदोषजः । एकस्तु कुपितो दोष इतरानपि कोपयेत् ॥ ८२ ॥

इससे यहां पर पित्त वायु की सहायता से आमाशय में पहुँच कर कोष्ठाग्नि की गर्मी को बाहर निकालने में समर्थ होता है यह समझना चाहिये। क्योंकि कहा भी है कि–कोई द्रव्य एक ही रस से युक्त नहीं होता है और न कोई रोग एक ही दोष से युक्त होता है, अतः रोग को उत्पन्न करने वाला प्रधान दोष स्वयं कुपित होकर इतर सहायक दोषों को भी कुपित करता है। (इससे पित्त कुपित होकर अपने सहायक वायु को भी कुपित कर उसके द्वारा आमाशय में पहुंच कर अपना कार्य करता है, यह कहना युक्तिसंगत होता है।) ॥ ८२ ॥

✽तस्य पूर्वरूपमुक्तं "पित्तान्नयनयोर्दाहः" इति । पित्तज्वरे उत्पत्स्यति नेत्रदाहः स्यात् । स च श्रमादिपूर्वको भवति ॥ ३३८ ॥

और यहां पर यह और भी समझ लेना चाहिये कि—पित्तज्वर का पूर्वरूप–"पित्त से ज्वर आने के प्रथम नेत्रों में दाह होता है" अर्थात् पित्तज्वर जब होने को होता है तब प्रथम नेत्रों में दाह होता है। और वह भी श्रम आदि सामान्य ज्वरों के पूर्वरूपसम्बन्धी लक्षणों को लिये हुये होता है ॥३३८॥

अथ पित्तज्वरस्य लक्षणमाह—

वेगस्तीक्ष्णोऽतिसारश्च निद्राऽल्पत्वं तथा वमिः । कण्ठौष्ठमुखनासानां पाकः स्वेदश्च जायते॥३३९

प्रलापो वक्त्रकटुता मूर्च्छा दाहो मदस्तृषा । पीतविण्मूत्रनेत्रत्वं पैत्तिके भ्रम एव च ॥ ३४० ॥

पित्तज्वर के लक्षण—ज्वर का वेग तीक्ष्ण होना, अतीसार, नींद की कमी, वमन, कण्ठ–ओठ–मुख तथा नाक का पकना, पसीना निकलना, प्रलाप, मुख में कड़वापन, मूर्च्छा, दाह, मद, प्यास, मल-मूत्र तथा नेत्रों का रङ्ग पीला होना एवम् भ्रम ये सब लक्षण पित्तज्वर में रोगियों के होते हैं ॥३३९-३४०॥

✽अतीसारः=पित्तस्य, तस्य सरत्वात्सद्रवमलप्रवृत्तिर्न त्वतिसारवत्तस्य ज्वरोपद्रवत्वात् । वमिः=यदा पित्तं कफस्य स्थानं याति तदा बोधव्यम् । प्रलापोऽनर्थकं वचः । मूर्च्छा=रूपादेरज्ञानम् । मदः=पूगकोद्रवधत्तूरभक्षणादिव मत्तता । भ्रमः=चक्रारूढस्येव ज्ञानम् । चकाराद् रक्तकोठादयो बोद्धव्याः ॥ ३३९–३४० ॥

यहां पर "अतीसार" पद के कहने से "पित्त का अतीसार" समझना चाहिये, क्योंकि पित्त सारक पदार्थ है अतः पित्तज्वर में साधारण द्रवरूप (पतला) दस्त आता है न कि अतीसार रोग के समान पतला दस्त आता है। यदि अतीसार के समान पतला दस्त आवे तो उसे ज्वर का उपद्रव समझ कर उसकी शीघ्र उचित चिकित्सा करनी चाहिये। और इसमें "वमन" जो होता है वह "जब पित्त कफ के

स्थान पर जाता है तभी होता है" यह समझना चाहिये। "प्रलाप" पद से "अनर्थक (उटपटांङ्ग) वचन बोलना" इसका ग्रहण करना चाहिये। "मूर्च्छा" से "रूपादिकों का ज्ञान न होना"। "मद" से "सुपारी, कोदो, धतूरा आदि खाने के समान नशा होना"। "भ्रम" से "घूमते हुये चक्र के ऊपर चढे हुये की भांति ज्ञान होना" यह अर्थ समझना चाहिये। और 'एव च' इस स्थल पर "च"का पाठ होने से अन्यत्र कहे हुए "लाल २ चकत्ते पडना" इत्यादि लक्षणों का भी बोध करना चाहिये३३९-३४०

अथ पित्तज्वरस्य चिकित्सामाह—

पैत्तिके दशरात्रेण ज्वरे युञ्जीत भेषजम् ॥ ३४१ ॥

सुश्रुतोक्त पित्तज्वर की चिकित्सा—पित्तज्वर में जब लङ्घन करते २ दश दिन व्यतीत हो जाय तब उसके बाद औषध देना चाहिये ॥ ३४१ ॥

***आमाशयस्थो हत्वाऽग्निं सामो मार्गान्पिधापयन्। विदधाति ज्वरं दोषस्तस्माल्लङ्घनमाचरेत् ॥ ८३ ॥**

***इति वचनात्सामान्यतो ज्वरितमात्रस्य यावदारोग्यदर्शनं लङ्घनाभिधाने पित्तज्वरिणो लङ्घनविधाने विशेषमाह–पैत्तिक इति। दशरात्रेण लङ्घनवता व्यतीतेनेत्यर्थः ॥ ३४१ ॥**

यहां पर यह और समझना चाहिये कि—"दुष्ट हुये वातादि दोष आमाशय में स्थित होकर वहा की अग्नि को आच्छादित कर आमदोष युक्त होता हुआ रस के स्रोतोमार्गों को ढकता हुआ ज्वर उत्पन्न करता है अतः ज्वर में लङ्घन करना उचित है" ॥ ८३ ॥

इस सामान्य वचन से ज्वरवाले रोगी को जब तक आरोग्य न हो जाय तब तक लङ्घन करना चाहिये यह सिद्ध होता है, अतः पित्तज्वरवाले रोगियों को लङ्घन कराने में जो विशेषता है उसे दिखाने के लिये "पैत्तिके" इत्यादिक वचन कहा गया है। और "दशरात्रेण" पद का "जब लङ्घन करते २ दश दिन व्यतीत हो जाय" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ३४१ ॥

अथ तिक्ताऽऽदिक्वाथः—

तिक्तामुस्तायवैः पाठाकट्फलाभ्यां सहोदकम्। पक्वं सशर्करं पीतं पाचनं पैत्तिके ज्वरे ॥३४२॥

तिक्तादिक्वाथ—कुटकी, नागरमोथा, इन्द्रजौ, पाढ और कायफल इन सबों का यथाविधि क्वाथ बनाकर और योग्यताऽनुसार उसमें साफ शक्कर भी मिलाकर पित्तज्वर में रोगी को पिलाना चाहिये, यह क्वाथ पित्तज्वर के लिये पाचन (१) है ॥ ३४२ ॥

***किं तावद् भेषजं ? तदाह—तिक्तेति ॥ ३४२ ॥**

यहां पर यह और समझना चाहिये कि—ऊपर जो यह कह आये कि "औषध देना चाहिये" इसलिये यह प्रश्न हुआ कि वह औषध कौन सा है जिसे देना चाहिये इसी के उत्तर में "तिक्ते"–त्यादि वचन कहा गया है ॥ ३४२ ॥

अथ पर्पटादिक्वाथ —

पर्पटो वासकस्तिक्ता कैरातो धन्वयासकः।
प्रियङ्गुश्च कृतः क्वाथ एषां शर्करया युतः। पिपासादाहपित्तास्रयुक्तं पित्तज्वरं हरेत् ॥ ३४३ ॥

पर्पटादिक्वाथ—पित्तपापडा, अडूसा, कुटकी, चिरायता, धमासा, फूलप्रियङ्गु इन सबों का क्वाथ बनाकर उसमें साफ शक्कर छोडकर पिलाने मे प्यास, दाह, पित्त तथा रक्तदोष अथवा रक्तपित्त सहित पित्तज्वर नष्ट होता है ॥ ३४३ ॥

अथ द्राक्षाऽऽदिक्वाथः—

द्राक्षा हरीतकी मुस्ता कटुका कृतमालकः। पर्पटश्च कृतः क्वाथ एषां पित्तज्वरापहः ॥ ३४४ ॥
मुखशोषप्रलापार्त्तिदाहमूर्च्छाभ्रमप्रणुत्। पिपासारक्तपित्तानां शमनो भेदनो मतः ॥ ३४५ ॥

द्राक्षाऽऽदिक्वाथ—दाख, बडी हर्र, नागरमोथा, कुटकी, अमलतास, पित्तपापडा इन सबोंका क्वाथ बनाकर पीने से पित्तज्वर नष्ट होता है तथा मुखशोष, प्रलाप, पीडा, दाह, मूर्च्छा, भ्रम, प्यास, और रक्तपित्त को भी शान्त करता है एवम् यह मलभेदक भी होता है ॥ ३४४–३४५ ॥

अथ पटोलादिक्वाथ —

पटोलयवधान्याकमधुकं मधुसंयुतम्। हन्ति पित्तज्वरं दाहं तृष्णाञ्चातिप्रमाथिनीम् ॥३४६॥

(१) "कुटकी आदि औषधियों को १–१ तोले की मात्रा में लेकर आध सेर जल में पकाकर २ छटाक रहने पर उतार कर छानकर दो तोले मिश्री मिलाकर पिलाना चाहिये।

पटोलादिक्काथ—परवल के पत्ते, इन्द्रजौ, धनियां, मुलेठी इन सबों का क्वाथ बनाकर उसमें मधु मिला कर पिलाने से पित्तज्वर नष्ट होता है तथा दाह, भ्रम, प्यास भी शान्त हो जाती है ॥ ३४६ ॥

अथ गुडूच्यादिक्वाथः—

गुडूच्यामलकैर्युक्तः केवलो वाऽपि पर्पटः। पित्तज्वरं हरेत्तूर्णं दाहशोषभ्रमान्वितम् ॥ ३४७ ॥
एकः पर्पटकः श्रेष्ठः पित्तज्वरविनाशनः। किं पुनर्यदि युज्येत चन्दनोशीरवालकैः ॥ ३४८ ॥

गुडूच्यादिक्काथ—गिलोय तथा आमलों से युक्त पित्तपापड़ा का क्वाथ अथवा केवल पित्तपापड़ा का ही क्वाथ पिलाने से दाह तथा मुखशोष से युक्त पित्तज्वर शीघ्र दूर हो जाता है। और पित्तज्वर को तो नष्ट करने के लिये केवल एक पित्तपापड़ा ही श्रेष्ठ (समर्थ) है, फिर यदि सफेद चन्दन, खस तथा सुगन्धवाला भी उसमें मिला दिया जाय तो कहना ही क्या है। अर्थात् यह क्वाथ पित्तज्वर के लिये अत्युत्तम है ॥ ३४७–३४८ ॥

अथ ह्रीबेरादिक्काथ —

ह्रीबेरचन्दनोशीरघनपर्पटसाधितम्। दद्यात्सुशीतलं वारि तृट्छर्दिज्वरदाहनुत् ॥ ३४९ ॥

ह्रीबेरादिक्काथ—सुगन्धवाला, चन्दन, खस, नागरमोथा, पित्तपापड़ा इन सबों का क्वाथ बनाकर शीतल हो जाने पर पिलाने से अथवा इनके द्वारा मसृत जल बनाकर शीतल होने पर देने से पित्तज्वर रोगी के प्यास, वमन, ज्वर तथा दाह ये सब दूर हो जाते हैं ॥ ३४९ ॥

अथ भूनिम्बादिक्काथः—

भूनिम्बातिविषालोध्रमुस्तकेन्द्रयवामृताः ॥ ३५० ॥
वालकं धान्यकं बिल्वं कषायो माक्षिकान्वितः। विडभेदश्वासकासांश्च रक्तपित्तज्वरं हरेत् ॥ ३५१ ॥

भूनिम्बादिक्काथ—चिरायता, अतीस, लोध, नागरमोथा, इन्द्रजौ, गिलोय, सुगन्धबाला, धनियां, बेल की छाल इन सबों का क्वाथ बना कर और उसमें शहद डालकर पिलाने से मलभेद (अधिक पतला दस्त होना), श्वास, खांसी, रक्तपित्त तथा पित्तज्वर दूर होता है ॥ ३५०–३५१ ॥

अथ महाद्राक्षाऽऽदिक्काथः—

द्राक्षाचन्दनपद्मानि मुस्ता तिक्ताऽमृताऽपि च। धात्री बालमुशीरं च लोध्रेन्द्रयवपर्पटाः ॥ ३५२ ॥
परूषकं प्रियङ्गुश्च यवासो वासकस्तथा। मधुकं कुलकञ्चापि किराता धान्यकं तथा ॥ ३५३ ॥
एषां क्वाथो निहन्त्येव ज्वरं पित्तसमुत्थितम्। तृष्णां दाहं प्रलापञ्च रक्तपित्तं भ्रमं क्लमम् ॥ ३५४ ॥
मूर्च्छां छर्दिं तथा शूलं मुखशोषमरोचकम्। कासं श्वासञ्च हृल्लासं नाशयेन्नात्र संशयः ॥ ३५५ ॥

महाद्राक्षाऽऽदिक्काथ—दाख, रक्तचन्दन, कमल, नागरमोथा, कुटकी, गिलोय, आमला, सुगन्धबाला, खस, लोध, इन्द्रजौ, पित्तपापड़ा, फालसा, फूलप्रियङ्गु, जवासा, अडूसा, मुलेठी, बेर, चिरायता धनियां इन सबों का क्वाथ बनाकर पीने से पित्त से उत्पन्न हुआ ज्वर निश्चय दूर होता है तथा उसमें होने वाले प्यास, दाह, प्रलाप, रक्तपित्त, भ्रम, क्लान्ति, मूर्च्छा, वमन, शूल, मुखशोष, अरुचि, खांसी, श्वास, बकाई ये सब भी निःसन्देह दूर होते हैं ॥ ३५२–३५५ ॥

अथ धान्याकक्काथः—

ससितो निशि पर्युषितः प्रातर्धान्याकतण्डुलक्वाथः। पीतः शमयत्यचिरादन्तर्दाहं ज्वरं पैत्तम् ३५६

धान्याकक्काथ—धनिया के दानों को क्वाथ बनाकर एक रात्रि भर रख देने के बाद सुबह साफ शक्कर मिलाकर पीने से बहुत शीघ्र अन्तर्दाह युक्त पित्तज्वर नष्ट होता है ॥ ३५६ ॥

अथामृताहिमवासाहिमौ—

अमृतायाहिमः प्रातः ससितः पैत्तिं ज्वरम्। वासायाश्च तथा कासरक्तपित्तज्वराञ्जयेत् ॥ ३५७ ॥

गिलोय का हिम—गिलोय का हिम (१) बनाकर उसमें मिश्री मिलाकर प्रातः काल पीने से पित्तज्वर नष्ट होता है।

अडूसे का हिम—इसी प्रकार से अडूसे का भी हिम बनाकर पीने से खांसी तथा रक्तपित्त से युक्त पित्तज्वर नष्ट होता है ॥ ३५७ ॥

अथ द्वितीयो गुडूच्यादिक्काथः—

गुडूची भूमिनिम्बश्च वालं वीरणमूलकम्। लघुमुस्तं त्रिवृद्धात्री द्राक्षा वासा च पर्पटः ॥ ३५८ ॥

(१) अडूसे की कोमल पत्तियां एक तोले लेकर कुछ कुचकुचा कर ६ तोले पानी में रात भर पड़ा रहने दें। सुबह इसे पीस छान कर पिलावें।

एषां क्वाथो हरत्येव ज्वरं पित्तकृतं द्रुतम् । सोपद्रवमपि प्रातर्निपीतो मधुना सह ॥ ३५९ ॥

द्वितीय गुडूच्यादिकाथ—गिलोय, चिरायता, सुगन्धवाला, खस, नागरमोथा, निसोथ, आमला, दाख, अड्रूसा, पित्तपापडा इन सबों का काथ बना कर और उसमें मधु डालकर प्रातः काल पीने से उपद्रव से युक्त भयङ्कर पित्तज्वर शीघ्र दूर होता है ॥ ३५८-३५९ ॥

अथ प्रलेपमाह—

पलाशस्य बदर्या वा निम्बस्य मृदुपल्लवैः । अम्लपिष्टैः प्रलेपोऽयं हन्याद्दाहयुतं ज्वरम् ॥३६०॥

पित्तज्वर में प्रलेप—पलाश, बेर अथवा नीम के कोमल पल्लवों (पत्तियों) को लेकर कांजी आदि अम्लरस के साथ पीसकर प्रलेप करने से दाहयुक्त पित्तज्वर नष्ट हो जाता है ॥ ३६० ॥

अथ शीतजलधारामाह—

उत्तानसुप्तस्य गभीरताम्र-कांस्यादिपात्रे निहिते च नाभौ ।
शीताम्बुधारा बहुला पतन्ती निहन्ति दाहं त्वरितं ज्वरं च ॥ ३६१ ॥

पित्तज्वर में शीतल जलधारा—उतान लेटे हुये रोगी की नाभि के ऊपर एक बड़ा तामे अथवा कांसे का बर्त्तन रखकर उसमें यदि शीतल जल की धार डाली जाय (१)तो उससे शीघ्र ही दाहयुक्त पित्त-ज्वर नष्ट होता है ॥ ३६१ ॥

अथ पथ्याऽवलेह —

पथ्यां तैलघृतक्षौद्रैर्लिहन्दाहज्वरापहाम् । कासासृक्पित्तवीसर्पश्वासान्हन्ति वमीमपि ॥३६२॥

पथ्याऽवलेह—हरड का चूर्ण, तिल का तैल, गोघृत और शहद के साथ चाटने से दाहयुक्त पित्त-ज्वर, खासी, रक्तपित्त, वीसर्प, श्वास तथा वमन ये सब नष्ट हो जाते हैं ॥ ३६२ ॥

*तैलघृतक्षौ"रित्यत्र न समुच्चयस्तेन केवलेन क्षौद्रेणापि लिह्यात् ॥ ३६२ ॥

यहां पर "तैलघृतक्षौद्रै." इस पद मे "समुच्चय नहीं है अर्थात् तीनों के साथ चाटना चाहिये" ऐसा नहीं है, अत एव "केवल शहद के साथ भी हरड का चूर्ण चाट सकते हैं" यह और भी समझ लेना चाहिये ॥ ३६२ ॥

अथार्द्रवस्त्रधारणमाह—

काञ्जिकार्द्रपटेनावगुण्ठनं दाहनाशनम् । अथ गोतक्रसंस्विन्नशीतलीकृतवाससा ॥ ३६३ ॥

गीले वस्त्र धारण करने की विधि—कांजी मे भिगोये हुये वस्त्र(२) को भी रोगी के शरीर पर उढा देने से दाह नष्ट हो जाता है, अथवा गौ के तक्र (मठा) में प्रथम उबाले हुये पश्चात् निकाल कर शीतल किये हुये वस्त्र के उढाने से भी दाह नष्ट होता है ॥ ३६३ ॥

अथ कवलमाह—

द्राक्षाऽऽमलककल्केन कवलोऽत्र हितो मतः ।पक्वदाडिमबीजैर्वा धानाकल्केन च क्वचित्॥३६४॥

कवल की विधि—पित्तज्वर मे दाख और आमला इन दोनों का कल्क बनाकर मुख में कवल धारण करना (धीरे २ चाबना) हितकर होता है । अथवा पके हुये अनार के दाने या धनिये के कल्क का भी कवल हितकर होता है ॥ ३६४ ॥

*धानाऽत्र धान्यकम् ॥ ३६४ ॥

यहां पर "धाना" पद का "धनिया" अर्थ समझना चाहिये ॥ ३६४ ॥

अथ तर्पणमाह—

दाहकम्पार्दितं क्षामं निरन्नं तृष्णयान्वितम् । शर्करामधुसंयुक्तं पाययेल्लाजतर्पणम् ॥ ३६५ ॥

तर्पण की विधि—दाह और कम्प से पीडित, दुर्बल, आहाररहित, अधिक प्यास से युक्त ज्वररोगी को साफ शक्कर तथा मधु से युक्त धान के खीलों का सत्तूरूपी तर्पण पिलाना चाहिये ॥ ३६५ ॥

*लाजतर्पणम् = लाजसक्तुरूपं तर्पणम् । सन्तर्पणस्वरूपमुक्तं सामान्यज्वरचिकित्सा-याम् ॥ ३६५ ॥

---

(१) पैत्तिकज्वर में जब (टेम्परेचर—Temparatur) अधिक होता है तो उसे कम करने के लिये इस जलधारा का प्रयोग होता है। पाश्चात्य चिकित्सक तो तापक्रम कम करने के लिये सिर पर बर्फ रखते हैं।

(२) पाश्चात्य आयुर्वेदज्ञ भी दाह को कम करने के लिये बर्फ के पानी में कपडे भिगों कर उससे रोगी को आवृत करते हैं । तथा वे वस्ति द्वारा बर्फ का पानी (Rectal Enema) पहुचाते है ।

और यहां पर "लाजतर्पणम्" पद का "धान के खीलों का सत्तूरूप तर्पण" अर्थ समझना चाहिये। और "मन्तर्पण के बनाने की प्रक्रिया पीछे सामान्य ज्वर की चिकित्सा में कह आये हैं अतः पुन यहां उसका उल्लेख नहीं किया है" यह और भी समझ लेना चाहिये ॥ ३६५ ॥

अथ पित्तज्वरोपचारमाह—

मुद्गयूषौदनो देयः सितया पैत्तिके ज्वरे ।
हर्म्ये शुभ्राभ्रसङ्काशे शशाङ्ककरशीतले । मलयोद्भवसंसिक्ते सुप्यात्पित्तज्वरी नरः ॥ ३६६ ॥
हारावलीचन्दनशीतलानां सुगन्धपुष्पाम्बरभूषितानाम् ।
नितम्बिनीनां सुपयोधराणामालिङ्गनान्याशु हरन्ति दाहम् ॥ ३६७ ॥
आह्लादश्चास्य विज्ञाय ताः स्त्रीरपनयेत्पुनः । हितञ्च भोजयेदन्न न प्रीतिसुरतं महत् ॥ ३६८ ॥
वाप्यः कमलहासिन्यो जलयन्त्रगृहाः शुभाः । नार्यश्चन्दनदिग्धाङ्ग्यो दाहदैन्यहरा मताः॥३६९॥

इति पित्तज्वराधिकारः ।

पित्तज्वर में रोगी के लिये कर्तव्य उपचार—पित्तज्वर में रोगी को मूग का यूष तथा भात ये दोनों चीनी के साथ मिलाकर खाने के लिये देना चाहिये। और सफेद बादलों के समान निर्मल, चन्द्रमा की किरणों से शीतल हुये एवम् चन्दन मिश्रित सुगन्धित जल से सींचे हुये ऐसे मकान में पित्तज्वर वाले रोगी को सुलाना चाहिये। तथा मोतियों की हार पहनने और चन्दन लगाने से शीतल हुई, सुगन्धित फूल तथा वस्त्रों से विभूषित, मनोहर कुचों वाली युवती स्त्रियों का गाढ आलिङ्गन भी दाह को दूर करने वाला होता है, किन्तु इस बात का उस समय अधिक ध्यान रखना चाहिये कि—जब रोगी को आलिङ्गन कराने से आह्लाद होने लगे अर्थात् मैथुन की इच्छा होने लगे तब उक्त स्त्री को रोगी से दूर कर देना चाहिये, अन्यथा मैथुन करने में अत्यन्त हानि होगी। और हितकारक अन्न रोगी को खिलावे। प्रीति के साथ मैथुन करने से रोगी को अलग करता रहे। और खिले हुये कमलों वाली बावड़ियां (तालाब आदिक भी), छूटते हुये फव्वारों से युक्त सुन्दर गृह, सारे शरीर में चन्दन लगाये हुई युवती सुन्दरी स्त्रियां ये सब वस्तुयें दाह से उत्पन्न हुई रोगी की दीनता को दूर करने वाली होती हैं।

इति पित्तज्वराधिकारः ।

अथ कफज्वराधिकारः ।

श्लेष्मलाहारचेष्टाभ्यां कफो ह्यामाशयाश्रयः । बहिर्निरस्य कोष्ठाग्निं ज्वरकृत्स्याद्रसानुगः॥३७०॥

कफज्वराधिकार में प्रथम कफज्वर के निदान कहते हैं—कफजनक आहार तथा विहार करने से कुपित हुआ कफ आमाशय में पहुंच कर आमरस को दूषित करता हुआ कोष्ठाग्नि की गर्मी को बाहर निकाल कर ज्वर को उत्पन्न करता है ॥ ३७० ॥

अथ श्लेष्मज्वरस्य विप्रकृष्टसन्निकृष्टकारणकथनपूर्विकां सम्प्राप्तिमाह—श्लेष्मलेति । कफस्य कोष्ठाग्नितेजसो बहिर्नयनेन पङ्गुत्वादाशङ्कायां जातायां पित्तस्येव सिद्धान्तो बोद्धव्यः । तस्य पूर्वरूपमुक्तं "कफान्नानभिनन्दनमि"ति । कफज्वरे उत्पत्स्यति; अन्नाभिलाषः स्यात्स च श्रमादिपूर्वको भवति ॥ ३७० ॥

यहां पर यह और समझना चाहिये कि—यह श्लोक कफज्वर के विप्रकृष्ट (दूर) तथा सन्निकृष्ट (समीप) निदान (कारण) को कहते हुये सम्प्राप्ति को बताने के लिये कहा गया है। और "कफ पङ्गु है अतः वह स्वय कैसे आमाशय में जाकर कोष्ठाग्नि की गर्मी को बाहर निकाल ले जा सकता है" ऐसी आशङ्का होने पर इसका समाधान पूर्वोक्त पित्त के सिद्धान्तानुसार समझना चाहिये। क्योंकि वहां पर भी पित्त के पङ्गु होने पर इसी भांति शङ्का उठी थी अतः जिस भांति वहां पर निवारण हुआ उसी भांति यहां पर भी (१) समझ लेना चाहिये।

---

(१) अर्थात्—"पित्त पङ्गु कफ पङ्गु पङ्गवो मलधातवः ।
वायुना यत्र नीयन्ते तत्र गच्छन्ति मेघवत् ॥

पित्त तथा कफ दोनों ही पङ्गु हैं उनमें स्वय किसी स्थान पर जाने का सामर्थ्य नहीं है। जहां ये वायु के द्वारा ले जाये जाते हैं वहीं जाते हैं। जिस प्रकार वायु मेघ को जहां चाहती है उड़ा ले जाती है उसी प्रकार दोषों में भी वात जहां शेष दोषों को ले जाता है, वे वहीं जाते हैं। अतः यहां पर भी वात बढ़कर जब कफ को आमाशय में ले जाता है उस समय कोष्ठाग्नि को बाहर निकालता हुआ ज्वर का कारण होता है।

और कफज्वर के पूर्वरूप में "कफ से अन्न में अरुचि होती है" ऐसा कहा गया है। जिसका अर्थ यह समझना चाहिये कि– कफज्वर जब उत्पन्न होने को होता है तब अन्न में अरुचि हो जाती है। सो भी श्रमादि साधारण ज्वर के पूर्वरूप सम्बन्धी लक्षणों के सहित होती है ॥ ३७० ॥

अथ कफज्वरस्य लक्षणमाह—

स्तैमित्यं स्तिमितो वेग आलस्यं मधुरास्यता। शुक्लमूत्रपुरीषत्वं स्तम्भस्तृप्तिरथापि वा ॥३७१॥
गौरवं शीतमुत्क्लेदो रोमहर्षोऽतिनिद्रिता। प्रतिश्यायोऽरुचिः कासः कफजेऽक्ष्णोश्च शुक्लता॥३७२॥

कफज्वर के लक्षण–सभी अङ्गों का गीले वस्त्रों से लिपटे हुये के समान प्रतीत होना, ज्वर का मन्दवेग होना, शरीर मे आलस्य तथा मुख में मीठापन रहना, मल–मूत्र तथा नेत्रों मे शुक्लता, अङ्गों का जकड जाना, भोजन का सामर्थ्य रहने पर भी अन्न में अरुचि, शरीर में गुरुता, सर्दी ज्ञात होना, वमन होने के समान प्रतीत होना, रोमाञ्च, निद्रा की अधिकता, प्रतिश्याय (जुखाम), भोजन करने मे अनिच्छा, खासी ये सब लक्षण कफज्वर मे रोगी के प्रगट होते हैं ॥ ३७१–३७२ ॥

***स्तैमित्यम्=अङ्गानामार्द्रपटावगुण्ठितत्वमिव। स्तिमितो वेगः=ज्वरस्य मन्दो वेगः। आलस्यं=समर्थस्यापि कर्मण्यनुत्साहः। स्तम्भः=अङ्गानामनम्रता। तृप्तिः=अन्नानभिलापः सत्यपि भोजनसामर्थ्ये। गौरवं गात्राणाम्। शीत—लगतीति शेषः। उत्क्लेदः=वमनोपस्थितिरिव। अतिनिद्रता=निद्राऽऽधिक्यम्। प्रतिश्यायो=नासारोगविशेषः। अरुचिः=भोजनानिच्छा। चकारात्पिडिका शीता मुखप्रसेकश्छर्दिस्तन्द्रा हृदयोपलेप उष्णाभिलापो वह्निमान्द्यमिति यत उक्तम्—**

प्रसेक· पिडिका शीता छर्दिस्तन्द्रोष्णकामिता।
कफेन लिप्तं हृदयं भवेदग्नेश्च मन्दता ॥ ८४ ॥ इति ॥ ३७१–३७२ ॥

यहा पर "स्तैमित्य" का "अङ्गों का गीले वस्त्रों से लिपटे हुये के समान प्रतीत होना"। 'स्तिमितो वेगः" का "ज्वर का मन्दवेग होना"। "आलस्य" का "सामर्थ्य रहते हुये कार्य करने में उत्साह न होना"। "स्तम्भ" का "अङ्गों का जकड जाना"। "तृप्तिः" का "भोजन करने का सामर्थ्य रहने पर भी अन्न में अरुचि"। "गौरवम्" का "शरीर में गुरुता"। "शीतम्" का "सर्दी ज्ञात होना"। "उत्क्लेद." का "वमन होने के समान प्रतीत होना"। "अतिनिद्रता" का "निद्रा की अधिकता"। "प्रतिश्यायः" का "लोकप्रसिद्ध जुखाम नामक नासारोगविशेष"। "अरुचि" का "भोजन करने मे अनिच्छा" यह अर्थ समझना चाहिये। तथा "अक्ष्णोश्च" इस स्थल पर "च" का पाठ होने से "शीतल फुसियां, मुख से बार २ पानी टपकना, वमन, तन्द्रा, हृदय का कफ से लिपटे हुए के समान ज्ञात होना, गर्मी की इच्छा होना तथा अग्नि की मन्दता" इत्यादिक भी कफज्वर के लक्षणों मे समझना चाहिये। क्योंकि अन्यत्र कहा हुआ है कि—

मुख से पानी गिरना, शीतल फुसियां, वमन, तन्द्रा, गर्मी की इच्छा होना, कफ से हृदय का लिपटा सा रहना तथा अग्नि की मन्दता ये सब लक्षण कफज्वर के होते हैं। यह सब समझना चाहिये। (८४) ॥ ३७१–३७२ ॥

अथ श्लेष्मज्वरस्य चिकित्सामाह—

श्लैष्मिके द्वादशाहेन ज्वरे युञ्जीत भेषजम्। पिप्पल्यादिकषायन्तु कफजे परिपाचनम् ॥३७३॥

कफज्वर की चिकित्सा—कफज्वर में लङ्घन करते हुये १२ दिन व्यतीत होने पर रोगी के लिये औषध देना उचित होता है। और निम्नलिखित पिप्पल्यादि क्वाथ पिलाना कफज्वर में रोगी के लिये आमदोष का पाचन करने वाला होता है ॥ ३७३ ॥

***आमाशयस्थो हत्वाऽग्निं सामो मार्गान्पिधापयन्।**
विदधाति ज्वरं दोषस्तस्माल्लङ्घनमाचरेत् ॥ ८५ ॥

यहा पर यह और समझना चाहिये कि—वातादिक दोष कुपित होकर आमाशय में पहुच कर अग्नि को आच्छादित कर आमदोष से युक्त होता हुआ, स्रोतोमार्गों को ढँकता हुआ ज्वर उत्पन्न करता है। अत ज्वर में सामान्य रूप से लङ्घन करना चाहिये ॥ ८५ ॥

***इति वचनात्सामान्यतो ज्वरितमात्रस्य यावदारोग्यदर्शनं लङ्घनाभिधाने, श्लेष्मज्वरिणो लङ्घनविधाने विशेषमाह सुश्रुतः–श्लैष्मिक इति। द्वादशाहेन लङ्घनवता व्यतीतेन-**

इत्यर्थः। किं तद् भेषजं? तदाह—("पिप्पल्यादिकषायस्तित्यादि) ॥ ३७३ ॥

इस वचन से साधारण हर एक ज्वर वाले रोगी को जब तक आरोग्य न दिखाई पड़े तब तक लङ्घन का विधान होने पर कफज्वर वाले रोगियों को लङ्घन कराने के विषय में इसमें उक्त विशेषता को दिखाने के लिये इस "श्लैष्मिक" इत्यादि श्लोक को कहा गया है। और "द्वादशाहेन" पद का "लङ्घन करते हुये १२ दिन व्यतीत होने पर" यह अर्थ समझना चाहिये। एवम् "कफज्वर में औषध देना चाहिये" ऐसा कह आये हैं। अतः वह औषध कौन सा है? इस प्रश्न के उत्तर में "पिप्पल्यादिकषायन्तु" इत्यादि श्लोक के उत्तरार्ध को कहते हैं। यह और समझ लेना चाहिये ॥ ३७३ ॥

अथ पिप्पल्यादिक्वाथमाह—

पिप्पली पिप्पलीमूलं मरिचं गजपिप्पली। नागरं चित्रकं चव्यं रेणुकैलाऽजमोदिकाः ॥३७४॥
सर्षपो हिङ्गु भार्गी च पाठेन्द्रयवजीरकाः। महानिम्बश्च मूर्वा च विषा तिक्ता विडङ्गकम् ॥३७५॥
पिप्पल्यादिगणो ह्येष कफमारुतनाशनः। गुल्मशूलज्वरहरो दीपनस्त्वामपाचनः ॥ ३७६ ॥

पिप्पल्यादि क्वाथ—पीपल, पिपरामूल, मरिच, गजपीपल, सोंठ, चीता, चव्य, रेणुका, इलायची, अजमोद, सरसो, हींग, भारङ्गी, पाढ, इन्द्रजौ, जीरा (सफेद), बकायन, मूर्वा (चुरनहार), अतीस, कुटकी और वायविडङ्ग ये सब पिप्पल्यादिगण की औषधियां हैं, इन सबों का(१)क्वाथ बना कर पिलाने से कफ तथा वात शान्त हो जाता है। और यह गुल्म, शूल तथा ज्वर को दूर करने वाला, अग्निदीपक तथा आम को पचाने वाला होता है ॥ ३७४–३७६ ॥

अथ पिप्पल्यवलेहमाह—

क्षौद्रोपकुल्यासंयोगः श्वासकासज्वरापहः। प्लीहानं हन्ति हिक्कां च बालानामपि शस्यते ३७७

पिप्पल्यवलेह—पीपल का चूर्ण शहद के साथ मिलाकर चाटने से श्वास, कास, ज्वर, प्लीहा तथा हिचकी ये सब रोग नष्ट होते हैं। एवम् यह अवलेह बालकों के लिये भी उत्तम होता है ॥ ३७७ ॥

अथ चतुर्भद्रिकाऽवलेहमाह—

पिप्पलीं त्रिफलां चापि समभागां ज्वरी लिहन्।
मधुना सर्पिषा चापि कासी श्वासी सुखी भवेत् ॥ ३७८ ॥

चतुर्भद्रिकाऽवलेह—पीपल तथा त्रिफला (आँवला, हरट, बहेरा) इन सबों का चूर्ण समान भाग में लेकर मधु तथा गोघृत के साथ फेंटकर चाटने से कफज्वररोगी, खांसी तथा दमेवाला रोगी ये सब अवश्य सुखी होते हैं ॥ ३७८ ॥

अथान्यप्रकारमाह—

कट्फलं पौष्करं शृङ्गी कृष्णा च मधुना सह। श्वासकासज्वरहरो लेहोऽयं कफनाशनः ॥३७९॥

दूसरे प्रकार का चतुर्भद्रिकाऽवलेह—कायफल, पुहकरमूल, काकडाशिंगी, पीपल इन चारों औषधों का चूर्ण समान भाग में लेकर मधु के साथ मिलाकर चाटना चाहिये। यह भी एक दूसरे प्रकार का चतुर्भद्रिकाऽवलेह कहलाता है। तथा यह भी (२)श्वास, खांसी तथा ज्वर को दूर करने वाला होता है एवम् कफ को भी नष्ट करने वाला होता है ॥ ३७९ ॥

अथाष्टाङ्गावलेहमाह—

कट्फलं पौष्करं शृङ्गी यवानी कारवी तथा। कटुत्रयञ्च सर्वाणि समभागानि चूर्णयेत् ॥३८०॥
आर्द्रकस्वरसैर्लिह्यान्मधुना वा कफज्वरी। कासश्वासारुचिच्छर्दिहिक्काश्लेष्मानिलापहः ॥३८१॥

अष्टाङ्गावलेह—कायफल, पुहकरमूल, काकडाशिंगी, अजवायन, कलौंजी, त्रिकटु (सोंठ पीपर, मिर्च) इन आठ औषधों को समान भाग में लेकर चूर्ण कर डाले, पश्चात् उस चूर्ण को अदरख का स्वरस अथवा शहद के साथ मिलाकर यदि कफज्वर वाला रोगी चाटे तो उसका खांसी, दमा, अरुचि, वमन, हिचकी, कफ तथा वात नष्ट हो जाता है ॥ ३८०–३८१ ॥

---

(१) क्वाथ्य द्रव्यों की मिलित मात्रा २½ से ४ तोला तक (बल के अनुसार) लेकर आध सेर पानी में पकाकर आध पाव रहने पर उतार छानकर पिलाना चाहिये। इस (प्रस्तुत) क्वाथ में यदि यवक्षार २ रत्ती मिला दिया जाय तो इसका गुण और और भी बढ जाता है।

(२) यह बालकों के सब प्रकार के रोगों में विशेष कर कास, श्वास युक्त ज्वर में लाभ करता है। इसकी बालकोचित मात्रा ५ से १० रत्ती है। माता के दूध में इसे मिलाकर चटाना चाहिये।

अथ निर्गुण्डीकाथमाह—

सिन्दुवारदलक्वाथं कणाऽऽढ्यं कफजे ज्वरे। जङ्घयोश्च बले क्षीणे कर्णे च पिहिते पिबेत् ॥३८२॥

निर्गुण्डीकाथ—कफ ज्वर में यदि रोगी के जङ्घाओं का बल क्षीण हो गया हो और कान बन्द हो गये हों अर्थात् सुनाई न पडता हो तो सम्हालू के पत्तों का क्वाथ बनाकर उसमें पीपल का चूर्ण मिलाकर पिलाना चाहिये ॥ ३८२ ॥

अथ यवान्यादिकाथमाह—

यवानी पिप्पली वासा तथा खाखसवल्कलम्। एषां क्वाथं पिबेत्कासे श्वासे च कफजे ज्वरे॥३८३॥

यवान्यादिकाथ—अजवायन, पीपल, अडूसा, पोस्ता के ढेंढी की छाल इन सबों का काथ बनाकर कफज्वर, खांसी तथा दमे में रोगी को पिलाना चाहिये ॥ ३८३ ॥

अथ वासाऽऽदिकाथमाह—

वासाक्षुद्राऽमृताक्काथः क्षौद्रेण ज्वरकासहृत् ॥ ३८४ ॥

वासाऽऽदिकाथ—अडूसा, कटेरी छोटी और गिलोय इन सबों के काथ में मधु डाल कर पीने से कफज्वर तथा खांसी दूर होती है ॥ ३८४ ॥

अथ मरिचादिकाथमाह—

मरिचं पिप्पलीमूलं नागरं कारवी कणा। चित्रकं कट्फलं कुष्ठ ससुगन्धि वचा शिवा ॥३८५॥
कण्टकारीजटा शृङ्गी यवानी पिचुमन्दकः। एषां क्वाथो हरत्येव ज्वरं सोपद्रवं कफात् ॥३८६॥

मरिचादिकाथ—मरिच, पिपरामूल, सोंठ, कलौंजी, पीपल, चीता, कायफल, कूठ, सुगन्धित वच, हरड, कटेरी की जड, काकटाशिंगी, अजवायन, नीम की छाल इन सबों का क्वाथ बनाकर पीने से उपद्रवयुक्त भयङ्कर कफज्वर निश्चय नष्ट हो जाता है ॥ ३८५—३८६ ॥

अथ कल्पतरुरसप्रयोगमाह—

कफवातव्याधिहरत्वाद्वाताधिकारोक्तकल्पतरुरसो योज्यः।

कल्पतरुरसप्रयोग—कफवात संबन्धी रोगों को दूर करने वाला होने से वाताधिकार में कहा हुआ कल्पतरुरस का भी कफज्वर में प्रयोग करना चाहिये।

अथ कवलमाह—

सिन्धुत्रिकटुराजीभिरार्द्रकेण कफे हितः ॥ ३८७ ॥

कवल—सेंधा निमक, त्रिकटु (सोंठ, पीपर, मिरच) और राई इन सबों का चूर्ण अदरख के रस के साथ मिलाकर कवल की भांति मुख में रखने से कफ में विशेष उपकारी होता है ॥ ३८७ ॥

कवल इति शेषः ॥ ३८७ ॥

यहां पर मूल में यद्यपि "कवल" शब्द का प्रयोग नहीं है तथाऽपि प्रसङ्गानुसार ऊपर से "कवल" शब्द को लाकर अर्थ करना चाहिये। यह और समझ लेना चाहिये ॥ ३८७ ॥

अथान्नमाह—

मुद्गयूषौदनो देयो ज्वरे कफसमुत्थिते ॥ ३८८

इति श्लेष्मज्वराधिकार.।

अन्न—कफज्वर में रोगी को मूग के यूष के साथ भात मिलाकर खाने को देना चाहिये ॥ ३८८ ॥

इति श्लेष्मज्वराधिकार.।

अथ वातपित्तज्वराधिकारः।

वातपित्तकरैर्वातपित्ते ह्यामाशयाश्रये। वह्निनिरस्य कोष्ठाग्निं रसगे ज्वरकारिणी ॥ ३८९ ॥

वातपित्तज्वर का निदान—वायु तथा पित्त इन दोनों को उत्पन्न करने वाले आहार-विहारों के द्वारा वायु और पित्त कुपित होकर जब ये दोनों आमाशय मे गमन करते हैं। तब वहां के आमरस को दूषित कर के एवम् कोठे के अग्नि की उष्णता को बाहर निकाल कर ज्वर को उत्पन्न करते हैं ॥३८९॥

वातपित्तज्वरस्य विप्रकृष्टसन्निकृष्टकारणकथनपूर्विकां सम्प्राप्तिमाह—वातपित्तेति। स्यातामिति शेषः ॥ ३८९ ॥

यहां पर यह और भी समझना चाहिये कि—"वातपित्तकरै."—इत्यादि श्लोक से वातपित्तज्वर के दूर तथा समीपवर्त्ती कारणों को कहते हुए सम्प्राप्ति को कहते हैं। और यहां पर "स्याताम्" इस

पद की कमी है अतः ऊपर से "स्थानाम्" लगाकर अर्थ किया गया है ॥ ३८९ ॥

अथ वातपित्तज्वरपूर्वरूपमाह—

प्राग्रूपे वातपित्तस्य भवतो वातपैत्तिके ॥ ३९० ॥

वातपित्त ज्वर के पूर्वरूप—वातपैत्तिक ज्वर के पूर्वरूप में पूर्व में कहे हुये वातज्वर तथा पित्तज्वर इन दोनों के जितने पूर्वरूप के लक्षण हैं वे सब मिलाकर होते हैं ॥ ३९० ॥

***ज्वर इति शेषः ॥ ३९० ॥**

यहां पर "वातपैत्तिके" इसके साथ "ज्वरे" इस पद की कमी है अतः इसे जोड़कर "वातपैत्तिके" पद का "वातपैत्तिक ज्वर के पूर्वरूप में" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ३९० ॥

अथ वातपित्तज्वरस्य लक्षणमाह—

तृष्णा मूर्च्छा भ्रमो दाहो निद्रानाशः शिरोरुजा । कण्ठास्यशोषो वमथू रोमहर्षोऽरुचिस्तमः ॥
पर्वभेदश्च जृम्भा च वातपित्तज्वराकृतिः ॥ ३९१ ॥

वातपित्तज्वर के लक्षण—प्यास, मूर्च्छा, भ्रम, दाह, नींद न आना, शिर में पीड़ा, कण्ठ तथा मुख का सूखना, वमन, रोमाञ्च, अरुचि, आंखों के सामने अन्धेरा मालूम पड़जाना, पोर टूटे जाते हुये के समान सन्धियों में पीड़ा, अधिक जँभाई आना ये सब लक्षण वातपित्त ज्वर के हैं ॥ ३९१ ॥

***पर्वभेदः=पर्वाणि भिद्यन्त इव संधिषु व्यथा ॥ ३९१ ॥**

और यहां पर "पर्वभेद" पद का "पोर टूटे जाते हुये के समान सन्धियों में पीड़ा" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ३९१ ॥

अथ वातपित्तज्वरस्य चिकित्सामाह—

वातपित्तज्वरे देयमौषधं पञ्चमेऽहनि ॥ ३९२ ॥

वातपित्तज्वर की चिकित्सा—वातपित्त ज्वर में ४ दिन लङ्घन कराकर ५ वें दिन रोगी को मुख्य औषध देना चाहिये॥ ३९२ ॥

अथ किरातादिक्वाथमाह—

किराततिक्तममृतां द्राक्षामामलकं शटीम् । निष्क्वाथ्य सगुडं क्वाथं वातपित्तज्वरे पिबेत् ॥३९३॥

किरातादिक्वाथ—चिरायता, गिलोय, दाख, आमले, कचूर इन सबों का क्वाथ बना कर उसमे गुड़ डालकर पीने से वातपित्त ज्वर में हितकारक होता है ॥ ३९३ ॥

अथ पञ्चभद्रक्वाथमाह—

गुडूची पर्पटो मुस्तं किरातो विश्वभेषजम् । वातपित्तज्वरे देयं पञ्चभद्रमिदं शुभम् ॥ ३९४ ॥

पञ्चभद्रक्वाथ—गिलोय, पित्तपापड़ा, नागरमोथा, चिरायता, सोंठ इन ५ औषधों का क्वाथ बनाकर वातपित्त ज्वर मे रोगी को पिलाने से हितकर होता है । क्योंकि यह पञ्चभद्र नामक क्वाथ उत्तम है ॥ ३९४ ॥

अथ त्रिफलाऽऽदिक्वाथमाह—

त्रिफलाशाल्मलीरास्नाराजवृक्षाटरूषकैः । शृतमम्बु हरत्याशु वातपित्तभवं ज्वरम् ॥ ३९५ ॥

त्रिफलाऽऽदिक्वाथ—त्रिफला (आमला, हरड़, बहेरा), सेमर की छाल, रास्ना, अमलतास, अडूसा की छाल इन सबोंका क्वाथ बनाकर पिलाने से रोगी का वातपित्तज्वर शीघ्र दूर हो जाता है॥३९५॥

अथ मधुकादिहिममाह—

मधुकं सारिवा द्राक्षा मधूकं चन्दनोत्पलम् । काश्मरीफलकं लोध्रं त्रिफला पद्मकेशरम् ॥
परूषकं मृणालञ्च क्षिपेत्सचूर्ण्य वारिणी । निशोषितं सिताक्षौद्रलाजयुक्तन्तु तत्पिबेत् ॥
वातपित्तज्वरं दाहं तृष्णां मूर्च्छाऽरुचिभ्रमान् । शमयेद्रक्तपित्तञ्च जीमूतमिव मारुतः ॥ ३९६ ॥

मधुकादिहिम—मुलेठी, सारिवा (सफेद अनन्तमूल), दाख, महुये का फूल, सफेद चन्दन, नीलकमल, गम्भारी का फल, लोध, त्रिफला (आमला, हरड़, बहेरा), कमल का केशर, फालसा, कमल की नाल इन सबों को चूर्ण करके शीतल जल मे रात भर भिगो देवै, पश्चात् प्रातःकाल जल मे औषधों को अलग करके उक्त जल में साफ शक्कर, शहद तथा धान का खील मिलाकर रोगी को पिलाना चाहिये, उससे वातपित्तज्वर, दाह, प्यास, मूर्च्छा, अरुचि, भ्रम, रक्तपित्त ये सब इस भांति दूर हो जाते हैं कि जैसे पवन से मेघ दूर हो जाता है ॥ ३९६ ॥

*अत्र मधुकादि मृणालान्त समुदितम्, पलद्वयपरिमित सचूर्णं क्षिपेत्। वारिणि षट्पलपरिमिते। मधुकादिहिमो दाहे ॥ ३९६ ॥

यहा पर यह और भी समझ लेना चाहिये कि—मुलेठी मे लेकर कमल की नाल तक जितनी ओषधिया हैं वे सब मिलकर ८ तोले लेनी चाहिये; पश्चात् उन सबों का चूर्ण २४ तोले जल मे भिगोना चाहिये, यह मधुकादिहिम वातपित्तज्वर में दाह होने पर देना उत्तम होता है ॥ ३९६ ॥

अथान्नमाह—

मुद्गामलकयूषस्तु वातपित्तज्वरे हितः। महादाहे प्रदातव्यो यूपश्चणकसम्भवः ॥ ३९७ ॥

वातपित्तज्वर में पथ्य अन्न—वातपित्तज्वर मे मुद्गामलक संज्ञक यूष (मूग और आमलों का यूष) रोगी को देना अधिक हितकर होता है, तथा अधिक दाह होता हो तो चने का यूष रोगी को देना विशेष हितकर होता है ॥ ३९७ ॥

अन्यच्च—

"दाडिमामलकमुद्गसम्भवो यूष उक्त इति वातपैत्तिके" इति।
कफपित्तहरा मुद्गाः कारवेल्लयादयस्तथा। प्रायेण न च ते देया वातपित्तोत्तरे ज्वरे ॥
दत्तास्तु ज्वरविष्टम्भशूलोदावर्तकारिणः ॥ ३९८ ॥

इति वातपित्तज्वराधिकारः समाप्तः।

और भी कहा है कि—आवलों के साथ मूंग का यूष बनाकर उसमें अनार का रस डाल कर वातपित्तज्वर में रोगी को पिलाने के लिये वैद्यों ने कहा है।

और मूग तथा करेला आदिक द्रव्य कफपित्त-नाशक हैं अत एव वातपित्त प्रधान ज्वर में ये सब प्रायः करके रोगी के लिये देने योग्य नहीं होते हैं, यदि भूल से दे दिये जायं तो ज्वर, विष्टम्भ, शूल तथा उदावर्त्त रोग को उत्पन्न करने वाले हो जाते हैं ॥ ३९८ ॥

अथ वातश्लेष्मज्वराधिकारः।

वातश्लेष्मकरैर्वातकफावामाशयाश्रयौ। बहिर्निरस्य कोष्ठाग्निं रसगौ ज्वरकारिणौ ॥ ३९९ ॥

वातश्लेष्मज्वर का निदान—वात तथा कफ को उत्पन्न करने वाले आहार-विहारों के करने से वात तथा कफ ये दोनों कुपित होकर जब आमाशय नामक स्थान में पहुंचते हैं तब वहा के आमरस को दूषित करते हुये कोठे के अग्नि की गर्मी को बाहर निकाल कर ज्वर उत्पन्न करते है ॥ ३९९ ॥

***तस्य विप्रकृष्टसन्निकृष्टकारणकथनपूर्विकां सम्प्राप्तिमाह—वातेति ॥ ३९९ ॥**

यहां पर "वातश्लेष्मकरैः" इत्यादिक श्लोक से "वातश्लेष्मज्वर के दूर तथा समीपवर्त्ती कारणों को कहते हुये सम्प्राप्ति कहते हैं।" यह और समझ लेना चाहिये ॥ ३९९ ॥

अथ वातकफज्वरस्य पूर्वरूपमाह—

प्राग्रूपे वातकफयोः स्यातां वातकफज्वरे ॥ ४०० ॥

वातकफज्वर के पूर्वरूप—वातज्वर तथा कफज्वर के पूर्वरूप में जो लक्षण प्रथम कह आये हैं वे ही सब मिलकर वातकफज्वर में पूर्वरूप के लक्षण होते हैं ॥ ४०० ॥

अथ वातकफज्वरस्य लक्षणमाह—

स्तैमित्यं पर्वणां भेदो निद्रा गौरवमेव च। शिरोग्रहः प्रतिश्यायः कासः स्वेदाप्रवर्त्तनम् ॥
सन्तापो मध्यवेगश्च वातश्लेष्मज्वराकृतिः ॥ ४०१ ॥

वातकफज्वर के लक्षण—गीले कपडों से ढके हुये के समान शरीर मालूम पडना, सन्धियों में टूटने की सी पीडा, नींद, शरीर मे गुरुता, शिर में पीडा, जुखाम, खासी, सर्वाङ्ग से पसीने का अधिक निकलना, सन्ताप तथा ज्वर का वेग मन्द होना ये सब लक्षण वातकफज्वर वाले रोगी के होते हैं ॥ ४०१ ॥

***स्वेदाप्रवर्त्तन = स्वेदस्य आ समन्ताद्भावेन प्रवृत्तिः। तथा च हारीतेनोक्तम्—**

***शिरोग्रहः स्वेदभवश्च कासो ज्वरस्य लिङ्गं कफवातजस्य ॥ इति।**

यहां पर "स्वेदाप्रवर्त्तनम्" इस पदका 'सर्वाङ्ग से पसीने का अधिक निकलना" यह अर्थ समझना चाहिये। और इसी बात को हारीत ने भी कहा है कि—शिर में पीडा, पसीने का अधिक निकलना तथा खांसी ये सब लक्षण कफ-वात सबन्धी द्वन्द्वज्वर के होते हैं।

ॐस्वेदभवः=स्वेदोत्पत्तिः।

यहां पर "स्वेदभव" इस पदका "पसीने का अधिक निकलना" अर्थ समझना चाहिये।

ॐननु स्वेदः पित्तस्य धर्मः, अत एव पित्तज्वरे—

ॐ"कण्ठौष्ठमुखनासानां पाकः स्वेदश्च जायते" ॥ ८६ ॥

ॐइत्युक्तम्। तस्मात्कथं वातश्लेष्मज्वरे स्वेदस्यातिप्रवृत्तिः ? उच्यते—"विकृतिविषमसमवायारब्धत्वान्न दोष" इति कार्त्तिकः।

अब यहां पर यह शङ्का होती है कि–पसीना निकलना तो यह धर्म पित्त का है अत एव पित्तज्वर में "कण्ठ-ओठ मुख तथा नाक ये सब पक जाते हैं तथा पसीना निकलता है" यह कहा हुआ है, इस कारण से वातकफज्वर में पसीने का अधिक निकलना कहना कैसे संगत होता है ? इसके उत्तर में कार्त्तिक नामक आचार्य यह कहते हैं कि–विकृतिविषमसमवाय से आरब्ध होने के कारण से वातकफज्वर में अधिक पसीना आना जो कहा गया है उसमें कोई दोष नहीं है।

ॐप्रकृतिसमसमवायस्य विकृतिविषमसमवायस्य चायमर्थः–प्रकृत्या हेतुभूतया समः–कारणानुरूपः समवायः कार्यकारणभावसम्बन्धः प्रकृतिसमसमवायः। कारणानुरूपं कार्यमिति यावत्। यथा–प्रकृतिस्थितैः शुक्लैस्तन्तुभिः समवायिकारणैरारब्धः पटः शुक्ल एव भवति। तथा च प्रकृतेन केवलेन वातेन पित्तेन कफेन वा जनितो ज्वरो वाताद्युचितैर्धर्मैर्वेपथुवेगाधिक्यस्तैमित्यादिभिर्युक्तो भवति।

और प्रकृतिसमसमवाय तथा विकृतिविषमसमवाय का अर्थ यह है कि–प्रकृति अर्थात् हेतुभूत प्रकृति के समान अर्थात् कारण के अनुरूप जो समवाय अर्थात् कार्यकारणभाव सम्बन्ध है, वही प्रकृतिसमसमवाय अर्थात् कारण के अनुरूप कार्य होना कहलाता है। जैसे कि–प्रकृति में स्थित सफेद सूत्ररूप समवायिकारण द्वारा बुना हुआ वस्त्र सफेद ही होता है वैसे ही प्रकृत अर्थात् केवल वात, पित्त अथवा कफ से उत्पन्न हुआ ज्वर क्रम से वातादिकों के उचित धर्म जो कप होना, ज्वर का वेग अधिक होना तथा अङ्गों का गीले कपडे से ढके हुये के समान प्रतीत होना इत्यादिक हैं, उनसे युक्त होता है। अर्थात् केवल वातद्वारा जो ज्वर उत्पन्न होता है वह–कम्प होना इत्यादिक वात के धर्मों से युक्त होता है। इसी भांति केवल पित्तद्वारा उत्पन्न हुआ ज्वर–वेग की अधिकता इत्यादिक पित्त के धर्मों से तथा केवल कफ द्वारा उत्पन्न हुआ ज्वर–अङ्गों का गीले कपडे से ढँके हुये के समान प्रतीत होना इत्यादिक कफ के धर्मों से युक्त होता है।

विकृतिविषमसमवायस्तु–विकृत्या हेतुभूतया विषमः कारणाननुरूपः समवायः कार्यस्य कारणे सम्बन्धः। कारणाननुरूप कार्यमिति यावत्। यथा–संयोगाद्विकृताभ्यां हरिद्राचूर्णाभ्यां हेतुभूताभ्यां विषमः कारणाननुरूपो लोहितो वर्णो जायते तथा योगेन विकृताभ्यां वातश्लेष्मभ्यां हेतुभूताभ्यां विषमा कारणाननुरूपा स्वेदस्यातिप्रवृत्तिरिति सिद्धान्तः ॥४०१॥

विकृतिविषमसमवाय–विकृति के अर्थात् हेतुभूत विकृति के विषम अर्थात् कारण के अननुरूप जो समवाय अर्थात कार्य का कारण के साथ सम्बन्ध है वही विकृतिविषमसमवाय अर्थात् कारण के अननुरूप कार्य कहलाता है। जैसे कि–संयोग से विकृति को प्राप्त हुये हेतुभूत जो हरदी तथा पत्थर का चूना ये दोनों हैं इनसे विषम अर्थात् कारण के अननुरूप लाल वर्ण रूप कार्य उत्पन्न होता है वैसे ही संयोग से विकृति को प्राप्त हुये हेतुभूत वातकफ से विषम कारण के अननुरूप "पसीने का अधिक निकलना" रूप का होता है, जो कि उचित है क्योंकि ऐसा सिद्धान्त है ॥ ४०१ ॥

अथ वातकफज्वरस्य चिकित्सामाह—

वातश्लेष्मज्वरे देयमौषधं नवमेऽहनि ॥ ४०२ ॥

वातकफज्वर की चिकित्सा—वातकफज्वर में रोगी को ८ दिन तक लङ्घन कराकर ९ वें दिन में मुख्य औषध देना चाहिये ॥ ४०२ ॥

अथ पञ्चकोलम्—

पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकनागरैः। दीपनीयः स्मृतो वर्गो वातश्लेष्मज्वरापहः ॥
कोलमात्रोपयोगित्वात्पञ्चकोलमिदं स्मृतम्। तीक्ष्णोष्णं पाचनं श्रेष्ठं दीपनं कफदाहनुत् ॥४०३॥
गुल्मप्लीहोदरानाहशूलघ्नं पित्तकोपनम् ॥ ४०४ ॥

पञ्चकोल—पीपल, पिपरामूल, चव्य, चीता और सोंठ ये सब दीपनीय वर्ग की ओषधिया कही जाती हैं तथा इनका क्वाथ वातकफ ज्वर को दूर करने वाला होता है। ये सब मिलकर "पञ्चकोल" कहलाते हैं, अर्थात्-प्रत्येक एक २ कोल तौल में होने से पांचों का तौल ५ कोल होता है, अतः यह पञ्चकोल कहा जाता है। किसी २ का यह भी मत है कि पांचों औषध मिल कर तौल मे एक कोल होने से यह "पञ्चकोल" कहलाता है। यह पञ्चकोल—तीक्ष्ण, उष्ण, उत्तम पाचन, अग्निदीपक, कफ, दाह, गुल्म, प्लीहा, उदर रोग, आनाह (अफारा) और शूल इन सबों को नष्ट करने वाला तथा पित्त को प्रकुपित करने वाला होता है॥ ४०३–४०४ ॥

अथ द्वितीय. किरातादिक्वाथ.—

किरातविश्वाऽमृतवल्लिसिंहिका-व्याघ्रीकणामूलरसोनसिन्दुकैः।
कृतः कषायो विनिहन्ति सत्वरं ज्वरं समीरात्सकफात्समुत्थितम् ॥ ४०५ ॥

दूसरा किरातादि क्वाथ—चिरायता, सोंठ, गिलोय, कटेरी, बडी कटेरी, पिपरामूल, लहसुन और सम्हालू इन सबों का क्वाथ बनाकर पीने से वातकफ से उत्पन्न हुआ ज्वर शीघ्र ही नष्ट हो जाता है ॥ ४०५ ॥

अथ पिप्पल्यादिक्वाथ.—

पिप्पल्यादिगणक्वाथं पिबेद्वातकफज्वरी। नातः परं किञ्चिदस्ति ज्वरे भेषजमुत्तमम् ॥ ४०६ ॥

पिप्पल्यादि क्वाथ—पिप्पल्यादि गण में कही हुई ओषधियों का क्वाथ बनाकर पीने के समान दूसरी कोई उत्तम ओषधि वातकफज्वर वाले रोगी के लिये ज्वरनाशक नहीं है॥ ४०६ ॥

अथ बृहत्पिप्पल्यादिक्वाथ.—

पिप्पली पिप्पलीमूलं चव्यचित्रकनागरम्। वचा सातिविषाऽजाजी पाठावत्सकरेणुकाः ॥४०७॥
किराततिक्तको मूर्वा सर्षपा मरिचानि च। कट्फलं पुष्करं भार्गी विडङ्गं कर्कटाह्वयम् ॥४०८॥
अर्कमूलं बृहत्सिंही श्रेयसी सदुरालभा। दीप्यकश्चाजमोदा च शुकनासा सहिङ्गुका ॥ ४०९ ॥
एतानि समभागानि गण एकोऽष्टविंशतिः। एषां क्वाथो निपीतः स्याद्वातश्लेष्मज्वरापहः ॥४१०॥
हन्ति वात तथा शीत प्रस्वेदमतिवेपथुम्। प्रलापश्चातिनिद्राञ्च रोमहर्षारुची तथा ॥ ४११ ॥
महावातेऽपतन्त्रे च शून्यत्वे सर्वगात्रजे। पिप्पल्यादिमहाक्वाथो ज्वरे सर्वत्र पूजितः ॥ ४१२ ॥

बृहत्पिप्पल्यादि क्वाथ—पीपल, पिपरामूल, चव्य, चीता, सोंठ, वच, अतीस, काला जीरा, पाढ, इन्द्रजौ, रेणुका, चिरायता, मूर्वा, सरसो, काली मरिच, कायफल, पुहकरमूल, भारङ्गी, वायविडङ्ग, काकडाशिंगी, आक की जड, बडी कटेरी, रास्ना, धमासा, अजवायन, अजमोद, सोनापाठा, हींग ये सब २८ ओषधिया समान भाग में मिलकर "बृहत्पिप्पल्यादिगण" के नाम से कही जाती हैं। इनका क्वाथ बनाकर पीने से वातकफ ज्वर दूर होता है तथा वात, शीत, अधिक पसीना निकलना, अत्यन्त कम्प, प्रलाप, अत्यन्त निद्रा, रोमाञ्च होना और अरुचि ये सब दूर होते हैं। एवम् महावात, अपतन्त्रक, सर्वाङ्ग सुन्न होजाना तथा सभी प्रकार के ज्वर इन सबों में यह बृहत्पिप्पल्यादि क्वाथ पिलाना उत्तम होता है ॥ ४०७–४१२ ॥

*अत्र श्रेयसी = रास्ना, वातश्लेष्मज्वरहरत्वात् ॥ ४०७–४१२ ॥

यहां पर "श्रेयसी" पदसे "रास्ना" का ग्रहण किया गया है क्योंकि वह वातकफ ज्वर को दूर करने वाली होती है ॥ ४०७–४१२ ॥

अथ दशमूलीक्वाथ.—

दशमूलीरसः पीतः कणाऽऽढ्यः कफवातजे। ज्वरेऽविपाके निद्रायां पार्श्वरुक्छ्वासकासके ॥४१३॥

दशमूली क्वाथ—दशमूल की ओषधियों के मूल भाग की छाल को समान भाग में लेकर क्वाथ बना डाले पश्चात् उसमें पीपल का चूर्ण मिला कर पीने से वातकफ सम्बन्धी ज्वर, अविपाक (अन्न न पचना), निद्रा, पसुलियों में पीडा, श्वास तथा कास में उपकार होता है॥ ४१३ ॥

अथ पिप्पलीक्वाथः—

पिप्पलीभिः शृतं तोयमनभिष्यन्दि दीपनम्। वातश्लेष्मज्वरं हन्ति सेवित प्लीहनाशनम् ४१४

पिप्पली क्वाथ—पीपल का बना हुआ क्वाथ अनभिष्यन्दी (अभिष्यन्द नहीं करने वाला) तथा अग्निदीपक होता है। एवम् सेवन करने से वातकफ ज्वर और प्लीहा को नष्ट करने वाला होता है ॥४१४॥

अथ सूर्यशेखररसः—

सूतकं टङ्कणं भृष्टं गन्धं शुद्धं समं समम् । द्विगुणं सूतकाद्देयं जैपालं तुषवर्जितम् ॥ ४१५ ॥
सैन्धवं मरिचं चिञ्चात्वक्क्षारः शर्कराऽपि च । प्रत्येकं सूततुल्यं स्याज्जम्बीररसैर्दिनम् ॥४१६॥
सूर्यशेखरनामाऽयं रसो गुञ्जाद्वयोन्मितः । भक्षितस्तप्ततोयेन वातश्लेष्मज्वरापहः ॥ ४१७ ॥

सूर्यशेखर रस—शुद्ध पारा, फुलाया हुआ सुहागा, शुद्ध गन्धक ये सब समान भाग अर्थात् प्रत्येक एक २ भाग, शुद्ध तुषरहित जमालगोटा पारे से दुगुना अर्थात् दो भाग, और सेंधा निमक, काली मिरच, इमली के छाल का बना हुआ क्षार, साफ शक्कर ये सब प्रत्येक पारे के बराबर अर्थात् एक २ भाग लेकर खरल में एकत्र कर जमीरी नीबू के रस के साथ एक दिन तक खरल करे तो सूर्यशेखर नामक रस तैयार होता है । यह रस दो रत्ती की मात्रा में गर्म जल के साथ खाने से वातकफ ज्वर को नष्ट करने वाला होता है (इसकी आधुनिक मात्रा १ से २ रत्ती है) ॥ ४१५–४१७ ॥

*सूर्यशेखरो रसो वातश्लेष्मज्वरे शीतज्वरे च रसप्रदीपे ॥ ४१५–४१७ ॥

यहाँ पर यह और समझना चाहिये कि—यह सूर्यशेखर रस वातकफ ज्वर तथा शीत ज्वर दोनों में दिया जाता है और "रसप्रदीप" में इसका उल्लेख मिलता है ॥ ४१५–४१७ ॥

अथोद्धूलनमाह—

स्वेदोद्गमे भृष्टकुलत्थचूर्णनिपातनं शस्तमिति ब्रुवन्ति ।
जीर्णं शकृद्वोर्लवणस्य भाजनं सचूर्णितं स्वेदहरं सुधूलनात् ॥ ४१८ ॥

उद्धूलन (Dusting = चूर्णादिक से मालिश करना)—"वातकफ ज्वर में यदि अधिक स्वेद निकल रहा हो तो भुनी हुई कुलथी का चूर्ण शरीर में मलना उत्तम होता है" ऐसा वैद्यजन कहते हैं । अथवा गौ का पुराना गोबर तथा निमक रखने का मिट्टी का पुराना बर्तन इन दोनों के चूर्ण का मालिश करने से भी पसीना का निकलना बन्द होता है ॥ ४१८ ॥

अथ मरिचाद्युद्धूलनम्—

मरिचं पिप्पली शुण्ठी पथ्या लोध्रञ्च पौष्करम् । भूनिम्बः कट्वका कुष्ठं कर्चूरो लिङ्गिका शटी॥४१९॥
एतानि समभागानि सूक्ष्मचूर्णानि कारयेत् । एतदुद्धूलनं श्रेष्ठं स्रोतोवत्स्वेदनिर्गमे ॥ ४२० ॥

मरिचाद्युद्धूलन—काली मिर्च, पीपल, सोंठ, हरड़, लोध, पुष्करमूल, चिरायता, कुटकी, कूठ, कचूर, शिवलिङ्गी, गन्धपलाशी (कपूरकचरी) इन सबों को समान भाग में लेकर सूक्ष्म चूर्ण बना डाले, पश्चात् रोगी को जब स्रोत की भांति पसीना निकलता हो तो उसमें भी इसकी मालिश करने से तत्काल लाभ होता है, अतः यह उद्धूलनों में श्रेष्ठ माना जाता है ॥ ४१९–४२० ॥

*लिङ्गिका = "पञ्चगुरिआ" इति लोके । अत्र शटी = गन्धपलाशी ॥ ४१९-४२० ॥

यहा पर "लिङ्गिका "पदका "लोकप्रसिद्ध पञ्चगुरिआ अर्थात् शिवलिङ्गी" एवम् "शटी" पदका "गन्धपलाशी अर्थात् कपूरकचरी" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ४१९-४२० ॥

अथ भूनिम्बाद्युद्धूलनम्—

भूनिम्बः कारवी तिक्ता वचा कट्फलजं रजः । एषामुद्धूलनं श्रेष्ठं सततं स्वेदसंस्रवे ॥ ४२१ ॥

भूनिम्बाद्युद्धूलन—चिरायता, कालीजीरी, कुटकी, वच, कायफल इन सबों का समान भाग में सूक्ष्म चूर्ण बना लेवे, पश्चात् निरन्तर पसीना निकलने पर रोगी के बदन में उक्त चूर्ण का मालिश करना उत्तम लाभदायक होता है ॥ ४२१ ॥

अथ वालुकास्वेदः—

पूर्वोक्तो वालुकास्वेदोऽप्यत्र समुचितः ।

वालुकास्वेद—और अधिक पसीना निकलने पर पूर्वोक्त "वालुकास्वेद" भी देना समुचित होता है ।

यदुक्तम्—

पीनसश्वासबाधिर्यजङ्घापार्श्वास्थिशूलिनि । वातश्लेष्मज्वरे देयमौषधं तद्विधानवित् ॥४२२॥

क्योंकि कहा भी है कि—जिस वातकफ ज्वर में पीनस, श्वास, बहरापन, जङ्घा–पसुली तथा हड्डियों में शूल (अधिक पीडा) होता हो तो स्वेदकर्म का भलीभांति जानने वाला वैद्य स्वेदकर्म के साथ २ औषध भी योग्यताऽनुसार देवे ॥ ४२२ ॥

अथ कवलमाह—

मातुलुङ्गफलकेशरो धृतः सिन्धुजन्ममरिचान्वितो मुखे ।
हन्ति वातकफरोगमास्यगं शोपमाशु जडतामरोचकम् ॥ ४२३ ॥

कवल—बिजौरे नीबू के भीतर का रसदार जीरा लेकर उस में सेंधा निमक तथा काली मिर्च का चूर्ण डाल कर मुख में रख कर धीरे २ रस चूसने से वातकफ ज्वर में मुखशोष, मुख की जडता तथा अरुचि ये सब नष्ट होते हैं ॥ ४२३ ॥

अथान्नमाह—

महत्या पञ्चमूल्याऽन्नं सम्यक्सिद्धं चिकित्सकः । सप्तमे दिवसे दद्याज्ज्वरे वातबलासजे ॥४२४॥

इति वातकफज्वराधिकारः समाप्तः ।

अन्न—बृहत् पंचमूल के काथ के साथ भलीभांति से पकाये हुये अन्न, यवागू आदि को वातकफ ज्वर में चिकित्सक ६ दिन तक लङ्घन कराने के बाद ७ वें दिन देवे ॥ ४२४ ॥

इति वातकफज्वराधिकार. ॥

अथ पित्तकफज्वराधिकारः ।

पित्तश्लेष्मकरैः पित्तकफावामाशयाश्रयौ । वहिर्निरस्य कोष्ठाग्निं रसगौ ज्वरकारिणौ ॥४२५॥

पित्तकफज्वराधिकार मे प्रथम पित्तकफज्वर का निदान—पित्त तथा कफ कारक आहार-विहारों के करने से कुपित हुये पित्त तथा कफ ये दोनों आमाशय में पहुच कर आमरस को दूषित करते हुये, कोठे की अग्नि को बाहर निकाल कर ज्वर को उत्पन्न करने वाले होते हैं ॥ ४२५ ॥

***तस्य विप्रकृष्टसन्निकृष्टकारणकथनपूर्विकां सम्प्राप्तिमाह—पित्तेति ॥ ४२५ ॥**

यहा पर यह और भी समझना चाहिये कि—पित्तकफज्वर के दूर तथा समीप के कारणों को कहते हुये सम्प्राप्ति को बताने के लिये "पित्तश्लेष्मकरै" इत्यादि श्लोक कहा गया है ॥ ४२५ ॥

अथ पित्तकफज्वरपूर्वरूपमाह—

प्राग्रूपे पित्तकफयोः स्यातां पित्तकफज्वरे ॥ ४२६ ॥

पित्तकफज्वर के पूर्वरूप—जो पूर्वरूप के लक्षण पूर्व मे पृथक् २ पित्त तथा कफ के कह आये हैं वे ही सब मिलकर यहां पर पित्तकफज्वर मे भी रोगी के प्रगट होते हैं । अत॰ वहां से समझ लेना चाहिये, पुनरुक्ति के डर से यहा पर पुन॰ उल्लेख नहीं किया जाता है ॥ ४२६ ॥

अथ पित्तकफज्वरलक्षणमाह—

लिप्ततिक्तास्यता तन्द्रा मोहः कासोऽरुचिस्तृषा । मुहुर्दाहो मुहुः शीतं पित्तश्लेष्मज्वराकृतिः ॥४२७॥

पित्तकफज्वर के लक्षण—पित्त के कारण मे मुख मे कडवापन, कफ से मुख लिहसा सा रहना, तन्द्रा, मोह, खांसी, अरुचि, प्यास, बारम्बार दाह होना और बारम्बार शीत लगना ये सब लक्षण पित्तकफ-ज्वर में रोगी को प्रगट होते हैं ॥ ४२७ ॥

***आस्यतिक्तत्व पित्तेन, लिप्तत्व कफेन । तन्द्रा = अर्द्धोन्मीलितनेत्रत्वम् । मोहो = मूर्च्छा ॥४२७॥**

यहां पर "मुख में कडवापन पित्त के कारण से तथा मुख लिहसा सा रहना कफ के कारण से" समझना चाहिये । और "तन्द्रा" पद से "अधखुले नेत्र रहना" तथा 'मोह' पद से "मूर्च्छा" का बोध करना चाहिये ॥ ४२७ ॥

अथ पित्तकफज्वरस्य चिकित्सामाह—

पित्तश्लेष्मज्वरे देयमौषधं दशमेऽहनि ॥ ४२८ ॥

पित्तकफज्वर की चिकित्सा—पित्तकफज्वर में रोगी को ९ दिन तक लङ्घन कराकर १० वें दिन मुख्य औषध देना चाहिये ॥ ४२८ ॥

अथ गुडूच्यादिकाथमाह—

गुडूची निम्बधान्याकं चन्दनं कटुरोहिणी ।
गुडूच्यादिरयं क्काथः पाचनो दीपनः स्मृतः । तृष्णादाहारुचिच्छर्दिपित्तश्लेष्मज्वरापहः ॥४२९॥

गुडूच्यादि काथ—गिलोय, नीम की छाल, धनिया, लालचन्दन और कुटकी इन सबों का काथ गुडूच्यादि काथ कहलाता है । यह काथ सेवन करने मे आम का पाचन तथा अग्नि का दीपन करने वाला होता है एवम् प्यास, दाह, अरुचि, वमन तथा पित्तकफज्वर को नष्ट करने वाला होता है ॥४२९॥

अथामृताष्टककाथमाह—

अमृताकटुकाऽरिष्टपटोलघनचन्दनम् । नागरेन्द्रयवं चैतदमृताष्टकमीरितम् ॥ ४३० ॥
क्वथितं सकणाचूर्णं पित्तश्लेष्मज्वरापहम् । हृल्लासारोचकच्छर्दितृष्णादाहनिवारणम् ॥ ४३१ ॥

अमृताष्टक काथ—गिलोय, कुटकी, नीम की छाल, परवल के पत्ते, नागरमोथा, लालचन्दन, सोंठ, इन्द्रजौ इन आठ औषधों के समूह को "अमृताष्टक" कहते हैं। इसका काथ बनाकर उसमें पीपल का चूर्ण डालकर पीने से पित्तकफज्वर नष्ट होता है तथा साथ २ हल्लास (उबकाई), अरुचि, वमन, अधिक प्यास तथा दाह भी दूर होता है ॥ ४३०-४३१ ॥

अथ कण्टकार्यादिकाथः—

कण्टकार्यमृताभार्गीविश्वेन्द्रयववासकम् । भूनिम्बं चन्दनं मुस्तं पटोलं कटुरोहिणीम् ॥४३२॥
विपाच्य पाययेत्काथं पित्तश्लेष्मज्वरापहम् । दाहतृष्णाऽरुचिच्छर्दिकासशूलनिवारणम् ॥४३३॥

कण्टकार्यादि काथ—कटेरी, गिलोय, भारङ्गी, सोंठ, इन्द्रजौ, अडूसा, चिरायता, रक्तचन्दन, नागरमोथा, परवल के पत्ते और कुटकी इन सबों का काथ बनाकर पिलाने से पित्तकफज्वर नष्ट होता है। तथा दाह, अधिक प्यास, अरुचि, वमन, खांसी, और शूल भी दूर होता है। (काथ्य द्रव्य ८ तोले, काथार्थ जल आध सेर, अवशेष १ छटाक, प्रात साय पिलाना चाहिये) ॥ ४३२-४३३ ॥

अथ नागरादिकाथमाह—

नागरोशीरबिल्वाब्दधान्यमोचरसाम्बुभिः । कृतः काथो भवेद् ग्राही पित्तश्लेष्मज्वरापहः॥४३४॥

नागरादिकाथ—सोंठ, खस, बेल की छाल, नागरमोथा, धनिया, मोचरस तथा सुगन्धवाला इन सबों का काथ सेवन करने से पित्तकफज्वर को नष्ट करने वाला तथा ग्राही (मलावरोधक) होता है॥४३४॥

अथ कटुकीकल्कमाह—

शर्करासमामात्राञ्च कटुकीं चोष्णवारिणा । पीत्वा ज्वरं जयेज्जन्तुः पित्तश्लेष्मसमुद्भवम्॥४३५॥

कटुकी कल्क—कुटकी तथा शक्कर सफेद इन दोनों को मिलाकर एक तोला की मात्रा में लेकर कल्क बना डाले पश्चात् गर्म जल के साथ सेवन करने से पित्तकफज्वर नष्ट हो जाता है ॥ ४३५ ॥

*अत्र कटुक्या द्वादश माषा', शर्करायाश्चत्वारो माषा एवं कर्ष इति चरकः। वैद्यस्य व्यवहारे कटुकीशर्करयोः समभागयोरेव कर्षः-कटुकीकल्कः ॥ ४३५ ॥

यहा पर "कुटकी १२ मासा और शक्कर सफेद ४ मासा इस भांति से दोनों मिलकर एक तोला पूरा समझना चाहिये" ऐसा "चरक" का मत है। किन्तु वैद्य लोग व्यवहार में "कुटकी तथा शक्कर दोनों को समान भाग में लेकर एक तोला पूरा करते हैं" यह और भी समझना चाहिये ॥ ४३५ ॥

अथ वासारसमाह—

सपत्रपुष्पवासाया रसः क्षौद्रसितायुतः । पित्तश्लेष्मज्वरं हन्ति साम्लपित्तं सकामलम्॥४३६॥

वासा (अडूसा) रस—पत्ते तथा फूलों के सहित अडूसे का स्वरस(१) निकाल कर उसमें मधु तथा सफेद शक्कर मिला कर पीने से अम्लपित्त तथा कामला से युक्त पित्तकफज्वर नष्ट हो जाता है ॥ ४३६ ॥

*अत्र वासारसोऽर्द्धपलपरिमितो देयः। मधुसितयोः प्रत्येकं टङ्कः प्रक्षेप्यः ॥ ४३६ ॥

यहा पर "अडूसे का स्वरस आधा पल (दो तोले) लेना चाहिये और शहद तथा सफेद शक्कर ये दोनों प्रत्येक एक २ टङ्क (चार २ मासे) लेकर उक्त स्वरस में मिला देना चाहिये" यह और भी समझ लेना चाहिये ॥ ४३६ ॥

अथ शृङ्गवेरादिकाथमाह—

कषायः परिपीतस्तु शृङ्गवेरपटोलयोः । पित्तश्लेष्मज्वरवमीदाहकण्डूहरो भवेत् ॥ ४३७ ॥

शृङ्गवेरादि काथ—अदरख तथा परवल के पत्ते इन दोनों का एकत्र काथ बनाकर पीने से पित्तकफ ज्वर, वमन, दाह तथा खुजली ये सब नष्ट हो जाते हैं ॥ ४३७ ॥

---

(१) पुष्प सहित अडूसे की कोमल पत्तियों को सिलपर महीन पीसकर स्वच्छ महीन वस्त्र में रखकर निचोड़ना चाहिये। इस प्रकार स्वरस प्राप्त होता है। महीन न पीसने से अडूसे से रस अच्छी तरह नहीं निकलता है।

अथान्नमाह—

पटोलधान्ययोर्यूषः पित्तश्लेष्मज्वरापहः॥ ४३८॥

इति पित्तकफज्वराधिकारः समाप्तः।

अन्न—परवल के पत्ते तथा धनिये इन दोनों के क्वाथ से बना हुआ मूंग आदि का "यूष" पीना पित्तकफ ज्वर वाले रोगी के लिये पथ्य है। क्योंकि उक्त "यूष" पित्तकफ ज्वर को नष्ट भी करने वाला होता है॥ ४३८॥

इति पित्तकफज्वराधिकार. समाप्तः।

अथ सन्निपातज्वराधिकारः।

त्रिदोषजनकैर्वातः पित्त श्लेष्माऽऽमगेहगाः। बहिर्निरस्य कोष्ठाग्निं रसगा ज्वरकारिणः॥४३९॥

सन्निपात ज्वराधिकार मे प्रथम सन्निपात ज्वर का निदान—त्रिदोष (वात–पित्त–कफ) जनक आहार–विहारों के द्वारा कुपित हुये तीनों दोष (वात–पित्त–कफ) जब आमाशय में पहुंचते हैं तब वहां पर आमरस को दूषित करके कोठे के अग्नि की गर्मी को बाहर निकाल कर ज्वर को उत्पन्न करते हैं॥ ४४९॥

***तत्र सन्निपातज्वरस्य विप्रकृष्टसन्निकृष्टकारणकथनपूर्विकां सम्प्राप्तिमाह—त्रिदोषेति॥४३९॥**

यहां पर "सन्निपात ज्वर के दूर तथा समीप के कारणों को कहते हुये उसकी सम्प्राप्ति "त्रिदोषजनकैः" इत्यादिक श्लोक मे कहा गया है" यह और समझना चाहिये॥ ४३९॥

अथ सन्निपातज्वरस्य सामान्यानि लक्षणान्याह—

क्षणे दाहः क्षणे शीतमस्थिसन्धिशिरोरुजा। सास्रावे कलुषे रक्ते निर्भुग्ने चापि लोचने॥
सस्वनौ सरुजौ कर्णौ कण्ठः शूकैरिवावृत'। तन्द्रा मोहः प्रलापश्च कास' श्वासोऽरुचिर्भ्रमः॥४४०॥
परिदग्धा खरस्पर्शा जिह्वा स्रस्ताङ्गता परा। ष्ठीवन रक्तपित्तस्य कफेनोन्मिश्रितस्य च॥४४१॥
शिरसो लोठनं तृष्णा निद्रानाशो हृदि व्यथा। स्वेदमूत्रपुरीषाणां चिराद्दर्शनमल्पशः॥४४२॥
कृशत्व नातिगात्राणां प्रतत कण्ठकूजनम्। कोठानां श्यावरक्तानां मण्डलानाञ्च दर्शनम्॥४४३॥
मूकत्व स्रोतसां पाको गुरुत्वमुदरस्य च। चिरात्पाकश्च दोषाणां सन्निपातज्वराकृति'॥४४४॥

सन्निपात ज्वर के सामान्य लक्षण—क्षण भर में दाह होना और क्षण भर में शीत लगना, हड्डियों, सन्धियों तथा शिरके भागों में पीड़ा होना, दोनों नेत्रों का स्रावयुक्त, गदला, लाल एवम् निकले हुये अथवा टेढ़े हो जाना, कानों में शब्द तथा पीड़ा होना, कण्ठ में जी आदि धान्य के अग्रभाग के समान कांटों का हो जाना, तन्द्रा, मोह, प्रलाप, खांसी, श्वास, अरुचि तथा भ्रम होना, जिह्वा का 'अग्नि से जले के समान तथा स्पर्श में खरखरी मालूम पड़ना, सम्पूर्ण अङ्गों में अत्यन्त शिथिलता हो जाना, कफ से युक्त रक्त अथवा पित्त का थूकने के साथ निकलना, शिर को इधर उधर चलाना, अधिक प्यास लगना, नींद न आना, हृदय में पीड़ा, पसीना, मूत्र और विष्ठा का बहुत काल में थोड़ा २ निकलना, शरीर का अत्यन्त कृश न होना, निरन्तर कण्ठ मे शब्द होना, शरीर में बर्रे के काटे हुये के समान अथवा सफेदी लिये काले तथा लाल रंग के चकत्तों का दिखाई पड़ना, एक दम न बोलना अथवा कम बोलना, कान नाक आदि स्रोतोमार्गों का पक जाना, पेट में भारीपन मालूम होना, वातादि दोषों का चिरकाल में परिपाक होना ये सब लक्षण सन्निपातज्वर वाले रोगियों के होते हैं॥ ४४०–४४४॥

***लोचने सास्रावे=साश्रुणी। कलुषे=अस्वच्छे। निर्भुग्ने=निर्गते कुटिले च। कण्ठः शूकैरिवावृतः=धान्याग्रैरिवावृत'। जिह्वा परिदग्धा=परिदग्धेव ज्ञायते, अथ वा—परिदग्धेव कृष्णा दृश्यते। स्रस्ताङ्गता=शिथिलाङ्गता। ष्ठीवनमित्यादि=कफसयुक्तस्य रक्तस्य, ष्ठीवनम्। शिरसो लोठनम्=इतस्ततः शिरश्चालनम्। कृशत्व नाति गात्राणामिति=गात्राणामतिशयित कार्श्यं न, व्याधिप्रभावात्। प्रतत=निरन्तरम्। कोठः='वरटीदंशसस्थानं कोठ इत्यभिधीयते'। श्यावः=कपिशो वर्णः। मूकत्वम्=अवचनत्वमल्पवचनत्वं वा स्रोतसा=कर्णनासाऽऽदीनाम्।**

यहां पर "लोचने सास्रावे" पदों का "स्रावयुक्त अर्थात् आँसुओं से भरे हुये"। "कलुषे" पद का "गदला"। "निर्भुग्ने" पद का "निकले हुये अथवा टेढ़े"। "कण्ठ' शूकैरिवावृत." इन पदों का "कण्ठ में जी आदि धान्यों के अग्रभाग के समान कांटों का हो जाना"। "जिह्वा परिदग्धा" पदों का "जिह्वा

का अग्नि से जले के समान अथवा जले के समान काली दिखाई पड़ना"। "स्रस्ताङ्गता" पद का "सम्पूर्ण अङ्गों में अत्यन्त शिथिलता होना"। "ष्ठीवनम्" इत्यादि पद का "कफ में युक्त रक्त तथा पित्त का थूकने के साथ निकलना"। "शिरसो लोठनम्" पदों का "शिर को इधर उधर चलाना"। "कृशत्वं नाति गात्राणाम्" पदों का "व्याधि के प्रभाव से शरीर का अत्यन्त कृश न होना"। "प्रततम्" पद का "निरन्तर"। "कोठ" पद का "बर्रे के काटे हुये के समान चकत्ते" यह अर्थ समझना चाहिये। और "श्याव" पद का "कपिश अर्थात् सफेदी लिये काले"। "मूकत्वम्" पद का "एकदम न बोलना अथवा कम बोलना"। "स्रोतसाम्" पद का "कान, नाक आदि स्रोतोमार्गों का" यह अर्थ समझना चाहिये।

ननु वातादयः परस्परविरुद्धगुणास्तेषां सम्भूय; एकत्र कार्यारम्भकत्वं नोपपद्यते परस्परोपघाताद्दहनसलिलयोरिव, तत्कथं वातपित्तकफा मिलित्वा विकारोत्पादकाः? अत्र समाधानमुक्तं दृढबलेन—

अब यहाँ पर यह शङ्का होती है कि—वातादिक (वात, पित्त तथा कफ ये सब) दोष परस्पर विरुद्ध गुण वाले हैं, अतः इन सबों का एकत्र मिलकर किसी कार्य का करना युक्तियुक्त नहीं हो सकता है। क्योंकि ये सब परस्पर अग्नि तथा जल की भाँति एक दूसरे को नष्ट करने वाले हैं इस लिये वात-पित्त तथा कफ ये सब परस्पर एक दूसरे को नष्ट करने वाले होने से एकत्र मिलकर किस प्रकार से किसी विकार (सन्निपातज्वर आदि) को उत्पन्न करने वाले हो सकते हैं? इसका समाधान करते हुये "दृढबल" आचार्य ने यह कहा है कि—

विरुद्धैरपि न त्वेते गुणैर्घ्नन्ति परस्परम्। दोषाः सहजसात्म्यत्वाद्घोरं विषमहीनिव॥ ८७॥

वातादिक सम्पूर्ण दोष परस्पर विरुद्ध गुणों से युक्त होने हुये भी सहज तथा सात्म्य होनेके कारण से अर्थात् एक साथ जन्म लेने तथा परस्पर एक दूसरे के लिये सात्म्य (बाधा न पहुँचाने वाले) होने से एक दूसरे को बाधा नहीं पहुँचाते हैं। जैसे कि—विष तथा सर्प एक साथ जन्म लेकर के भी भयङ्कर विष सर्प को कुछ बाधा (हानि) नहीं पहुँचाता है उसी भाँति यहाँ भी समझना चाहिये॥८७॥

गदाधरस्तु हेत्वन्तरमुक्तवान्—

दैवाद्दोषस्वभावाद्वा दोषाणां सान्निपातिके। विरुद्धैश्च गुणैस्तैश्च नोपघातः परस्परम्॥८८॥इति

किन्तु "गदाधर" आचार्य इस विषय में दूसरा ही कारण बतलाते हैं, जो कि यह है—जहाँ पर वातादिक दोषों का सन्निपात होता है अर्थात् एकत्र मिलकर कोई विकार उत्पन्न करते हैं वहाँ पर वे सब परस्पर विरुद्ध गुण वाले होकर के भी एक दूसरे को जो हानि नहीं पहुँचाते हैं उसमें दैव की इच्छा को अथवा सन्निपात स्थलों में परस्पर एक दूसरे को हानि न पहुँचाना यह जो दोषों का स्वभाव है उसको कारण मानना चाहिये। अर्थात् यह दोषों का स्वभाव है कि सन्निपात स्थल में एक दूसरे को हानि न पहुँचाते हुये भी मिलकर एक कार्य (विकार) को करते हैं यह कारण समझना चाहिये अथवा दैव की इच्छा कारण समझना चाहिये॥ ८८॥

ननु भिन्नचयप्रकोपकालानां वातपित्तकफानां युगपदुत्पत्त्यभावात्कथं सम्भूय सन्निपातज्वरारम्भकत्वमुपपद्यते? उच्यते—त्रिदोषजनकनिदानबलेन युगपदेषां प्रकोपादिति सिद्धान्तः॥ ४४०–४४४॥

और यहाँ पर एक दूसरी यह भी शङ्का उत्पन्न होती है कि—वात-पित्त तथा कफ इन सबों के सञ्चय तथा प्रकोप का काल भिन्न २ होने से इन सबों की उत्पत्ति एक साथ नहीं हो सकती है अतः ये सब मिलकर सन्निपात ज्वर को उत्पन्न करने वाले कैसे हो सकते हैं? इसके समाधान में यह कहते हैं कि—"त्रिदोष (वात-पित्त-कफ) को उत्पन्न करने वाले निदान के बल से इन सबों का एक समय में ही प्रकोप होता है जिसके कारण से ये सन्निपात ज्वर को करने वाले होते हैं। यह सिद्धान्त है"। यहाँ पर यह और भी समझ लेना चाहिये॥ ४४०–४४४॥

अथ सामान्यसन्निपातज्वरस्य त्रयोदशभेदानाह—

एकोल्बणास्त्रयस्तेषु द्व्युल्बणाश्च तथेति षट्। त्र्युल्बणश्च भवेदेको विज्ञेयः स तु सप्तमः॥४४५॥
प्रवृद्धमध्यहीनैस्तु वातपित्तकफैश्च षट्। सन्निपातज्वरस्यैवं स्युर्विशेषास्त्रयोदश॥ ४४६॥

सामान्य रूप से सन्निपात ज्वर के १३ भेद—त्रिदोष से उत्पन्न होने वाले सन्निपात ज्वरों में

केवल एक २ दोष की उल्वणता (अधिकता) होने से तीन भेद सन्निपात ज्वर के होते हैं। दो २ दोषों की अधिकता से भी तीन भेद होते हैं। इस प्रकार से मिलकर ६ भेद हुये। और तीनों दोषों की अधिकता से एक भेद होता है जो कि सातवां समझा जाता है। और प्रवृद्ध, मध्य तथा हीन वात-पित्त तथा कफ के द्वारा ६ भेद और होते हैं। इस भांति से सन्निपात ज्वर के कुल १३ भेद सामान्य रूप से होते हैं ॥ ४४५-४४६ ॥

***अत्र प्रवृद्धवातो मध्यपित्तो हीनकफः १। मध्यवातः प्रवृद्धपित्तो हीनकफ : २। हीनवातः प्रवृद्धपित्तो मध्यकफ. ३। प्रवृद्धवातो हीनपित्तो मध्यकफः ४। मध्यवातो हीनपित्तः-प्रवृद्धकफ. ५। हीनवातो मध्यपित्तः प्रवृद्धकफ ६ इति षट् ॥ ४४५-४४६ ॥**

यहां पर १-वातोल्वण, २-पित्तोल्वण, ३-कफोल्वण, ४-वातपित्तोल्वण, ५-वातकफोल्वण, ६-पित्तकफोल्वण, ७-वातपित्तकफोल्वण, ये सात भेद हैं। और प्रवृद्ध-मध्य-हीन वात-पित्त कफ द्वारा ६ भेद ये हैं—८-प्रवृद्धवात-मध्यपित्त-हीनकफ १। ९-मध्यवात-प्रवृद्धपित्त-हीनकफ २। १०-हीनवात-मध्यपित्त-मध्यकफ ३। ११-प्रवृद्धवात-हीनपित्त-मध्यकफ ४। १२-मध्यवात-हीनपित्त-प्रवृद्धकफ ५। १३-हीनवात-मध्यपित्त-प्रवृद्धकफ ६। इस भांति से १३ भेद सामान्य रूप से सन्निपात ज्वर के समझने चाहिये ॥ ४४५-४४६ ॥

अथानुक्रमेण त्रयोदशसन्निपातनामान्याह—

विस्फारकश्चाशुकारी कम्पनो बभ्रसञ्ज्ञक। शीघ्रकारी तथा भल्लुः सप्तमः कूटपाकलः ॥४४७॥
सम्मोहकः पाकलश्च याम्यः क्रकच इत्यपि। ततः कर्कटकः प्रोक्तस्ततो वैदारिकाभिधः ॥४४८॥

क्रम से उपर्युक्त १३ सन्निपात ज्वरों के नाम—१ विस्फारक, २ आशुकारी, ३ कम्पन, ४ बभ्र, ५ शीघ्रकारी, ६ भल्लु, ७ कूटपाकल, ८ सम्मोहक, ९ पाकल, १० याम्य, ११ क्रकच, १२ कर्कटक, १३ वैदारिक ये सब हैं ॥ ४४७-४४८ ॥

***तन्त्रान्तरे 'विस्फारक' इत्यत्र 'विस्फोरक' इति पाठः। 'बभ्र' स्थाने 'बभ्रुरि'ति पाठः। 'भल्लुरि'त्यत्र 'फल्गुरि'ति पाठः। 'याम्य' इत्यत्र 'संग्राम' इति पाठः। 'कर्कटक' इत्यत्र 'कर्कोटक' इति पाठः ॥ ४४७-४४८ ॥**

यहां पर "अन्य ग्रन्थों मे "विस्फारक" के स्थान पर "विस्फोरक"। "बभ्र" के स्थान मे "बभ्रु" कहीं २ पर "वद्ध"। और "भल्लु" इसके स्थान में "फल्गु"। "याम्य" के स्थान मे "संग्राम"। "कर्कटक" के स्थान में "कर्कोटक" यह पाठ मिलता है" यह और समझ लेना आवश्यक है ॥४४७-४४८॥

तत्र वातोल्वणविस्फारकलक्षणम्—

श्वासः कासो भ्रमो मूर्च्छा प्रलापो मोहवेपथू। पार्श्वस्य वेदना जृम्भा कषायत्वं मुखस्य च ॥४४९॥
वातोल्वणस्य लिङ्गानि सन्निपातस्य लक्षयेत्। एष विस्फारको नाम्ना सन्निपातः सुदारुण. ॥४५०॥

वातोल्वण "विस्फारक" सन्निपात ज्वर के लक्षण—श्वास, कास, भ्रम, मूर्च्छा, प्रलाप (व्यर्थ बकना), मोह, कपकपी, पसुलियों में पीडा, अधिक जभाई आना और मुख मे कसैलापन ये सब लक्षण जिस त्रिदोष में वात की अधिकता होती है उसके समझने चाहिये। इस सन्निपात ज्वर का नाम "विस्फारक" है, यह अत्यन्त भयङ्कर होता है ॥ ४४९-४५० ॥

अथ पित्तोल्वणाशुकारिलक्षणमाह—

अतिसारो भ्रमो मूर्च्छा मुखपाकस्तथैव च। गात्रे च बिन्दवो रक्ता दाहोऽतीव प्रजायते ॥४५१॥
पित्तोल्वणस्य लिङ्गानि सन्निपातस्य लक्षयेत्। भिषग्भिः सन्निपातोऽयमाशुकारी प्रकीर्त्तितः॥४५२॥

पित्तोल्वण "आशुकारी" सन्निपात ज्वर के लक्षण—अतीसार, भ्रम, मूर्च्छा, मुख का पकजाना, शरीर में लाल २ बिन्दुओं का दिखाई पडना तथा अधिक दाह होना ये सब लक्षण पित्तप्रधान सन्निपात ज्वर के होते हैं। वैद्य लोग इस सन्निपात ज्वर का नाम "आशुकारी" कहते हैं ॥४५१-४५२

अथ कफोल्वणकम्पनलक्षणमाह—

जडता गद्गदा वाणी रात्रौ निद्रा भवत्यपि। प्रस्तब्धे नयने चैव मुखमाधुर्यमेव च ॥४५३॥
कफोल्वणस्य लिङ्गानि सन्निपातस्य लक्षयेत्। मुनिभिः सन्निपातोऽयमुक्तः कम्पनसञ्ज्ञकः॥४५४॥

कफोल्वण "कम्पन" सन्निपात ज्वर के लक्षण—शरीर में जडता होना, गद्गद कण्ठ से बोलना, रात्रि में अवश्य नींद आना, नेत्रों में स्तब्धता तथा मुख में मधुरता (मीठा खाये के समान मुख

का स्वाद रहना) ये सब लक्षण कफप्रधान सन्निपात ज्वर के समझने चाहिये। और ऋषियों ने इस सन्निपात ज्वर का नाम "कम्पन कहा है ॥ ४५३-४५४ ॥

अथ वातपित्तोल्बणभ्रमलक्षणमाह—

वातपित्ताधिको यस्तु सन्निपातः प्रकुप्यति। तस्य ज्वरो मदस्तृष्णा मुखशोषः प्रमीलकः॥४५५॥
आध्मानारुचितन्द्राश्च कासश्वासभ्रमश्रमाः। मुनिभिर्भ्रमनामाऽयं सन्निपात उदाहृतः॥४५६॥

वातपित्तोल्बण "भ्रम" सन्निपात ज्वर के लक्षण—जिस सन्निपात में वात तथा पित्त ये दोनों दोष कफ की अपेक्षा अधिक रूप से कुपित होते हैं और उसमें जब ज्वर होता है तब मद (नशा चढ़े के समान मालूम पड़ना), अधिक प्यास, मुख का सूखना, नेत्रों का मिचे से रहना, आध्मान (अफारा), अरुचि, तन्द्रा, खांसी, श्वास, भ्रम तथा श्रम (थकावट) प्रतीत होना ये सब लक्षण इसके साथ २ प्रगट होते हैं। इसे मुनियों ने "भ्रम" नामक सन्निपात ज्वर कहा है ॥ ४५५-४५६ ॥

अथ वातकफोल्बणशीघ्रकारिलक्षणमाह—

वातश्लेष्माधिको यस्य सन्निपातः प्रकुप्यति। तस्य शीतज्वरो मूर्छा क्षुत्तृष्णा पार्श्वनिग्रहः ४५७॥
शूलमस्विद्यमानस्य तन्द्रा श्वासश्च जायते। असाध्यः सन्निपातोऽयं शीघ्रकारीति कथ्यते।
न हि जीवत्यहोरात्रमनेनाविष्टविग्रहः ॥ ४५८ ॥

वातकफोल्बण "शीघ्रकारी" सन्निपात ज्वर के लक्षण—जिसके वातकफ-प्रधान त्रिदोष प्रकुपित होता है उसे शीतज्वर, मूर्छा, भूख तथा प्यास अधिक लगना, पंसुलियों में पीड़ा, शूल, पसीने का न निकलना, तन्द्रा तथा श्वास ये सब प्रगट होते हैं। यह सन्निपात ज्वर असाध्य होता है, इसे वैद्य लोग "आशुकारी" कहते हैं। इससे युक्त रोगी अहोरात्र (२४ घण्टे) तक नहीं जीता है अर्थात् इसके अन्दर ही मर जाता है ॥ ४५७-४५८ ॥

अथ पित्तकफोल्बणभल्लुलक्षणमाह—

पित्तश्लेष्माधिको यस्य सन्निपातः प्रकुप्यति। अन्तर्दाहो बहिः शीतं तस्य तृष्णा प्रवर्द्धते॥४५९॥
तुद्यते दक्षिणे पार्श्वं उरःशीर्षगलग्रहः। ष्ठीवति श्लेष्मपित्तञ्च कृच्छ्रात्कोठश्च जायते ॥ ४६० ॥
विड्भेदश्वासहिक्काश्च वर्द्धन्ते सप्रमीलकाः। ऋषिभिर्भल्लुनामाऽयं सन्निपात उदाहृतः॥४६१॥

पित्तकफोल्बण "भल्लु" सन्निपात ज्वर के लक्षण—जिसका पित्तकफ-प्रधान त्रिदोष प्रकुपित होता है और उसमें जब ज्वर होता है तब शरीर के अन्दर दाह होना तथा ऊपर से सर्दी लगना, प्यास की अधिक वृद्धि, दाहिनी पंसुलियों में सुई चुभोने की सी पीड़ा होना, हृदय-मस्तक तथा गले में दबाने की सी पीड़ा होना, कठिनता से कफ तथा पित्त का थूक के साथ निकलना, कोठ (बर्रै के काटे हुये के समान शरीर में चकत्ते) पड़ जाना, एवम् मल का भेदन (दस्त पतला होना), श्वास, कास, हिचकी, तथा प्रमीलक (नेत्रों का मिचे से रहना) इन सबों का क्रम से बढ़ना, ये सब भी प्रगट होने लगते हैं। ऋषियों ने इसे "भल्लु" नामक सन्निपात ज्वर कहा है ॥ ४५९-४६१ ॥

अथ वातपित्तकफोल्बणकूटपाकल लक्षणमाह—

सर्वदोषोल्बणो यस्य सन्निपातः प्रकुप्यति। त्रयाणामपि दोषाणां तस्य रूपाणि लक्षयेत् ॥४६२॥
व्याधिभ्यो दारुणश्चैव वज्रशस्त्राग्निसन्निभः। केवलोच्छ्वासपरमः स्तब्धाङ्गः स्तब्धलोचनः॥४६३॥
त्रिरात्रात्परमेतस्य जन्तोर्हरति जीवितम्। तदवस्थन्तु तं दृष्ट्वा मूढो व्याहरते जनः ॥ ४६४ ॥
धर्षितो राक्षसैर्नूनमवेलायां चरन्ति ये। अन्यथा ब्रुवते केचिद्यक्षिण्या ब्रह्मराक्षसैः ॥ ४६५ ॥
पिशाचैर्गुह्यकैश्चैव तथाऽन्यैर्मस्तके हतम्। कुलदेवार्चनाहीनं धर्षितं कुलदेवतैः ॥ ४६६ ॥
नक्षत्रपीडामपरे गरकर्मेति चापरे। सन्निपातमिमं प्राहुर्भिषजः कूटपाकलम् ॥ ४६७ ॥

वातपित्तकफोल्बण "कूटपाकल" सन्निपात ज्वर के लक्षण—जिसके त्रिदोष में सभी दोष प्रधान रूप से प्रकुपित होते हैं उसको जब ज्वर होता है तब उसमें तीनों दोषों के लक्षण प्रगट होते हैं। और यह सन्निपात ज्वर अन्य रोगों की अपेक्षा अधिक भयङ्कर होता है। एवम् वज्र (बिजुली), शस्त्र तथा अग्नि के समान शीघ्र प्राणनाशक होता है, और इसमें रोगी केवल ऊंचा श्वास लेता रहता है, सम्पूर्ण शरीर जकड़ जाता है, आंखें पथरा जाती हैं, एवम् तीन रात्रि के बाद ही यह सन्निपात ज्वर रोगी का प्राण हर लेता है। और इस सन्निपात ज्वर वाले रोगी को देख कर जो आयुर्वेद शास्त्र के अनभिज्ञ लोग हैं वे सब यह कहते हैं कि—इसके ऊपर असमय (आधी रात, दोपहर आदिक समय) में चलने फिरने वाले जो राक्षस लोग हैं, उन्होंने आक्रमण किया है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

और कोई यह कहते हैं कि—मातृग्रह से यह आक्रान्त है, कोई यक्षिणी से, कोई ब्रह्मराक्षसों से, कोई पिशाचों से, कोई गुह्यकों से यह आक्रान्त हुआ है ऐसा बतलाते हैं। तथा कोई यह भी कहते हैं कि—उपर्युक्त देवयोनियों से अन्य कोई उपदेव इसके शिर पर आविष्ट हुआ है, अथवा कुलदेवता का पूजन न करने से इसके ऊपर कुलदेवता का आक्रमण हुआ है। और कोई यह कहते हैं कि—इसे नक्षत्र-सम्बन्धी पीड़ा है तथा कोई गर (कृत्रिम विष) कर्म अर्थात् किसीके द्वारा इसके ऊपर विष प्रयोग हुआ है ऐसा कहते हैं। और वैद्य लोग इस सन्निपात ज्वर को "कूटपाकल" कहते हैं ॥४६२–४६७॥

अथाधिकवातमध्यपित्तहीनकफसम्मोहकसन्निपातलक्षणान्याह—

प्रवृद्धमध्यहीनैस्तु वातपित्तकफैश्च यः। तेन रोगास्त एवोक्ता यथादोषबलाश्रयाः ॥ ४६८ ॥
प्रलापायाससम्मोहकम्पमूर्च्छाऽरतिभ्रमाः। एकपक्षाभिघातश्च तत्राप्येते विशेषतः ॥ ४६९ ॥
एष सम्मोहको नाम्ना सन्निपातः सुदारुणः ॥ ४७० ॥

अधिकवात-मध्यपित्त-हीनकफ वाले "सम्मोहक" सन्निपात ज्वर के लक्षण—प्रवृद्ध (अधिक बढ़ा हुआ) वात–मध्यपित्त–हीनकफ ये तीनों दोष जहां पर मिलकर संनिपात ज्वर को उत्पन्न करते हैं अर्थात् अधिक वात–मध्यपित्त–हीनकफ वाले "समोहक" नामक संनिपात ज्वर में वातादिकों के जो रोग पृथक् २ कहे हुये हैं वे सब दोषबलानुरूप सामान्य रूप से अवश्य होते हैं किन्तु साथ २ में प्रलाप, श्रम मालूम पड़ना, मोह, कम्प, मूर्च्छा, अरति (किसी मे चित्त का न लगना), भ्रम तथा एक भाग में पक्षाघात (लकवा) हो जाना ये सब विशेष रूप से रहते हैं। इस भयंकर सनिपात का नाम मुनियों ने "सम्मोहक" रक्खा है ॥ ४६८–४७० ॥

***रोगास्त एवोक्ताः=उक्ता एव ते रोगा व्यथावेपथुनिद्रानाशविष्टम्भादयो वातजाः, दाहतृष्णोष्णतास्वेदादयः पित्तजाः, गौरवाग्निमान्द्योत्कासनासिकामुखप्रसेकादयः कफजाः। तत्रापि प्रलापादयः पक्षाघातान्ता विशेषाद्भवन्ति। ननु वातः प्रवृद्धः स ज्वरं करिष्यति, पित्तन्तु मध्यं=सममिति यावत्, तत्कथं ज्वरं करिष्यति? यत आह—**

***धातवस्तन्मला दोषाः स्युर्नाशायासमास्तनौ।**
समाः सुखाय विज्ञेया बलायोपचयाय च ॥ ८९ ॥ इति।

यहां पर मूल में "रोगास्त एवोक्ताः–अर्थात् वातादिकों के जो रोग पृथक् २ कहे हुये हैं ये ही सब" ऐसा जो कहा हुआ है, वहां पर वातादिकों के रोग निम्न लिखित ये सब समझने चाहिये। वात सम्बन्धी रोग—पीड़ा, कपकपी, नींद न आना तथा विष्टम्भ आदिक ये सब हैं। पित्तसम्बन्धी रोग-दाह, अधिक प्यास तथा गर्मी मालूम पड़ना और पसीना निकलना इत्यादिक ये सब हैं। कफसम्बन्धी रोग—शरीर में गुरुता, अग्नि की मन्दता, अधिक खांसी तथा नाक और मुख से पानी गिरना ये सब हैं। यहां पर उपर्युक्त वातादिजन्य सभी रोग प्रवृद्धवात–मध्यपित्त–हीनकफ वाले इस सनिपात ज्वर मे दोषबलानुसार होते हैं। अर्थात् इस सनिपात में वायु का अधिक बल होने से वातजन्य रोग प्रबल रूप से होते हैं, पित्त का बल मध्यम होने से पित्तजन्य रोग मध्य रूप से होते हैं तथा कफ का बल हीन होने से कफजन्य रोग हीनरूप से होते हैं। किन्तु इन सब रोगों के होते हुये भी इस सनिपात में प्रलाप से लेकर पक्षाघात (लकवा) पर्यन्त जो रोग मूल में कहे हुये हैं वे सब विशेष रूप से होते हैं।" यह और समझना चाहिये।

और यहां पर यह शङ्का होती है कि–इस सनिपात में वायु अधिक बढ़ा हुआ रहता है अतः वह ज्वर उत्पन्न करता है किन्तु पित्त तो मध्यम अर्थात् समान रूप से है तब वह कैसे ज्वर उत्पन्न करेगा? क्योंकि कहा भी है कि–रस, रक्तादिक धातुयें और उनके मल एवम् वातादिक दोष ये सब शरीर में समान भाव से न रहने पर अर्थात् विषम अवस्था में रहने पर शरीर के नाश करने वाले होते हैं। और यदि समान भाव से रहें तो शरीर को बढ़ाने वाले, बल तथा सुख को करने वाले होते हैं॥८९॥

***उच्यते— अत्र पित्तं मध्यमप्यप्रकृतमेव, यतोऽप्रकृतयोर्वातश्लेष्मणोरपेक्षया मध्यं, तेन मध्यकुपितमित्यर्थः। ननु कफः क्षीणः स कथं ज्वरं करिष्यति? हीनशक्तित्वाद्, उच्यते—दोषाः क्षीणा अपि व्याधीन् कुर्वन्त्येव। यत आह—**

***वातक्षयेऽल्पचेष्टत्वं मन्दवाक्त्वं विसंज्ञता।**
पित्तक्षयेऽधिकः श्लेष्मा वह्निर्मन्दः प्रभाक्षयः। शिथिलाः सन्धयो मूर्च्छा रौक्ष्यं दाहः कफक्षये॥९०॥

इसके उत्तर में यह कहते हैं कि—यहाँ पर पित्त यद्यपि मध्यम भाव में है तथापि वह प्रकृति से (स्वभावतः) मध्यमभाव में नहीं है बल्कि विकृति रूप में मध्यम है अर्थात् विकृति रूप में स्थित प्रवृद्धवात तथा हीनकफ की अपेक्षा मध्यम है इससे मध्यम रूप में कुपित है। अतः जब कुपित है तब ज्वर उत्पन्न करने में अवश्य समर्थ है। पुनः यह शङ्का होती है कि—इस सन्निपात में कफ तो क्षीण है अतः वह कैसे हीन होकर ज्वर को उत्पन्न करता है जब कि स्वयं (कफ) हीन शक्ति वाला है? इसके उत्तर में यह कहते हैं कि—दोष क्षीण होने पर भी रोगों को उत्पन्न करने वाले होते ही हैं। क्योंकि कहा भी है कि—वायु के क्षीण होने पर चेष्टा अल्प हो जाती है, वाणी मन्द पड़ जाती है, होश नहीं रह जाता है। पित्त के क्षय होने पर कफ अधिक बढ़ जाता है, अग्नि मन्द हो जाती है, कान्ति नष्ट हो जाती है। कफ के क्षय होने पर सन्धियाँ शिथिल हो जाती हैं तथा मूर्च्छा, रूक्षता एवम् दाह उत्पन्न होता है ॥ ९० ॥

छइत्याशङ्का सिद्धान्तश्चात्र परत्रापि ॥ ४६८–४७० ॥

इस प्रकार की शङ्का तथा समाधान अन्य सभी सन्निपातों में समझना चाहिये ॥४६८–४७०॥

अथ मध्यवाताधिकपित्तहीनकफपाकलसन्निपातलक्षणान्याह—

मध्यप्रवृद्धहीनैस्तु वातपित्तकफैश्च यः। तेन रोगास्त एवोक्ता यथादोषबलाश्रयाः ॥ ४७१ ॥
मोहप्रलापमूर्च्छाः स्युर्मन्यास्तम्भः शिरोग्रहः। कासः श्वासो भ्रमस्तन्द्रा सञ्ज्ञानाशो हृदि व्यथा ४७२
खेभ्यो रक्तं विसृजति सरक्तस्तब्धनेत्रता। तत्राप्येते विशेषाः स्युर्मृत्युरर्वाक् त्रिवासरात्।
भिषग्भिः सन्निपातोऽयं कथितः पाकलाभिधः ॥ ४७३ ॥

मध्यवात–अधिकपित्त–हीनकफ वाले "पाकल" सन्निपात के लक्षण—मध्यवात–अधिकपित्त तथा हीन कफ के द्वारा जो सन्निपातज्वर होता है, उसमें वातादि दोष जनित जो पूर्वोक्त रोग हैं, वे ही सब दोषबलानुसार प्रगट होते हैं। और विशेषतः मोह, प्रलाप, मूर्च्छा, मन्यास्तम्भ (नाड़ का जकड़ जाना), शिरोग्रह (शिर में पीड़ा), खाँसी, श्वास, भ्रम, तन्द्रा, संज्ञा का नाश, हृदय में व्यथा, मुख–नासिका आदि इन्द्रियों के छिद्रों से रक्त गिरना, नेत्रों में लालिमा तथा स्तब्धता (जड़ना) हो जाना ये सब होते हैं। और इस सन्निपात में तीन दिन पूर्ण होने के पहिले ही रोगी की मृत्यु हो जाती है, एवम् वैद्यलोग इसे "पाकल" नामक सन्निपात कहते हैं ॥ ४७१–४७३ ॥

अथ हीनवाताधिकपित्तमध्यकफयाम्यसन्निपातलक्षणमाह—

हीनप्रवृद्धमध्यैस्तु वातपित्तकफैश्च यः। तेन रोगास्त एवोक्ता यथादोषबलाश्रयाः ॥ ४७४ ॥
हृदयं दह्यते चास्य यकृत्प्लीहान्त्रफुफ्फुसाः। पच्यन्तेऽत्यर्थमूर्द्ध्वाधः पूयशोणितनिर्गमः ४७५
शीर्णदन्तश्च मृत्युश्च तत्राप्येतद्विशेषतः। भिषग्भिः सन्निपातोऽयं याम्यो नाम्ना प्रकीर्त्तितः ४७६

हीनवात–अधिकपित्त–मध्यकफ वाले "याम्य" सन्निपात के लक्षण—हीनवात–अधिकपित्त तथा मध्यकफ इन सबों के द्वारा जो सन्निपात ज्वर होता है उसमें पूर्वोक्त वातादिकों के जो दाहादिक रोग हैं वे सब दोषबलानुसार प्रगट होते ही हैं तथापि विशेषरूप से रोगी के हृदय में दाह होता है, और यकृत्–प्लीहा–आँतें तथा फुफ्फुस ये सब पक जाते हैं, ऊपर मुखादिक मार्ग से तथा नीचे गुदादिक मार्ग से पूय (पीब) तथा रक्त निकलने लगता है, दाँत गिरने लगते हैं, यहाँ तक कि मृत्यु भी हो जाती है। और वैद्यलोग इसे "याम्य" नामक सन्निपात कहते हैं ॥ ४७४–४७६ ॥

अथाधिकवातहीनपित्तमध्यकफक्रकचसन्निपातलक्षणमाह—

प्रवृद्धहीनमध्यैस्तु वातपित्तकफैश्च यः। तेन रोगास्त एवोक्ता यथादोषबलाश्रयाः ॥ ४७७ ॥
प्रलापायाससम्मोहाः कम्पमूर्च्छाऽरतिभ्रमाः। मन्यास्तम्भेन मृत्युः स्यात्तत्राप्येतद्विशेषतः ४७८
भिषग्भिः सन्निपातोऽयं क्रकचः सम्प्रकीर्त्तितः ॥ ४७९ ॥

अधिकवात–हीनपित्त–मध्यकफ वाले "क्रकच" सन्निपात के लक्षण—अधिकवात–हीनपित्त तथा मध्यकफ इन सबों के द्वारा जो सन्निपात ज्वर होता है उसमें पूर्वोक्त वातादिकों के जो दाहादिक रोग हैं वे सब दोषबलानुसार प्रगट होते ही हैं तथापि विशेष रूप से, प्रलाप, परिश्रम, मोह; कम्प, मूर्च्छा, अरति (बेचैनी) भ्रम ये सब भी प्रगट होते हैं। और मन्यास्तम्भ (नाड के जकड जाने) से मृत्यु भी हो जाती है। वैद्य लोग संनिपात का नाम "क्रकच" कहते हैं ॥ ४७७–४७९ ॥

अथ मध्यवात-हीनपित्त-मध्यकफकर्कटसन्निपातलक्षणमाह—

मध्यहीनप्रवृद्धैस्तु वातपित्तकफैश्च यः। तेन रोगास्त एवोक्ता यथादोषबलाश्रयाः ॥ ४८० ॥
अन्तर्दाहो विशेषोऽत्र न च वक्तु स शक्यते। रक्तमालक्तकेनैव लक्ष्यते मुखमण्डलम् ॥४८१॥
पित्तेनाकर्षितः श्लेष्मा हृदयान्न प्रसिच्यते। इषुणेवाहत पार्श्वं तुद्यते खन्यते हृदि ॥ ४८२ ॥
प्रमीलकश्वासहिक्का वर्द्धन्ते तु दिने दिने। जिह्वा दग्धा खरस्पर्शा गलः शूकैरिवावृत. ॥४८३॥
विसर्गं नाभिजानाति कूजेच्चापि कपोतवत्। अतीव श्लेष्मणा पूर्णःशुष्कवक्त्रौष्ठतालुकः॥४८४॥
तन्द्रानिद्राऽतियोगार्त्तो हतवाङ् निहतद्युतिः। न रति लभते नित्यं विपरीतानि चेच्छति॥४८५॥
आयम्यते च वहुशो रक्त ष्ठीवति चाल्पशः। एष कर्कटको नाम्ना सन्निपातः सुदारुणः॥४८६॥

मध्यवात-हीनपित्त-मध्यकफ वाले "कर्कट"(१) सन्निपात ज्वर के लक्षण—मध्यवात-हीनपित्त—मध्यकफ इन सबों के द्वारा जो संनिपात ज्वर होता है उसमें वातादिकों के पूर्वोक्त जो दाहादिक रोग हैं वे सब दोषबलानुसार प्रगट होते ही हैं तथाऽपि विशेष रूप से शरीर के अन्दर दाह होता हैं, बोलने में असमर्थता हो जाती है, आलता लगे हुये के समान मुख लाल रग का हो जाता है, पित्त से खींचा हुआ कफ हृदय से बाहर नहीं निकलता हैं, पसुलियों में बाण चुभे हुये के समान पीडा होती है, और हृदय मे खोदने के समान पीडा होती हे एवम् प्रमीलक (सम्पूर्ण इन्द्रियों की अपने २ विषयों के ग्रहण करने में असमर्थता), श्वास, हिचकी ये सब रोग दिन पर दिन बढने लगते हैं, जिह्वा जली हुई के समान तथा स्पर्श में खरदरी हो जाती है, गले के अन्दर शूकधान्य-जौ आदिक के अग्रभाग के समान काटे चारो तरफ निकल आते हैं, मल-मूत्रादिक के निकलने का ज्ञान नहीं रह जाता है; कबूतर के समान अस्फुट शब्द गले से निकलने लगता है, कण्ठ कफ से अत्यन्त भरा रहता हैं, मुख-ओष्ठ तथा तालु सूखने लगते हैं, तन्द्रा तथा निद्रा के अधिक आने से दु खी रहता है, बोलने की शक्ति तथा शरीर की कान्ति नष्ट हो जाती है। किसी भी अवस्था में शान्ति नहीं मिलती है; विपरीत पदार्थों की सदा इच्छा होती है, और बारम्बार हाथ-पैर को फैलाता रहता है और थूकके साथ किञ्चित् २ रक्त जाने लगता हे। इन सब लक्षणों से युक्त अत्यन्त भयङ्कर इस सन्निपात का नाम वैद्य लोग "कर्कटक" कहते हैं ॥ ४८०-४८६ ॥

अथ हीनवातमध्यपित्ताधिककफवैदारिकसन्निपातलक्षणमाह—

हीनमध्यप्रवृद्धैस्तु वातपित्तकफैश्च यः। तेन रोगास्त एवोक्ता यथादोषबलाश्रयाः ॥ ४८७ ॥
अल्पशूलं कटीतोदो मध्ये दाहो रुजा भ्रमः। भृश क्लमः शिरोवस्तिमन्याहृदयवाग्रुजः॥४८८॥
प्रमीलकः श्वासकासहिक्काजाड्यविसञ्ज्ञताः। प्रथमोत्पन्नमेनन्तु साधयन्ति कदा चन ॥४८९॥
एतस्मिन्सन्निवृत्ते तु कर्णमूले सुदारुणा। पिडिका जायते जन्तोर्यथा कृच्छ्रेण जीवति ॥४९०॥
स वैदारिकसञ्ज्ञोऽय सन्निपातः सुदारुणः। त्रिरात्रात्परमेतस्य व्यर्थमौषधकल्पनम् ॥ ४९१ ॥

हीनवात-मध्यपित्त-अधिककफ वाले "वैदारिक" सन्निपात के लक्षण-हीनवात-मध्यपित्त-अधिककफ इन सबों के द्वारा जो सन्निपात ज्वर होता है उसमें वातादिकों के जो पूर्वोक्त दाहादिक रोग होते हैं वे सब दोषबलानुसार होते ही हैं तथापि विशेष रूप से उसमें थोडा २ शूल, कमर में सुई चुभाने की सी पीडा छाती में दाह तथा पीडा, भ्रम, अत्यन्त क्लान्ति एवम् शिर-वस्ति (मूत्राशय) मन्या (नाड)-हृदय इन स्थानों में तथा बोलने में पीडा होना, प्रमीलक (नेत्रों का मिचते जाना), श्वास, खासी, हिचकी, शरीर में जडता और अत्यन्त बेहोशी होना ये सब लक्षण प्रगट होते हैं। और उत्पन्न होने के साथ ही यदि इस सन्निपात वाले रोगी की चिकित्सा की जाय तो कदाचित् वह बच

(१) कर्कटक सन्निपात की समता आधुनिक काल में न्यूमोनिया नाम के रोग के साथ मिलती है। दाह तथा वात के कारण रूक्ष त्वचा (Hot and dry skin), बेचैनी के कारण बोलने में असमर्थता, मुख का अलक्तक की भांति रक्तवर्ण (Flushed face) होना; कफ का आसानी से बाहर न निकलना (Tenacious sputum), पसुलियों में बाण के चुभने की भांति पीडा, (stabbing Pain in the affected side), श्वास (Herried repiration), हिचकी; कबूतर के समान अस्फुट शब्द कहना (Delirium), बारबार हाथ पैर फेकना (कान वलमन्स-Convalescence) इत्यादि सभी लक्षण पाये जाते हैं। इसका विस्तृत विवरण अलग परिशिष्ट में देखिये।

सकता है अन्यथा उसकी मृत्यु निश्चित रहती है। और इस सन्निपात के निवृत्त होने पर रोगी के कान के मूल भाग में अत्यन्त भयङ्कर फुड़िया उत्पन्न होती है, जिससे कि रोगी बड़ी कठिनता से मरने से बचता है। अन्यथा प्रायः मृत्यु हो जाती है। इस भयङ्कर सन्निपात को वैद्यलोग "वैदारिक" नाम कहते हैं। तीन रात्रि के अन्दर यदि इसकी उचित चिकित्सा न की जाय तो बाद में औषध देना व्यर्थ हो जाता है, अर्थात् रोगी मरने से नहीं बचता है ॥ ४८७–४९१ ॥

अथ सन्निपातज्वरविशेषाणां तन्त्रान्तरस्थनामान्याह—

शीताङ्गस्त्रिमलोद्भवज्वरगणे तन्द्री प्रलापी ततो—
रक्तष्ठीवयिता च तत्र गणितः सम्भुग्ननेत्रस्तथा।
साभिन्न्यासकजिह्वकश्च कथितः प्राक्सन्धिगोऽथान्तको—
रुग्दाहः सहचित्तविभ्रम इह द्वौ कर्णकण्ठग्रहौ ॥ ४९२ ॥

उक्त त्रिदोष सन्निपात ज्वरों के ग्रन्थांतर में कहे हुये नाम—१ शीताङ्ग २ तन्द्री, ३ प्रलापी ४ रक्तष्ठीवयिता ५ सम्भुग्ननेत्र ६ अभिन्यासक ७ जिह्वक ८ सन्धिक ९ अन्तक १० रुग्दाह ११ चित्तविभ्रम १२ कर्णग्रह १३ कण्ठग्रह ये १३ नाम त्रिदोष से उत्पन्न होने वाले ज्वरों के ग्रन्थान्तरों में कहे हुये हैं ॥ ४९२ ॥

***अथ तन्त्रान्तरे वातोल्बणादीनां सन्निपातज्वरविशेषाणां त्रयोदशानां शीताङ्गादीनि त्रयोदशनामान्तराणि लक्षणान्तराणि चाह—शीताङ्ग इति। तन्द्री = तन्द्रिकः, प्रलापी = प्रलापकः, रक्तष्ठीवयिता = रक्तष्ठीवी, सम्भुग्ननेत्रः = भुग्ननेत्रः, अभिन्यासकः = अभिन्यासः, कर्णकण्ठग्रहौ = कर्णग्रहः, कर्णिकः। कण्ठग्रहः = कण्ठकुब्जकः ॥ ४९२ ॥**

यहां पर यह और भी समझना चाहिये कि—पूर्वोक्त वातोल्बणादिक १३ विशेष सन्निपात ज्वरों के शीताङ्गादिक दूसरे १३ नाम ये सब हैं तथा उनके अन्य प्रकार से लक्षण भी आगे कहे जाने वाले हैं। और मूल में "तन्द्री" पद से "तन्द्रिक"। "प्रलापी" पद से "प्रलापक"। "रक्तष्ठीवयिता" पद से "रक्तष्ठीवी"। "सम्भुग्ननेत्र" पद से "भुग्ननेत्र। "अभिन्यासक" पद से "अभिन्यास"। "कर्णकण्ठग्रहौ" अर्थात् "कर्णग्रह" पद से "कर्णिक तथा "कण्ठग्रह" पद से "कण्ठकुब्जक" सन्निपात का ही बोध करना चाहिये ॥ ४९२ ॥

अथ तेषां प्रत्येकं लक्षणानि।

तत्र शीताङ्गसन्निपातलक्षणमाह—

हिमशिशिरशरीरः सन्निपातज्वरी यः-श्वसनकसनहिक्कामोहकम्पप्रलापः।
क्लमबहुकफवातादाहवम्यङ्गपीडा-स्वरविकृतिभिरार्त्तः शीतगात्रः स उक्तः ॥ ४९३ ॥

शीताङ्गादिक सन्निपातज्वरों के प्रत्येक लक्षणों में से प्रथम "शीताङ्ग" सन्निपातज्वर के लक्षण—जिस सन्निपात ज्वर में रोगी का शरीर बर्फ के समान शीतल हो और श्वास, खांसी, हिचकी, मोह, कम्प, प्रलाप, क्लान्ति तथा अधिक कफ का निकलना एवम् वायु का अधिक कुपित होना, दाह, वमन, अङ्गों में पीड़ा, स्वर में विकृति ये सब लक्षण प्रगट हों तो उसे "शीतगात्र" अर्थात् "शीताङ्ग" सन्निपात ज्वर कहते हैं ॥ ४९३ ॥

अथ तन्द्रिकसन्निपातलक्षणमाह—

तन्द्राऽतीव ततस्तृषाऽतिसरणं श्वासोऽधिकः कासरुक्-
सन्तप्तातितनुर्गले श्वयथुना सार्द्धञ्च कण्डूः कफः।
सुश्यामा रसना क्लमः श्रवणयोर्मान्द्यञ्च दाहस्तथा
यत्र स्यात्स हि तन्द्रिको निगदितो दोषत्रयोत्थो ज्वरः ॥ ४९४ ॥

तन्द्रिक सन्निपात ज्वर के लक्षण—जिस ज्वर में रोगी को अधिक तन्द्रा आती हो तथा प्यास अधिक लगती हो एवम् अतीसार, अधिक श्वास और खांसी हो, शरीर अधिक गर्म हो, गले में सूजन के साथ खुजली तथा कफ हो जीभ काली हो एवम् क्लान्ति, कानों से अत्यन्त स्वल्प सुनाई पड़ना और दाह ये सब हों तो उसे वैद्यलोग त्रिदोष से उत्पन्न हुआ "तन्द्रिक" ज्वर कहते हैं ॥ ४९४ ॥

अथ प्रलापकसन्निपातलक्षणमाह—

यत्र ज्वरे निखिलदोषनितान्तरोष-जाते प्रलापबहुलाः सहसोत्थिताश्च।

कम्पव्यथापतनदाहविसंज्ञताः स्यु-र्नाम्ना प्रलापक इति प्रथितः पृथिव्याम् ॥ ४९५ ॥

प्रलापक सन्निपातज्वर के लक्षण—जिस ज्वर में वातादिक सम्पूर्ण दोषों के प्रकुपित होने से रोगी अधिक प्रलाप करता हो तथा उठ २ कर भागता हो एवम् कम्प, शरीर में पीडा, उठने पर लड़खड़ा कर गिर पडना, दाह तथा अत्यन्त बेहोशी (किसी विषय का ख्याल न रहना) ये सब लक्षण प्रगट हों तो उसे संसार में प्रसिद्ध "प्रलापक" संनिपात ज्वर कहते हैं ॥ ४९५ ॥

अथ रक्तष्ठीविसन्निपातलक्षणमाह—

निष्ठीवो रुधिरस्य रक्तसदृशं कृष्णं तनौ मण्डलं-
लौहित्यं नयने तृषाऽरुचिवमिश्वासातिसारभ्रमाः ॥
आध्मानञ्च विसंज्ञता च पतनं हिक्काऽङ्गपीडा भृशं-
रक्तष्ठीविनि सन्निपातजनिते लिङ्गं ज्वरे जायते ॥ ४९६ ॥

रक्तष्ठीवी सन्निपातज्वर के लक्षण—थूकने पर रक्त निकलना, शरीर में रक्त वर्ण के तथा काले चकत्तों का होना, नेत्रों में लालिमा, अधिक प्यास, अरुचि, वमन, श्वास, अतीसार, भ्रान्ति, अफरा, होश न रहना, उठने २ लडखडा कर गिर पडना, हिचकी, अङ्गों में अत्यन्त पीडा होना ये सब लक्षण रक्तष्ठीवी संनिपातज्वर वाले रोगी में होते हैं ॥ ४९६ ॥

अथ भुग्ननेत्रसन्निपातज्वरलक्षणमाह—

भृशं नयनवक्रता श्वसनकासतन्द्रा भृशं-प्रलापमदवेपथुश्रवणहानिमोहास्तथा ॥
पुरो निखिलदोषजे भवति यत्र लिङ्गं ज्वरे पुरातनचिकित्सकैः स इह भुग्ननेत्रो मतः ॥४९७॥

भुग्ननेत्र सन्निपातज्वर के लक्षण—जिस संनिपातज्वर में रोगी के नेत्रों में टेढ़ापन हो एवम् श्वास, तन्द्रा, अधिक प्रलाप, मद, कम्प, बधिरता (कानों से अत्यन्त कम सुनाई पडना) तथा मोह ये सब लक्षण प्रगट हों तो उसे प्राचीन वैद्यलोग भुग्ननेत्र सन्निपात कहते हैं ॥ ४९७ ॥

अथाभिन्याससन्निपातलक्षणमाह—

दोषास्तीव्रतरा भवन्ति बलिनः सर्वेऽपि यत्र ज्वरे
मोहोऽतीव विचेष्टता विकलता श्वासो भृशं मूकता ॥
दाहश्चिक्कणमाननञ्च दहनो मन्दो बलस्य क्षयः
सोऽभिन्यास इति प्रकीर्त्तित इह प्राज्ञैर्भिषग्भिः पुरा ॥ ४९८ ॥

अभिन्यास सन्निपात ज्वर के लक्षण—जिस सन्निपातज्वर में सम्पूर्ण वातादिक दोष अत्यन्त तीव्र तथा बलवान् हों एवम् रोगी में अधिक मोह तथा चेष्टाहीनता हो और विकलता, अधिक श्वास, मूकता (न बोलना), दाह, मुख में चिकनापन, अग्नि की मन्दता तथा बल की हानि ये सब हों तो उसे प्राचीन वैद्यजन "अभिन्यास" नामक सन्निपात कहते हैं ॥ ४९८ ॥

अथ जिह्वकसन्निपातज्वरलक्षणमाह—

त्रिदोषजनिते ज्वरे भवति यत्र जिह्वा भृशं-वृता कठिनकण्टकैस्तदनु निर्भरं मूकता ॥
श्रुतिक्षतिबलक्षतिश्वसनकासासन्तप्तताः-पुरातनभिषग्वरास्तमिह जिह्वकं चक्षते ॥ ४९९ ॥

जिह्वक सन्निपातज्वर के लक्षण—जिस सन्निपातज्वर मे रोगी की जिह्वा में अत्यन्त कठिन कांटे पडजायँ तथा उसके बाद ही अत्यन्त मूकता हो जाय अर्थात् वह किसी प्रकार से बोल न सके, और सुनने की शक्ति तथा बल की हानि हो एवम् श्वास, खांसी तथा शरीर में अधिक ताप हो तो उसे प्राचीन वैद्यजन "जिह्वक" सन्निपात कहते हैं ॥ ४९९ ॥

अथ सन्धिगसन्निपातलक्षणमाह—

व्यथाऽतिशयिता भवेच्छ्वयथुसंयुता सन्धिषु, प्रभूतकफता मुखे विगतनिद्रता कासरुक् ॥
समस्तमिति कीर्त्तितं भवति लक्ष्म यत्र ज्वरे, त्रिदोषजनिते बुधैः स हि निगद्यते सन्धिगः॥५००॥

सन्धिग सन्निपात ज्वर के लक्षण—जिस सन्निपात ज्वर मे रोगी के सन्धिस्थानों मे शोथ के साथ २ अधिक पीडा भी हो और मुख में अत्यन्त कफ लिपटा रहता हो, नींद न आती हो तथा खांसी अधिक आती हो तो उसे वैद्यजन "सन्धिग" सन्निपात कहते हैं ॥ ५०० ॥

अथान्तकसन्निपातलक्षणमाह—

यस्मिंल्लक्षणमेतदस्ति सकलैर्दोषैरुदीते ज्वरे-ऽजस्रं मूर्द्धविधूननं सकसनं सर्वाङ्गपीडाऽधिका ॥

हिक्काश्वासरुदाहमोहसहिता देहेऽतिसन्तप्तता, वैकल्यञ्चवृथावचांसि मुनिभिःसंकीर्त्तितः सोऽन्तकः।

अन्तक सन्निपात ज्वर के लक्षण—जिस सन्निपात ज्वर में रोगी निरन्तर शिर को हिलाया करे तथा खांसी, सर्वाङ्ग में अधिक पीड़ा, हिचकी, श्वास, दाह, मोह, देह में अत्यन्त सन्ताप, विकलता और व्यर्थ बकवाद करना ये सब लक्षण देख पड़ते हों तो उसे आयुर्वेदज्ञ मुनिजन "अन्तक" नामक सन्निपात कहते हैं ॥ ५०१ ॥

अथ रुग्दाहसन्निपातलक्षणमाह—

दाहोऽधिको भवति यत्र तृषा च तीव्रा श्वासप्रलापविरुचिभ्रममोहपीडाः ॥
मन्याहनुव्यथनकण्ठरुजः श्रमश्च रुग्दाहसञ्ज्ञ उदितस्त्रिभवो ज्वरोऽयम् ॥ ५०२ ॥

रुग्दाह सन्निपात ज्वर के लक्षण—जिस सन्निपात ज्वर में रोगी को अधिक दाह होता हो तथा प्यास अधिक लगती हो एवम् श्वास, प्रलाप, विरुचि (विपरीत रुचि), भ्रम, मोह, पीड़ा, मन्या (नाड़) तथा ठोडी में अत्यन्त वेदना, कण्ठ में पीड़ा, थकावट ये सब लक्षण प्रकट हो रहे हों तो उसे "रुग्दाह" संज्ञक सन्निपात समझना चाहिये ॥ ५०२ ॥

अथ चित्तभ्रमसन्निपातलक्षणमाह—

गायति नृत्यति हसति प्रलपति विकृतं निरीक्षते मुह्येत् ।
दाहव्यथाभयार्त्तो नरस्तु चित्तभ्रमे ज्वरे भवति ॥ ५०३ ॥

चित्तभ्रम सन्निपात ज्वर के लक्षण—"चित्तभ्रम" सन्निपातज्वर में रोगी गाना गाता है, नाचता है, हंसता है, प्रलाप करता है, बुरे ढंग से देखता है तथा मोह को प्राप्त होता है एवम् दाह, व्यथा तथा भय से पीड़ित होता है ॥५०३ ॥

अथ कर्णिकसन्निपातलक्षणमाह—

दोषत्रयेण जनितः किल कर्णमूले तीव्रा ज्वरे भवति तु श्वयथुर्व्यथा च ॥
कण्ठग्रहो बधिरता श्वसनं प्रलापः प्रस्वेदमोहदहनानि च कर्णिकाख्ये ॥ ५०४ ॥

कर्णिक सन्निपात ज्वर के लक्षण—जिस ज्वर में तीनों दोषों के कुपित होने से रोगी के कान के मूलभाग में सूजन के साथ २ तीव्र पीड़ा हो तथा कण्ठ का अवरोध बधिरता (बहिरापन), श्वास, प्रलाप, अधिक पसीना निकलना, मोह तथा दाह होता हो तो उसे "कर्णिक" सन्निपात कहते हैं॥५०४

अथ कण्ठकुब्जसन्निपातलक्षणमाह—

कण्ठः शूकशतावरुद्धवदतिश्वासः प्रलापोऽरुचिर्दाहो देहरुजा तृषाऽपि च हनुस्तम्भः शिरोऽर्त्तिस्तथा।
मोहो वेपथुना सहेति सकलं लिङ्गं त्रिदोषज्वरे यत्र स्यात्स हि कण्ठकुब्ज उदितः प्राच्यैश्चिकित्साबुधैः

कण्ठकुब्ज सन्निपात ज्वर के लक्षण—जिस सन्निपात ज्वर में रोगी का कण्ठ सैकड़ों धान के शूक के समान कांटों से घिरे हुये के सदृश प्रतीत हो तथा अत्यन्त श्वास, प्रलाप, अरुचि, दाह, शरीर में पीड़ा, प्यास, ठोडी का जकड़ जाना, शिर में पीड़ा, मोह और कम्प ये सब लक्षण प्रगट हों तो उसे प्राचीन चिकित्सा शास्त्र के पण्डित लोग "कण्ठकुब्ज" सन्निपात कहते हैं ॥ ५०५ ॥

अथ सन्निपातज्वरसाध्यासाध्यत्वमाह—

सन्धिगस्तेषु साध्यः स्यात्तन्द्रिकश्चित्तविभ्रमः।कर्णिको जिह्वकः कण्ठकुब्जः पञ्चापि कष्टकाः॥५०६॥
रुग्दाहस्त्वतिकष्टेन संसाध्यस्तेषु भाषितः । रक्तष्ठीवी भुग्ननेत्रः शीतगात्रः प्रलापकः ।
अभिन्यासोऽन्तकश्चैते षडसाध्याः प्रकीर्त्तिताः ॥ ५०७ ॥

उक्त सन्निपात ज्वरों के मध्य में साध्य तथा असाध्य सन्निपात ज्वरों के नाम—इन पूर्वोक्त सन्निपात ज्वरों में सन्धिग सन्निपात साध्य है तथा १ तन्द्रिक २ चित्तविभ्रम ३ कर्णिक ४ जिह्वक ५ कण्ठकुब्ज ये ५ सन्निपातज्वर कष्टसाध्य हैं, और रुग्दाह सन्निपात अत्यन्त कष्टसाध्य हैं एवम् १ रक्तष्ठीवी २ भुग्ननेत्र ३ शीतगात्र ४ प्रलापक ५ अभिन्यास ६ अन्तक ये ६ सन्निपात ज्वर असाध्य कहे हुये हैं ॥ ५०६–५०७ ॥

अथान्यग्रन्थोक्तवातोल्वणादित्रयोदशसन्निपातातात् कुम्भीपाकादीनां नामान्याह—

कुम्भीपाकः प्रोर्णुनावः प्रलापी ह्यन्तर्दाहो दण्डपातोऽन्तकश्च ।
एणीदाहश्चाथ हारिद्रसञ्ज्ञो भेदा एते सन्निपातज्वरस्य ॥ ५०८ ॥
अजघोषभूतहासौ यन्त्रापीडश्च संन्यासः । संशोषी च विशेषास्तस्यैवोक्तास्त्रयोदशान्यत्र ॥५०९॥

अन्य ग्रन्थों में कहे हुये पूर्वोक्त वातोल्वणादि भेद से १३ सन्निपात ज्वरों के अन्य १३ कुम्भीपाकादि नाम—१ कुम्भीपाक २ प्रोर्णुनाव ३ प्रलापी ४ अन्तर्दाह ५ दण्डपात ६ अन्तक ७ एणीदाह ८ हारिद्र ९ अजघोष १० भूतहास ११ यन्त्रपीड १२ सन्यास १३ सशोषी ये १३ नाम अन्यत्र क्रम से पूर्वोक्त वातोल्वणादि सन्निपात ज्वरों के कहे हुए हैं ॥ ५०८–५०९ ॥

अथैषां लक्षणानि ।

तत्र कुम्भीपाकलक्षणमाह—

घोणाविवरक्षरद्बहु–शोणासितलोहित सान्द्रम् ।
विलुठन्मस्तकमभितः–कुम्भीपाकेन पीडित विद्यात् ॥ ५१० ॥

कुम्भीपाक सन्निपात ज्वर के लक्षण—जिस सन्निपात ज्वर में रोगी की नाक से काला, लाल एवम् गाढा रुधिर निकलता हो और वह अपने शिर को इधर उधर वारम्वार गिराता हो तो उसे "कुम्भीपाक" सन्निपात ज्वर से पीडित समझना चाहिये ॥ ५१० ॥

अथ प्रोर्णुनावसन्निपातलक्षणमाह—

उत्क्षिप्य यः स्वमङ्गं–क्षिपत्यधस्तान्नितान्तमुच्छ्वसिति ।
त प्रोर्णुनावजुष्ट विविधकष्ट विजानीयात् ॥ ५११ ॥

प्रोर्णुनाव सन्निपात ज्वर के लक्षण—जिस सन्निपात ज्वर में रोगी वारम्वार अपने हाथ–पैर आदि अङ्गों को ऊपर उठाकर पुन. नीचे को इधर उधर फेंकता हो तथा अत्यन्त जोर से श्वास लेता हो तो उसे अनेक प्रकार के कष्ट देने वाले "प्रोर्णुनाव" सन्निपात ज्वर से पीडित समझना चाहिये ॥ ५११॥

अथ प्रलापिसन्निपातलक्षणमाह—

स्वेदभ्रमाङ्गभेदाः कम्पोदवथुर्वमिर्व्यथा कण्ठे। गात्रञ्च गुर्वतीव प्रलापिजुष्टस्य जायते लिङ्गम् ५१२

प्रलापी सन्निपात ज्वर के लक्षण—प्रलापी सन्निपात ज्वर वाले रोगी को पसीना, भ्रम, शरीर में तोडने की सी पीडा, कम्प, नेत्रादिक में दाह, वमन, कण्ठ में पीडा और शरीर में क्रुरुता (भारीपन) ये सब लक्षण प्रगट होते हैं ॥ ५१२ ॥

अथान्तर्दाहसन्निपातलक्षणमाह—

अन्तर्दाहः शैत्यं–बहिः श्वयथुररतिरति तथा श्वासः ।
अङ्गमपि दग्धकल्पं–सोऽन्तर्दाहार्दितः कथितः ॥ ५१३ ॥

अन्तर्दाह सन्निपात ज्वर के लक्षण—जिस ज्वर में रोगी के शरीर के अन्दर दाह हो और ऊपर से शर्दी भी मालूम पडती हो तथा शोथ, बेचैनी, श्वास भी हो एवम् उसे अपना शरीर जलते हुये के समान प्रतीत होता हो तो उसे "अन्तर्दाह" सन्निपात ज्वर से पीडित कहना चाहिये ॥ ५१३ ॥

अथ दण्डपातसन्निपातलक्षणमाह—

नक्तन्दिवा न निद्रा–मुपति गृह्णाति मूढधीर्नभसः। उत्थाय दण्डपाती भ्रमातुरः सर्वतो भ्रमति ५१४

दण्डपात सन्निपात ज्वर के लक्षण—जिस ज्वर में रोगी को दिन में या रात्रि में कभी नींद न आती हो और वह बुद्धि के भ्रम से आकाश की तरफ़ किसी वस्तु को पकडने के लिये जैसे कोई हाथ पसारता है उस भांति बराबर पसारता रहता है और एकाएक उठकर दण्ड की भांति वारम्वार गिर पडता हो एवम् भ्रम से युक्त चारो तरफ घूर्णन करता हो तो उसे "दण्डपात" सन्निपात ज्वर से पीडित समझना चाहिये ॥ ५१४ ॥

***नभसो गृह्णाति = अकाशात् किञ्चिद् ग्रहीतु करौ प्रसारयतीत्यर्थः ॥ ५१४ ॥**

यहा पर "नभसो गृह्णाति" इन पदों का "आकाश की तरफ किसी वस्तु को पडने के लिये जैसे कोई हाथ पसारता रहता है उस भाति बरावर पसारता रहना है" यह अर्थ समझना चाहिये ५१४

अथान्तकसन्निपातलक्षणमाह—

सम्पूर्यते शरीरं–ग्रन्थिभिरभितस्तथोदरं मरुता। श्वासातुरस्य सततं–विचेतनस्यान्तकार्त्तस्य ॥

अन्तक सन्निपात ज्वर के लक्षण—अन्तक संनिपात ज्वर वाले रोगी के शरीर में चारो तरफ गांठें निकल आती हैं और उदर वायु से भर जाता है तथा वह निरन्तर श्वास से अत्यन्त पीडित हो जाता है एवम् सज्ञा से रहित भी हो जाता है ॥ ५१५ ॥

अथैणीदाहसन्निपातलक्षणमाह—

परिधावतीव गात्रे रुक्पात्रे भुजगपतगहरिणगणः। वेपथुमतः सदाहस्यैणीदाहज्वरार्त्तस्य ॥ ५१६ ॥

एणीदाह सनिपात ज्वर के लक्षण—जिस रोगी को एणीदाह सनिपात ज्वर होता है तो उसके शरीर में अत्यन्त पीड़ा होती है तथा उसे अपने शरीर के ऊपर साँप, पक्षी तथा हरिण का समूह दौड़ रहे हों ऐसा प्रतीत होता है। और शरीर में कम्प तथा दाह भी होता रहता है ॥ ५१६ ॥

रुक्पात्रे = पीडाभाजने, गात्रस्य विशेषणमेतत् ॥ ५१६ ॥

यहाँ पर "रुक्पात्रे" इस पद का "पीड़ा भाजन अर्थात् शरीर में अत्यन्त पीड़ा होती है "यह अर्थ समझना चाहिये। क्योंकि यह विशेषण गात्र अर्थात् शरीर का है ॥ ५१६ ॥

अथ हारिद्रकसन्निपातलक्षणमाह—

यस्यातिपीतमङ्गं-नयने सुतरां मलस्ततोऽप्यधिकम्।
दाहोऽतिशीतता बहि-रस्य स हारिद्रको ज्ञेयः ॥ ५१७ ॥

हारिद्रक सनिपात ज्वर के लक्षण—जिस ज्वर में रोगी का शरीर अत्यन्त पीला हल्दी से पुते हुये के समान हो जाता है तथा उसकी अपेक्षा नेत्र अधिक पीले हो जाते हैं एवम् नेत्र से भी बढ़ कर मल अधिक पीला हो जाता है। और शरीर के अन्दर दाह होता है किन्तु ऊपर से सरदी प्रतीत होती है तो उसे "हारिद्रक" सनिपात कहते हैं ॥ ५१७ ॥

अथाजघोषसन्निपातलक्षणमाह—

छगलकसमानगन्ध-स्कन्धरुजावानिरुद्धगलरन्ध्रः।
अजघोषसन्निपाता-त्ताम्राक्षः पुमान् भवति ॥ ५१८ ॥

अजघोष संनिपात ज्वर के लक्षण—अजघोष सनिपात ज्वर होने से रोगी के नेत्र ताम्बे के समान लाल वर्ण के हो जाते हैं और उसके शरीर से बकरे के समान गन्ध आने लगता है, कन्धों में पीड़ा होती है तथा गले का छिद्र अवरुद्ध हो जाता है ॥ ५१८ ॥

अथ भूतहाससन्निपातलक्षणमाह—

शब्दादीनधिगच्छति-न स्वान् विषयान् यदिन्द्रियग्रामैः।
हसति प्रलपति परुषं-स ज्ञेयो भूतहासार्त्तः ॥ ५१९ ॥

भूतहास संनिपात ज्वर के लक्षण—जो रोगी अपने ज्ञानेन्द्रियों से शब्द आदिक विषयों को नहीं ग्रहण करता है अर्थात् जो देख सुन आदि नहीं सकता है और हंसता है तथा कर्कश स्वर से प्रलाप करता है तो उसे भूतहास सनिपात ज्वर से पीड़ित समझना चाहिये ॥ ५१९ ॥

अथ यन्त्रापीडसन्निपातलक्षणमाह—

येन मुहुर्ज्वरवेगाद्-यन्त्रेणेवावपीड्यते गात्रम्। रक्तं पित्तञ्च वमेद्-यन्त्रापीडः स विज्ञेयः ॥ ५२० ॥

यन्त्रापीड सनिपात ज्वर के लक्षण—जिस ज्वर में रोगी को अपना शरीर बारबार ज्वर के वेग से कोल्हू में पेरने की भांति पीड़ित प्रतीत होता हो और उसे रक्तमिश्रित पित्त का वमन होता हो तो वह यन्त्रापीड सनिपात ज्वर कहलाता है ॥ ५२० ॥

अथ सन्न्याससन्निपातलक्षणमाह—

अतिसरति वमति कूजति गात्राण्यभितश्चिरं नरः क्षिपति।
संन्याससन्निपाते प्रलपत्युग्राक्षिमण्डलो भवति ॥ ५२१ ॥

संन्यास सनिपात ज्वर के लक्षण—सन्यास सनिपात ज्वर में रोगी प्रलाप करता है तथा उसका नेत्रमण्डल देखने में उग्र हो जाता है एवम् उसे अतीसार और वमन होता है तथा वह धीरे २ अव्यक्त शब्द करने लगता है एवम् बहुत देर तक अपने अङ्गों को इधर-उधर फेंकता है ॥ ५२१ ॥

अथ संशोषिसन्निपातलक्षणमाह—

मेचकवपुरतिमेचक-लोचनयुगलो मलोत्सर्गात्।
संशोषिणि सितपिडिका-मण्डलयुक्तो ज्वरे नरो भवति ॥ ५२२ ॥

संशोषी सन्निपात ज्वर के लक्षण—संशोषी सन्निपात ज्वर में रोगी का शरीर अधिक दस्त आने से काला पड़ जाता है तथा दोनों नेत्र भी अत्यन्त काले हो जाते हैं। और शरीर में सफेद २ फुंसियों का मण्डल उत्पन्न हो जाता है ॥ ५२२ ॥

अथ सन्निपातज्वरभयङ्करतामाह—

नारायण एव भिषग्–भेषजमेतेषु जाह्नवीनीरम्। नैरुज्यहेतुरेको–नित्यं मृत्युञ्जयो ध्येयः ५२३

सन्निपात ज्वर की भयङ्करता—इन सब सन्निपात ज्वरों में श्रीनारायण ही प्रधान रूप से वैद्य रह जाते हैं और ओषधियों में केवल गङ्गाजल ही रह जाता है और आरोग्य होने के लिये एक मृत्युञ्जय भगवान् शिवजी का ध्यान मात्र रह जाता है। अर्थात् अत्यन्त भयङ्कर होने से बड़ी कठिनता से रोगी के प्राण बचते हैं॥ ५२३॥

अथासाध्यसन्निपातज्वरलक्षणमाह—

सन्निपातज्वरस्यान्ते कर्णमूले सुदारुणः। शोथः सञ्जायते तेन कश्चिदेव प्रमुच्यते॥ ५२४॥

असाध्य सन्निपात ज्वर के लक्षण—जब सन्निपात ज्वर के अन्त में रोगी के कान के मूल भाग में अत्यन्त दारुण शोथ उत्पन्न होता है तब उस के होने से कोई २ ही रोगी मरने से बचते हैं अन्यथा प्राय. सभी मर जाते हैं॥ ५२४॥

***सुदारुणो मारकत्वाद्, यतस्तेनशोथेनकश्चिदेवप्रमुच्यते, कोऽपि जीवितं न त्यजतीत्यर्थः॥५२४॥**

यहां पर शोथ के विशेषण में "सुदारुण–अर्थात् अत्यन्त दारुण" पद का जो निर्देश किया है वह मारक होने के कारण से समझना चाहिये। और "तेन कश्चिदेव प्रमुच्यते" पदों का "उसके होने से कोई २ ही रोगी मरने से बचते हैं" यह अर्थ समझना चाहिये॥ ५२४॥

अथ सन्निपातसाध्यासाध्यतामाह—

सन्निपातज्वरान्कष्टानसाध्यानपरे जगुः॥ ५२५॥

दोषे प्रवृद्धे नष्टेऽग्नौ सर्वसम्पूर्णलक्षणः। सन्निपातज्वरोऽसाध्यः कष्टसाध्यस्ततोऽन्यथा॥५२६॥

सन्निपात ज्वरों की साध्यता तथा असाध्यता—सन्निपात ज्वरों को कोई वैद्य कष्टसाध्य और कोई वैद्य असाध्य बतलाते हैं अर्थात् सन्निपात ज्वर सुखसाध्य किसी भी दशा में नहीं होते हैं। और दोष यदि अधिक बढ़े हुये हों तथा अग्नि मन्द हो गई हो एवम् दाह–शीतादिक जितने लक्षण सन्निपात ज्वर के होते हैं वे सभी पूर्ण रूपसे रोगी में यदि पाये जाते हों तो उस सन्निपात ज्वर को असाध्य समझना चाहिये, और इससे अन्यथा होने पर सन्निपात ज्वर को कष्टसाध्य समझना चाहिये॥ ५२५–५२६॥

***सर्वाणि दाहशीतादीनि सम्पूर्णान्यातुरगतानि प्रोक्तानि यावल्लक्षणानि यस्य सः। ततोऽन्यथा=दोषे पक्वेऽग्नौ दीप्ते स्वल्पलक्षणः कष्टसाध्य इत्यर्थः॥ ५२५–५२६॥**

यहां पर "सर्वसम्पूर्णलक्षण." पद का "दाह–शीतादिक जितने लक्षण सन्निपात ज्वर के होते हैं वे सभी पूर्ण रूप से रोगी में यदि पाये जाते हों" यह अर्थ समझना चाहिये। और "ततोऽन्यथा—अर्थात् इससे अन्यथा होने पर" इन पदोंका "दोषों के परिपक्व होने पर तथा अग्नि के प्रदीप्त रहने पर, और सन्निपात ज्वर के पूर्वोक्त लक्षणों में से बहुत थोड़े लक्षण रोगियों में रहने पर" यह अर्थ समझना चाहिये॥ ५२५–५२६॥

अथ सामान्यसन्निपातज्वरचिकित्सामाह—

सन्निपातार्णवे मग्नं योऽभ्युद्धरति मानवम्। कस्तेन न कृतो धर्मः काञ्च पूजां न सोऽर्हति॥५२७॥

मृत्युना सह योद्धव्यं सन्निपात चिकित्सता। यश्च तत्र भवेज्जेता सजेताऽऽमयसंकुले॥५२८॥

सामान्यरूप से सन्निपात ज्वर की चिकित्सा—जो वैद्य सन्निपातज्वररूपी समुद्र में डूबे हुये मनुष्य का उद्धार करता है अर्थात् चिकित्सा द्वारा उसे रोगमुक्त करता है। उसने कौन सा धर्म नहीं किया और कौन सी पूजा के योग्य नहीं हुआ? अर्थात् वह सभी प्रकार के धर्मों का पालन कर चुका और सभी प्रकार की पूजा (सम्मान) प्राप्त करने के योग्य हो चुका। और सन्निपात की चिकित्सा करने वाले वैद्य को पूरा मृत्यु के साथ युद्ध करना पड़ता है। अत. इसमें जिसने जय प्राप्त कर लिया अर्थात् सन्निपात ज्वर को दूर कर सका तो उसे सम्पूर्ण व्याधियों को जीतने वाला अर्थात् दूर करने में योग्य समझना चाहिये॥ ५२७–५२८॥

श्लेष्मनिग्रहमेवादौ कुर्याद्व्याधौ त्रिदोषजे। संसर्गे यो गरीयान्स्या–दुपक्रम्यःसवै भवेत्॥५२९॥

सन्निपात ज्वरों मे सर्वप्रथम कफ को बढ़ने से रोकना चाहिये अर्थात् चिकित्सा द्वारा कफ का शमन करना चाहिये। और द्विदोषज ज्वरों में जो दोष अधिक बलवान् हो उसी को सर्व(१)प्रथम

---

(१) चरक ने भी लिखा है.—

"वर्धनेनैकदोषस्य क्षपणेनोच्छ्रितस्य वा।

चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ५२९ ॥

*निरस्ते श्लेष्माणि शस्यस्रोतःसूद्घाटितेषु च । लाघवं जायते सद्यस्तृष्णा चैवोपशाम्यति ॥९१॥

यहां पर सन्निपात ज्वर में सर्वप्रथम जो कफ का शमन करने को कहा गया है वह इस आशय से कि अन्यत्र यह लिखा है कि—कफ का शमन होने पर रोगी के स्रोतों का छिद्र खुल जाने से शरीर में लघुता होती है तथा तत्काल ही प्यास भी दूर हो जाती है ॥ ९१ ॥

अन्यच्च—

*"संनिपातज्वरे पूर्वं कुर्यादामकफापहम् । पश्चाच्छ्लेष्मणि संक्षीणे शमयेत् पित्तमारुतौ" ॥९२॥

और भी कहा हुआ है कि–सन्निपात ज्वर में सर्वप्रथम आमकफ को नाश करने वाली चिकित्सा करनी चाहिये तदुपरान्त जब कफ क्षीण हो जाय तब पित्त तथा वायु के शमनार्थ चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ९२ ॥

*यत्पुनस्तन्त्रान्तरे—

*"शमयेत् पित्तमेवादौ ज्वरेषु समवायिषु । दुर्निवारतमं तद्धि ज्वरार्तेषु विशेषतः" ॥ ९३ ॥

और जो किसी २ ग्रन्थों में यह पाया जाता है कि–सन्निपात ज्वर में सर्वप्रथम पित्तका(१)ही शमन करना चाहिये, क्योंकि ज्वररोगियों में विशेष करके वही अर्थात् पित्त ही निवारण करने में कठिन होता है अर्थात् ज्वर पित्तप्रधान होता है अतः सर्वप्रथम पित्त का ही शमन करना चाहिये ॥ ९३ ॥

*अन्यत्रापि—

*"समवाये हि दोषाणां पूर्वं पित्तमुपाचरेत् । ज्वरे चैवातिसारे च सर्वत्रान्यत्र मारुतम्" ॥९४॥

और इसके अतिरिक्त अन्यत्र भी यह कहा हुआ है कि—जहां पर दोषों का सन्निपात हो वहां पर प्रथम पित्त का उपचार करना चाहिये, विशेष करके ज्वर तथा अतीसार रोगों में अवश्य करना चाहिये। इसके अतिरिक्त अन्य रोगों में सर्वत्र सर्वप्रथम सन्निपात में वायु की ही चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ९४ ॥

*एतेनाप्यामकफनिग्रहानन्तरं पित्तं, पित्तप्रशमात्परं वातमप्यनीकं कार्यमेव, सन्निपातज्वरातिसारयोर्बोद्धव्यम् , अन्यस्मिन्नामये वायोरेवादौ प्रतिकुर्याद् । यथा—

*"वातस्यानुजयेत् पित्तं पित्तस्यानुजयेत् कफम् । त्रयाणां वा जयेत् पूर्वं यो भवेद् बलवत्तमः" ९५

इस वचन से यही समझना चाहिये कि–आमकफ की चिकित्सा करने के बाद पित्त की चिकित्सा करनी चाहिये। और पित्त का शमन होने के बाद वायु की चिकित्सा करनी चाहिये किन्तु यह प्रक्रिया केवल सन्निपात ज्वर तथा सन्निपातातीसार ही में समझनी चाहिये। इनसे भिन्न अन्य रोगों

कफस्थानानुपूर्व्या वा सन्निपातज्वरं जयेत् ।" (चरक-चिकित्सा–अ० ३)

सन्निपात में अधिक बढे हुये दोष को कम करते हुये तथा सबसे न्यूनबल दोष को बढाते हुये सन्निपात की चिकित्सा करनी चाहिये। अर्थात् सन्निपात में तीनों ही दोष बढे हुये हों तो उनकी अधिकता की मात्रा के अनुसार कोई दोष अधिक, अधिकतर तथा अधिकतम होंगे यहां पर जो दोष सबसे अधिक बढा हुआ हो उसको कम करने तथा दोषों में अपेक्षाकृत सबसे कम शक्ति वाले दोष को बढाने वाली चिकित्सा करनी चाहिये। उदाहरण के लिये कफ अधिक तथा वात और पित्त क्रमशः अधिकतर तथा अधिकतम हों तो मधुर रसका सेवन करावें, इसमें सबसे कमशक्ति वाले दोष कफ की वृद्धि होगी तथा वात और पित्त क्षीण होगें। इस प्रकार एक दोष को बढाकर तथा अन्य दोषों को घटाते हुये सन्निपात की चिकित्सा करें। अथवा कफस्थान के अनुसार चिकित्सा करें। कफका स्थान आमाशय है अतः "स्थानं जयेद्धि पूर्वम्" के अनुसार कफशामक चिकित्सा करनी चाहिये। दोष प्रथम आमाशय को ही दूषित करके ज्वर को उत्पन्न करते हैं अतः उसके तथा कफ के भी शान्त्यर्थ लङ्घनादि कराना चाहिये।

(१) सुश्रुत का कथन है कि सन्निपात ज्वर में प्रथम पित्त का शमन करना चाहिये।

"शमयेत् पित्तमेवादौ ज्वरेषु समवायिषु । दुर्निवारतरं तद्धि ज्वरार्तेषु विशेषतः ॥"

इस सुश्रुत के वचन को जीर्ण त्रिदोष ज्वर के विषय में समझना चाहिये ऐसी चक्रपाणि की सम्मति है। नवीन त्रिदोषज्वर में प्रथम कफशमन ही करना चाहिये। आगे चलकर मूल में ही स्पष्ट कहेंगे कि–आम तथा कफ की प्रथम चिकित्सा करनी चाहिये इनके शमन करने के बाद ही पित्त की चिकित्सा तदुपरांत वात की चिकित्सा करनी चाहिये।

में तो वायु ही की सर्वप्रथम चिकित्सा करनी चाहिये। जैसा कि कहा हुआ है कि—सामान्य रूप से संनिपात रोगों में सर्वप्रथम वायु की चिकित्सा करने के बाद पित्त की चिकित्सा करनी चाहिये, पित्त के बाद कफ की चिकित्सा करना उचित है, अथवा वातादिक तीनों दोषों के मध्य मे जो उस समय सबसे अधिक बलवान् हो सर्वप्रथम उसकी चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ९५ ॥

तथा हि तन्त्रान्तरे—

"ज्वरे त्रिदोपजे सामे शमयेत् कफमादित.। पाकान्तमागते पित्त चिरजे विपमेऽनिलम्"॥९६॥

और तन्त्रान्तरों में भी स्पष्ट रूप से प्रथम कफ की चिकित्सा करने के लिये कहा हुआ है कि—त्रिदोप मे उत्पन्न हुये (सनिपात) ज्वर में सामावस्था रहने पर सर्वप्रथम कफ की चिकित्सा करनी चाहिये। और जब दोप परिपक्व हो जायँ तव पित्त की चिकित्सा करनी चाहिये, और पुराने विषम ज्वर में अथवा पुराने ज्वर तथा विषमज्वर में सर्वप्रथम वायु की चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ९६ ॥

ससर्गे = दोषद्वयससर्गे। गरीयान् = वलवत्तरः ॥ ५२९ ॥

और पूर्वोक्त ५२९ वें श्लोक में "ससर्गे" पद का "दो दोषों का ससर्ग (सम्बन्ध) रहने पर अर्थात् द्विदोपज ज्वरमें" तथा "गरीयान्" पदका "अधिक बलवान् हो" यह अर्थ समझना चाहिये॥५२९॥

अंशांश यत्र दोषाणां विवेक्तुं नैव शक्नुयात्। क्रियां साधारणीं तत्र विदधीत चिकित्सकः॥५३०॥
लङ्घन वालुकास्वेदो नस्यं निष्ठीवन तथा। अवलेहोऽञ्जन चैव प्राक्प्रयोज्य त्रिदोषजे ॥५३१॥

जिस सनिपात ज्वर में वैद्य वातादिक दोषों के अंशांश अर्थात् कौन दोष कितने अंश में है इस विषय का विचार भली भांति न कर सके तो वहां पर साधारण रूप से निम्नलिखित क्रियाओं को करै। जो कि ये हैं—त्रिदोपज ज्वर में प्रथम लङ्घन (उपवास), बालुकास्वेद, नस्य, निष्ठीवन, अवलेह और अञ्जन ये सब कर्म रोगी को कराना चाहिये ॥ ५३०–५३१ ॥

ज्वरयिति शेष. ॥ ५३०–५३१ ॥

यहां पर मूल में "त्रिदोषजे" इस पद के साथ "ज्वरे" इस पद की कमी होने से उसको ऊपर से लाकर अन्वय करके "त्रिदोपज ज्वर में" यह अर्थ किया गया है" ऐसा समझना चाहिये॥५३०–५३१॥

क्रियाभिस्तुल्यरूपाभिः क्रियासांकर्यमिष्यते। भिन्नरूपतया तास्तु न हि कुर्वन्ति दूषणम्॥५३२॥

समान रूप वाली क्रियायों के एक साथ करने से ही क्रियाओं को सकरता नामक दोष होता है किन्तु यदि वे भिन्न रूप वाली हों तो उनके एक साथ करने पर किसी भांति का दोष क्रियासकरतामूलक नहीं होता है ॥ ५३२ ॥

ननु—क्रियायास्तु गुणालाभे क्रियामन्यां प्रयोजयेत्।
पूर्वस्यां शान्तवेगायां न क्रियासकरो हितः ॥ ९६ ॥

यहां पर यह और समझना चाहिये कि—इस श्लोक को क्यों कहा गया ? इसके उत्तर में यह कहते हैं कि—किसी भी क्रिया के करने के बाद यदि उसका गुण न प्राप्त होता हो तो पूर्व मे की हुई क्रिया का वेग जब शान्त हो जाय तभी दूसरी क्रिया का प्रयोग करना चाहिये, क्योंकि क्रियाओं की सकरता होने से रोगी का हित नहीं होता है प्रत्युत हानि ही होती है ॥ ९७ ॥

इति वचनेन क्रियासकरस्य निषिद्धत्वात्कथमत्र नस्यनिष्ठीवनावलेहाञ्जनानि युगपद्विधीयन्त इत्याशङ्क्याऽऽह—क्रियेति ॥ ५३२ ॥

इस वचन से क्रियाओं की सकरता का निषेध होने से कैसे ५३१ वें श्लोक में सनिपात ज्वर में नस्य, निष्ठीवन, अवलेह, अञ्जन आदि क्रियाओं का एक साथ प्रयोग करने का विधान बतलाया है? इसी के उत्तर में "क्रियाभिरि"त्यादिक श्लोक को कहा गया है" ऐसा समझना चाहिये ॥ ५३२ ॥

त्रिरात्र पञ्चरात्र वा दशरात्रमथापि वा। लङ्घन सन्निपातेषु कुर्यादारोग्यदर्शनात् ॥ ५३३ ॥

सनिपातज्वर में लङ्घन करने की अवधि—सनिपात ज्वर में रोगी को तीन, पांच या दश रात्रि पर्यन्त अथवा जब तक आरोग्य न हो अर्थात् दोषों का परिपाक न हो तब तक लङ्घन (उपवास) करना चाहिये ॥ ५३३ ॥

लङ्घने त्रिरात्रादिविकल्प उल्वणवाताद्यपेक्षया, दोषाणां शीघ्रमध्यमन्दशक्तित्वाद्, व्याध्यभावाद्वा। आरोग्यदर्शनादिति। यावदारोग्यदर्शनं स्यात्तावद्वा लङ्घन कुर्याद्, एतेन त्रिरात्राद्यवधेर्न नियतत्व सूचितम् ॥ ५३३ ॥

यहाँ पर यह और समझना चाहिये कि—लङ्घन करने में तीन रात्रि आदि का जो विकल्प किया गया है वह उदरस्थ वायु आदि की अपेक्षा करके किया गया है अथवा वातादिक दोषों की क्रम से शीघ्र, मध्य तथा मन्द शक्ति होने से व्याधि का उतने समय में अभाव होने से भिन्न २ अवधि का निर्देश किया गया है। "जब तक आरोग्य न हो तब तक लङ्घन कराना चाहिये" ऐसा जो कहा गया है उससे यह समझना चाहिये कि लङ्घन करने में तीन रात्रि आदि की अवधि का कोई नियम नहीं है ॥ ५३३ ॥

अत एव सुश्रुतः प्राह—

सप्तमे दिवसे प्राप्ते दशमे द्वादशेऽपि वा । पुनर्घोरतरो भूत्वा प्रशमं याति हन्ति वा ॥ ५३४ ॥

इस पर सुश्रुत ने भी कहा है कि—सातवाँ, दशवाँ या बारहवाँ दिन होने पर सन्निपात ज्वर पुनः एक बार अत्यन्त घोर होकर शान्त हो जाता है अथवा रोगी को मार डालता है ॥ ५३४ ॥

*घोरतर इति स्वभावादेव ततो घोरतरो भूत्वेति ॥ ५३४ ॥

यहाँ पर "घोरतर अर्थात् अत्यन्त घोर होकर" यह जो कहा गया है, वह सन्निपात ज्वर का स्वभाव होता है, इस लिये कहा गया है" यह समझना चाहिये ॥ ५३४ ॥

अथ हननप्रशमयोः कारणमाह—

पित्तकफानिलवृद्ध्या दशदिवसद्वादशाहसप्ताहात् ॥
हन्ति विमुञ्चत्यथ वा त्रिदोषजो धातुमलपाकात् ॥ ५३५ ॥

संनिपातज्वर का रोगी के मारने तथा स्वयं शान्त होने में कारण—पित्त, कफ तथा वायु की वृद्धि के अनुसार क्रम से दश, बारह और सात दिन में धातु तथा मल का पाक होने से त्रिदोषज (सन्निपात) ज्वर रोगी को मार डालता है अथवा छोड देता है ॥ ५३५ ॥

*त्रिदोषजो ज्वर इति शेषः। धातुमलपाकाद् = धातुपाकाद्धन्ति, मलपाकाद्विमुञ्चती-त्यर्थः। धातुमलपाके प्राक्तनकर्मैव हेतुः। तत्र यदि जीवनसंवर्द्धकं कर्मास्ति तदा मलपाकः, अन्यथा धातुपाकः। स च रसादिशुक्रान्तधातूनां पाको बोद्धव्यः ॥ ५३५ ॥

यहाँ पर त्रिदोषज के साथ "ज्वर" पद का ऊपर से लाकर अन्वय करना चाहिये क्योंकि मूल में "ज्वर" पद की कमी है। और "धातु तथा मल का पाक होने से मार डालता है अथवा छोड देता है" ऐसा कहने से यह समझना चाहिये कि—धातु का पाक होने से रोगी को मार डालता है और मल का पाक होने से छोड देता है। और धातु तथा मल का पाक होने में रोगी का पूर्व में किया हुआ शुभाशुभ कर्म ही हेतु है, उसमें यदि जीवन (आयु) को बढ़ाने वाला प्राक्तन कर्म है तो मल का पाक होता है अन्यथा धातु का पाक होता है। यहाँ पर धातुपाक कहने से रस से लेकर शुक्रपर्यन्त सात धातुओं का पाक होना समझना चाहिये ॥ ५३५ ॥

अथ धातुपाकलक्षणमाह—

निद्रानाशो हृदिस्तम्भो विष्टम्भो गौरवारुची। अरतिर्बलहानिश्च धातूनां पाकलक्षणम् ॥५३६॥

धातुपाक के लक्षण—निद्रा का न आना हृदय में स्तब्धता, उदर में विष्टब्धता, अङ्गों में गुरुता (भारीपन), अरुचि, बेचैनी, और बल का नाश ये सब लक्षण जब संनिपात ज्वर वाले रोगी को प्रगट हों तब धातुओं का पाक हुआ समझना चाहिये ॥ ५३६ ॥

*विष्टम्भ उदरस्य। गौरवं गात्राणाम् ॥ ५३६ ॥

यहाँ पर "विष्टम्भ" पद से "उदर में विष्टब्धता" तथा "गौरव" पद से "अङ्गों में गुरुता" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ५३६ ॥

अन्यच्च—

सम्बाध्यमानो हृदि नाभिदेशे गात्रेषु वा पाकरुजाऽन्वितेषु।
पीडाज्वरार्त्तोऽङ्गुलिभिश्च गच्छेत् स धातुपाकी कथितो भिषग्भिः ॥ ५३७ ॥

धातुपाक के अन्य लक्षण—"सन्निपात ज्वर वाले रोगी को हृदय या नाभिदेश में अथवा पाक होने से पीडित अङ्गों में अङ्गुली से दबाने पर पीडा प्रतीत हो तो उसके धातुओं का पाक हो गया है" ऐसा वैद्य लोग कहते हैं ॥ ५३७ ॥

अपरं च—

नाभेरूर्ध्वं हृदोऽधस्तात् पीडिते चेद्व्यथा भवेत्। धातोः पाकं विजानीयादन्यथा तु मलस्य च ५३८

और भी कहा हुआ है कि—सनिपात ज्वर वाले रोगी के नाभि के ऊपर और हृदय के नीचे अंगुली से दबाने पर यदि पीडा हो तो धातुपाक हुआ समझना चाहिये अन्यथा (पीडा न हो तो) मलपाक हुआ समझना चाहिये ॥ ५३८ ॥

अथ मलपाकलक्षणमाह—

दोषप्रकृतिवैकृत्यं लघुता ज्वरदेहयोः । इन्द्रियाणाञ्च वैमल्यं मलानां पाकलक्षणम् ॥ ५३९ ॥

मलपाक के लक्षण—दोषों की प्रकृति का विपरीत होना, ज्वर तथा देह में लघुता अर्थात् ज्वर का वेग कम होना और शरीर हल्का होना, इन्द्रियों का मल से रहित होना ये सब लक्षण सनिपात ज्वर वाले रोगियों में दोषों के पाक होने के होते हैं ॥ ५३९ ॥

***दोषाः = वातादयस्तेषां प्रकृतिः = दाहतन्द्रागौरवादिकरणं, तस्य वकृत्यं = वैपरीत्यं, वैमल्य = मलराहित्यम् । मलाना = दोषाणां पाकलक्षणम् ॥ ५३९ ॥**

यहा पर "दोषप्रकृतिवैकृत्यम् अर्थात् दोषों की प्रकृति का विपरीत होना" कहने से "वातादिक दोषों की जो दाह, तन्द्रा, शरीर में गुरुता आदि करना प्रकृति (स्वभाव) है उसका विपरीत हो जाना अर्थात् उन सबों का न होना" तथा "वैमल्यम्" पदका "इन्द्रियों का मल से रहित होना" एवम् "मलानाम्" पदका "दोषों के" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ५३९ ॥

अन्यच्च—

श्रुत्वगिन्द्रियपञ्चकस्य पटुता वह्नेश्च यत्र क्रमा-
त्तृष्णाऽऽदिप्रशमो ज्वरस्य मृदुता त दोषपाकं वदेत् ।
हृन्नाभ्योरतिवेदनाऽतिसरण तीव्रो ज्वरस्तृण्मदः-
श्वासाधिक्यमरोचकोऽरतिरिति स्याद्धातुपाकाकृतिः ॥ ५४० ॥

दोष तथा धातु पाक के अन्य लक्षण—जब सनिपात ज्वर में आँख, नाक, कान, रसना आदि पांचों इन्द्रियाँ अपने २ विषयों के ग्रहण करने में समर्थ होने लगें तथा अग्नि भी प्रदीप्त होने लगे एवम् क्रम से तृष्णा (प्यास) आदि का शमन हो तथा ज्वर हलका हो तो उस समय रोगी के दोषों का पाक हुआ समझना चाहिये ।

और जब रोगी के हृदय तथा नाभि में अत्यन्त वेदना हो तथा अतीसार, तीव्र ज्वर, प्यास, मद, श्वास की अधिकता, अरुचि और बेचैनी ये सब लक्षण प्रगट हों तो उसके धातुओं का पाक हुआ समझना चाहिये ॥ ५४० ॥

अथ हननप्रशमयोः परमावधिमाह—

सप्तमी द्विगुणा यावन्नवम्येकादशी तथा । एषा त्रिदोषमर्यादा मोक्षाय च वधाय च ॥५४१॥

सनिपात ज्वर का रोगी के मारने तथा स्वय शान्त होने में परम अवधि—वात की प्रबलता मे सातवीं रात्रि अथवा चौदहवीं रात्रि, पित्त की प्रबलता में नवीं रात्रि अथवा बीसवीं रात्रि, कफ की प्रबलता मे ग्यारहवीं रात्रि अथवा चौबीसवीं रात्रि रोगी को छोडने तथा मारने में त्रिदोष (सनिपात) ज्वर की मर्यादा (अवधि) है ॥ ५४१ ॥

***आमस्याधिक्येन सप्तमदिवसाद्यवध्यतिक्रमे परमावधिमाह हारीतः—सप्तमीति । नव-म्येकादशी चागमनदिवसं विहाय बोद्धया, तेनागमनदिवसं नीत्वा दशमी द्वादशी तथा। अत्र रात्रिरित्यध्याह्रियते ॥ ५४१ ॥**

यहा पर यह और भी समझना चाहिये कि—यह वचन हारीत का है, और जब आम दोष की अधिकता से सातवें दिन आदि की अवधि का अतिक्रमण हो जाय अर्थात् उस दिन सनिपात ज्वर न स्वय शान्त हो और न रोगी को मार डाले तो १४ चौदहवीं रात्रि अन्तिम अवधि होती है । और नवीं तथा ग्यारहवीं रात्रि जो अवधि की कही गई है वह ज्वर आने वाले दिन को छोडकर समझनी चाहिये, इससे ज्वर आने वाले दिन को लेकर दशवीं तथा बारहवीं रात्रि समझनी चाहिये । यहा पर "रात्रि" पद का अध्याहार कर लेना चाहिये ॥ ५४१ ॥

अथ सन्निपातज्वरप्रथमकर्त्तव्यमाह ।

तत्रादौ लङ्घनमाह—

सन्निपातज्वरी पूर्वं सम्यग् लङ्घनमाचरेत् । शृतं शीतं पिबेदम्भः समये भेषजं भजेत् ॥५४२॥

सनिपात ज्वर में प्रथम कर्त्तव्य कर्मों में लङ्घन की विधि—सनिपात ज्वर वाला रोगी प्रथम भली

शांति लङ्घन (उपवास) करें और यथाविधि औटा करके शीतल किया हुआ जल पीवें एवम् उपयुक्त समय पर औषध सेवन करें ॥ ५४२ ॥

सन्निपातेन तृष्यन्त पार्श्वरुक्ताल्लुशोषिणम् । यः पाययेज्जलं शीतं स मृत्युर्नरविग्रहः ॥ ५४३ ॥

सन्निपात ज्वर के वेग से जिस रोगी को अधिक प्यास लगी हुई हो तथा तालु सूख रहा हो एवम् पसुलियों में पीडा हो रही हो तो ऐसी अवस्था में यदि कोई उसे बिना औटाया हुआ शीतल जल पिलावें तो उस पिलाने वाले मनुष्य को साक्षात् मृत्यु समझना चाहिये, अर्थात् ऐसा करने से रोगी की मृत्यु हो जाती है अत एव कच्चा शीतल जल कभी पीने के लिये नहीं देना चाहिये ॥ ५४३ ॥

***शीतमक्वथितं श्रृतं तु शीतं विहितमेव ॥ ५४३ ॥**

यहा पर "शीतल जल अर्थात् बिना औटाया हुआ शीतल जल पिलाना निषिद्ध तथा औटाकर शीतल किया हुआ जल पिलाना उचित" समझना चाहिये ॥ ५४३ ॥

अथ वालुकास्वेदमाह—

वातश्लेष्मकृते स्वेदान्कारयेद्रूक्षनिर्मितान् । स्निग्धः स्वेदो निषिद्धोऽत्र विनाकेवलवातजात ५४४
खर्परभृष्टपटस्थितकाञ्जिकसंसिक्तवालुकास्वेदः । शमयति वातकफामयमस्तकशूलाङ्गभङ्गादीन् ।
स्रोतसां मार्दवं कृत्वा नीत्वा पावकमाशयम् । हत्वा वातकफस्तम्भं स्वेदो ज्वरमपोहति ॥५४६॥

स्वेद की विधि—वात–कफ प्रधान सन्निपात ज्वर में वात–कफ को दूर करने के लिये रूक्षपदार्थों से किया हुआ स्वेद देना उचित होता है न कि स्निग्ध पदार्थों से किया हुआ स्वेद । क्योंकि यहा पर वातप्रधान सन्निपात ज्वर को छोड कर सर्वत्र स्वेद देना निषिद्ध माना गया है ।

बालुकास्वेद की विधि—प्रथम बालू को हडिया में रखकर या भरसाय में भेजकर गर्म करवा ले पश्चात् कपडे मे बांध कर पोटली बना ले, इसके बाद उस पोटली के ऊपर कांजी के छींटे देकर जो स्वेद दिया जाता है, उसे वालुकास्वेद कहते हैं । इससे कफसंबन्धी रोग, शिरका दर्द और शरीर में टूटने की सी पीडा आदि रोग दूर होते हैं ।

और यह स्वेद स्रोतोमार्गों को कोमल करके बाहर निकली हुई अग्नि को पुनः अपने स्थान पर स्थापित करके तथा वात–कफ सबन्धी स्तब्धता (जकडाहट) को नष्ट कर ज्वर को दूर कर देता है॥५४४–५४६॥

अथ सैन्धवादिनस्यमाह—

सैन्धवं श्वेतमरिचं सर्षपाः कुष्ठमेव च । बस्तमूत्रेण संपिष्टं नस्यं तन्द्रानिवारणम् ॥ ५४७ ॥

सैन्धवादिनस्य—सेंधा निमक, सहजने का बीज, सरसो और कूठ इन सबों को समान भाग में ले बकरे के मूत्र के साथ अत्यन्त सूक्ष्म पीसकर नस्य (नास) देने से सन्निपातज्वर वाले रोगी की तन्द्रा दूर हो जाती है ॥ ५४७ ॥

***श्वेतमरिचं = शिग्रुबीजम् ॥ ५४७ ॥**

यहा पर "श्वेतमरिचम्" पद का "सहिजने का बीज" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ५४७ ॥

अथ मधूकसारादिनस्यमाह—

मधूकसारसिन्धूत्थवचोषणकणाः समाः । श्लक्ष्णं पिष्ट्वाऽम्भसा नस्यं दद्यात्संज्ञाप्रबोधनम्५४८
मातुलुङ्गार्द्रकरसं कोष्णं त्रिलवणान्वितम् । अन्यद्वा सिद्धिविहितं नस्यं तीक्ष्णं प्रयोजयेत्॥५४९॥
तेन प्रभिद्यते श्लेष्मा प्रभिन्नश्च प्रसिच्यते । शिरोहृदयकण्ठास्यपार्श्वरुक् चोपशाम्यति ॥५५०॥
मोहामयेन मुग्धं बोधयितुं यादृशः शक्तः । कल्पतरुनामधेयो रसो न तादृक् परं किञ्चित्॥५५१॥

मधूकसारादिनस्य—महुये का सार, सेंधा निमक, बच, काली मिर्च, पीपल इन सबों को समान भाग में लेकर जल के साथ अत्यन्त सूक्ष्म पीस कर नस्य देने से सन्निपात ज्वर वाले रोगी को संज्ञा (होश) हो जाती है ।

और बिजौरा नीबू तथा अदरख का रस किंचिद् गर्म करके उसमें तीनों निमक (सेंधा निमक, बिरिया सोंचर निमक तथा कचिया निमक) का सूक्ष्म चूर्ण मिलाकर नस्य देना चाहिये । अथवा सिद्धिस्थान में कहे हुये किसी तीक्ष्ण नस्य का प्रयोग करें । इन नस्यों के प्रयोग से कफ का भेदन होता है जिससे कि वह पतला होकर मुख, नासिका आदि के द्वारा बाहर निकल जाता है, और शिर, हृदय, कण्ठ, मुख तथा पसुलियों की पीडा शान्त होती है ।

और मोहरूपी रोग से मोह को प्राप्त हुए मनुष्य को होश में लाने के लिये (१)"कल्पतरु" नामक

---

(१) कल्पतरु रस १ रत्ती की मात्रा में अदरख के स्वरस के साथ १–१ घंटे पर देना चाहिये ।

रस जैसा समर्थ होता है वैसा अन्य कोई औषध नहीं होता है ॥ ५४८–५५१ ॥

अथ निष्ठीवनमाह—

जिह्वातालुगलक्लोम मरुत्पित्तेन दूषितम् । तदा सञ्जारयेच्छोषं जिह्वाविरसतां तथा ॥ ५५२ ॥
स्फुटनञ्च तदा जिह्वां लेपयेन्मधुपिष्टया । द्राक्षया साज्यया तेन जिह्वास्यात्सरसा मृदुः॥५५३॥
आर्द्रकस्वरसोपेत सैन्धव कटुकत्रयम् । आकण्ठाद्धारयेदास्ये निष्ठीवेच्च पुनः पुनः ॥ ५५४ ॥
तेनास्यतालुकोष्ठांसमन्यापार्श्वशिरोगलात् । लीनोऽप्याकृष्यते श्लेष्मा लाघवं चास्य जायते५५५
पर्वभेदो ज्वरो मूर्च्छानिद्राश्वासगलामयाः । मुखाक्षिगौरवं जाड्यमुत्क्लेशश्चोपशाम्यति ॥५५६॥
सकृद्द्वित्रिश्चतुष्कुर्याद् दृष्ट्वा दोषबलाबलम् । एतद्धि परमं प्राहुर्भेषजं सन्निपातिनाम् ॥५५७॥

निष्ठीवन की विधि—सनिपात ज्वर में वात तथा पित्त से जब रोगी की जिह्वा, तालु, गला और क्लोम (पिपासा-स्थान) दूषित हो जाता है तब शोष और जीभ में विरसता हो जाती है तथा जीभ फटने लगती है । उस समय दाख को मधु के साथ पीस कर उसमें गौ का घी मिलाकर जीभ पर लेप करना चाहिये, इससे जीभ सरस तथा कोमल हो जाती है ।

अदरख के रस में सेंधा निमक, सोंठ, पीपर, काली मिर्च का सूक्ष्म चूर्ण समान भाग में मिलाकर मुख में गले तक भर लेवे और धीरे २ बारबार थूकता रहै, इसी को निष्ठीवन कहते हैं । इससे मुख, तालु, कोष्ठ, कन्धा, मन्या (नाड), पसुली, शिर तथा गले मे छिपा हुआ भी कफ खिचकर बाहर निकल आता है और शरीर हलका हो जाता है । एवम् पोरों मे दर्द, ज्वर, मूर्च्छा, निद्रा, श्वास, गले के रोग, मुख तथा नेत्रों की गुरुता, जडता और उत्क्लेश (वमन की बारबार इच्छा होना) ये सब शान्त हो जाते हैं । दोषों के बलाबल का विचार करके योग्यताऽनुसार एक, दो, तीन या चार बार तक यह निष्ठीवन कर्म कराना चाहिये, क्योंकि यह सनिपात ज्वर वाले रोगियों के लिये प्रधान औषध है, ऐसा विद्वानों ने कहा है ॥ ५५२–५५७ ॥

इति कवलग्रहः ।

अथावलेहः ।

अथाष्टाङ्गावलेहमाह—

कट्फलं पौष्करं श्रृङ्गी व्योषं यासश्च कारवी । श्लक्ष्ण चूर्णीकृतं चैतन्मधुना सह लेहयेत्॥५५८॥
एषाऽवलेहिका हन्ति सन्निपातं सुदारुणम् । हिक्कां श्वासं च कासञ्च कण्ठरोगञ्च नाशयेत् ।
एतद्योज्यं कफोद्रेके चूर्णमार्द्रकजैः रसैः ॥ ५५९ ॥

अवलेहविधि में अष्टाङ्गावलेह बनाने की विधि—कायफल, पुहकरमूल, काकडाशिङ्गी, सोंठ, पीपर, मिर्च, जवासा, मगरैला इन सबों को समान भाग में लेकर सूक्ष्म चूर्ण बनाकर मधु के साथ चाटना चाहिये । इसमें आठ ओषधियों का योग है अतः इसे अष्टाङ्गावलेह कहते हैं । यह अवलेह अत्यन्त दारुण भी सन्निपात ज्वर को दूर करता हे और हिचकी, श्वास, खांसी तथा कण्ठसम्बन्धी रोगों को नष्ट करता है । और यदि सनिपात ज्वर में कफ की अधिक प्रबलता हो तो इस (१) चूर्ण को अदरख के रस के साथ चाटना चाहिये ॥ ५५८–५५९ ॥

***पौष्कर = पुष्करमूलं, तदलाभे कुष्ठं देयम् । श्रृङ्गी = कर्कटश्रृङ्गी । व्योषं = शुण्ठीपिप्पलीमरिचानि । यासो = यवासः; केचिद्यासस्थाने यवानीं प्रतिपन्ति । कारवी = "मगरैला" इति लोके ॥ ५५८–५५९ ॥**

यहां पर "पौष्कर" पद से "पुहकरमूल" लिया गया है और यदि यह न मिले तो इसके स्थान पर "कूठ" लेना चाहिये । "श्रृङ्गी" पद का "काकडाशिंगी" । "व्योष" पद का "सोंठ, पीपर, काली मिर्च" । "यास" पद का "जवासा" अर्थ समझना चाहिये । और कोई २ वैद्य जवासा के स्थान पर "जवाइन" का प्रयोग करते हैं । "कारवी" पद का लोकप्रसिद्ध "मंगरैला" अर्थ समझना चाहिये ॥

तन्त्रान्तरे चोक्तम्—

अष्टाङ्गं मधुना लिह्यादार्द्रकस्य रसेन वा । सम्मोहं दारुणं हन्यात्तन्द्राकाससमन्वितम् ॥५६०॥

तन्त्रान्तर में भी कहा हुआ है कि—अष्टाङ्गावलेह को मधु अथवा अदरख के रस के साथ चाटना

---

(१) इसे ६ से ९ मासे की मात्रा में आवश्यक अनुपान के साथ देना चाहिये ।

चाहिये, इससे तन्द्रा और खांसी से युक्त भयङ्कर मोह (मूर्च्छा) दूर हो जाता है ॥ ५६० ॥

सर्वेषु सन्निपातेषु न क्षौद्रमवचारयेत् । शीतोपचारि क्षौद्रं स्याच्छीतं चात्र विरुद्ध्यते ॥ ५६१ ॥

सभी सन्निपातज्वरों में मधु का प्रयोग नहीं करना चाहिये, क्योंकि मधु शीतोपचारी होता है अर्थात् मधु का प्रयोग करने के बाद शीतोपचार किया जाता है और शीतोपचार का सन्निपात के साथ घोर विरोध है । अतः मधुप्रयोग वर्जित है ॥ ५६१ ॥

***शीतेनोपचारोऽस्यास्तीति शीतोपचारि शीतञ्चात्र सन्निपातेन विरुद्ध्यते । सन्निपातज्वरेषु श्लेष्मनिग्रहार्थं सर्वदा स्वेदो हितः । तत्राग्निसम्बन्धेन देहस्योष्णता तिष्ठति । उष्णेन मधुना विरोधः । उक्तञ्च सुश्रुतेन—**

***उष्णैर्विरुद्ध्यते सर्वं विषान्वयतया मधु । उष्णार्त्तमुष्णैरुष्णञ्च तन्निहन्ति यथा विषम् ॥९७॥ इति**

यहां पर "शीतोपचारि" पद का "शीत से उपचार है जिसका" ऐसा अर्थ करने से उक्त पद मधु का विशेषण होता है । अत एव मधु प्रयोग करने के बाद शीतल उपचार किया जाता है और शीत का सन्निपात के साथ विरोध रहता है । अतः मधुप्रयोग करने का वर्जन करना उचित समझना चाहिये सन्निपात ज्वरों में कफ का शमन करने के लिये सर्वदा स्वेद देना हितकर होता है, और स्वेद देने में अग्नि का सम्बन्ध रहने से शरीर में उष्णता विशेष रूप से बनी रहती है, तथा उष्ण से मधु का विरोध रहता है । और इसी विषय में सुश्रुत ने भी कहा है कि—विषैले पुष्पों से भी मधु बनता है अत एव विष का सम्बन्ध रहने से सभी मधु का उष्ण के साथ विरोध रहता है अत एव उष्णता से पीडित व्यक्ति को उष्ण पदार्थ के साथ मधु खाने के लिये देना अथवा उष्ण करके मधु खाने को देना, दोनों ही अवस्था में मधु विषतुल्य होकर खाने वाले को मार डालता है ॥ ९७ ॥

***अवलेहः प्रायेणोर्ध्वजत्रुगतरोगहरत्वात्सायमुपयुज्यते । यत उक्तं चरकेण—**

***ऊर्ध्वजत्रुगदघ्नी या सा सायमवलेहिका ।**
अधोरोगहरी या सा भोजनात्प्राक्प्रयुज्यते ॥(९८) इति ॥ ५६१ ॥

यह अवलेह प्रायः करके गले के ऊपर के रोगों को दूर करने वाला होता है अत सायंकाल को इसका प्रयोग करना चाहिये, क्योंकि चरक ने भी कहा है कि—जो अवलेह गले के ऊपर के रोगों को दूर करने वाला हो उसे सायंकाल को चाटना चाहिये । और जो गले के नीचे के रोगों को दूर करने वाला हो उसे भोजन से पहले चाटना चाहिये (९८) ॥ ५६१ ॥

अथ चतुरङ्गावलेहमाह—

स्विन्नमामलकं पिष्ट्वा द्राक्षया सह मेलयेत् ।
विश्वभेषजसंयुक्तं मधुना सह लेहयेत् । तेनास्य शाम्यति श्वासः कासो मूर्च्छाऽरुचिस्तथा ॥५६२॥

चतुरङ्गावलेह—उबाले हुये आमलों के साथ सम भाग में दाख मिलाकर दोनों को उत्तम रीति से पीसकर सोंठ का चूर्ण मिलावे पश्चात् मधु के साथ चटावे तो इससे श्वास, खांसी, मूर्च्छा तथा अरुचि शान्त हो जाती है । इसमें चार पदार्थों का योग है अतः इसे चतुरङ्गावलेह(१) कहते हैं ॥ ५६२ ॥

अथाञ्जनम् ।

तत्र शिरीषबीजाद्यञ्जनमाह—

शिरीषबीज गोमूत्रकृष्णामरिचसैन्धवैः । अञ्जनं स्यात्प्रबोधाय सरसोनशिलावचैः ॥ ५६३ ॥

अञ्जनकर्म में प्रथम शिरीषबीजाद्यञ्जन की विधि—सहिजने का बीज, पीपल, काली मिर्च, सेंधा निमक, लहसुन, मैनशिल तथा वच इन सबों को समान भाग में लेकर गोमूत्र के साथ उत्तम रीति से पीसकर सन्निपात ज्वर वाले रोगी को होश में लाने के लिये अञ्जन देना चाहिये अर्थात् उसके आंखों में अञ्जन की भांति लगा देना चाहिये ॥ ५६३ ॥

अथ लोहचूर्णाद्यञ्जनमाह—

अयोरजः श्वेतलोध्रं मरिचं चाञ्जनं तथा । गोमूत्रेण समायुक्तं तन्द्रानाशनमुत्तमम् ॥ ५६४ ॥

लोहचूर्णाद्यञ्जन—लोहे का चूर्ण, सफेद लोध, काली मिर्च, रसवत इन सबों को गोमूत्र के साथ सूक्ष्म पीस कर अञ्जन करने से सन्निपात ज्वर वाले रोगी की तन्द्रा भली भांति दूर हो जाती है ॥५६४॥

---

(१) आंवला उबाला हुआ ६ तोला, मुनक्का काला ६ तोला इनको पहले पीसकर फिर उसमें सोंठ ६ तोला मिलावे । इसे ६ माशे से १ तोले तक बलाबल के अनुसार मधु से चटाना चाहिये ।

अथ दण्डपाण्युक्ताञ्जनमाह—

अञ्जनं सम्यगारब्धं मधुसिन्धुशिलोषणैः । प्रमोहघ्नोऽहि भवति भाषितं दण्डपाणिना ॥ ५६५ ॥

दण्डपाणि कथित अञ्जन—मधु, सेंधा निमक, मैनसिल तथा काली मिर्चें इन सबों को एकत्र अतिसूक्ष्म पीसकर अञ्जन लगाने से अत्युग्र मोह (बेहोशी) को दूर करता है । यह दण्डपाणि आचार्य का कहा हुआ है ॥ ५६५ ॥

इत्यञ्जनम् ।

अथ लेपमाह—

सूतं विषञ्च मरिचं तुत्थकं नवसादरम् । चूर्णितं स्वरसैर्मर्द्यं धूर्तपत्ररसोनयोः ॥ ५६६ ॥
सन्निपातकृते मोहे मूर्ध्नि लिम्पेत्पदोपरि । अस्थिव्यथास्वनेनैव लेपं कुर्यात्पदोपरि ॥ ५६७ ॥

लेप की विधि—सन्निपात ज्वर से यदि मोह (बेहोशी) हो तो पारा, वत्सनाभ विष, काली मिरच, तूतिया और नवसादर इन सबों का समान भाग मे चूर्ण लेकर धतूर के पत्तों तथा लहसुन के स्वरस के साथ भली भांति मर्दन करके रोगी के शिर के ऊपर मध्यभाग का बाल बनवाकर लेप करना चाहिये तथा पैरों पर भी इसी का लेप करना चाहिये। और हड्डियों में यदि पीडा होतीहो तो पीडास्थल पर पाच्छ लगवाकर उसी के ऊपर इसी लेप का प्रयोग करना चाहिये ॥ ५६६–५६७ ॥

पदं = "पाच्छ" इति लोके ॥ ५६६–५६७ ॥

यहापर "पद" शब्द का लोकप्रसिद्ध पाच्छ अर्थ भी किया गया है" यह और समझ लेना चाहिये ॥ ५६६–५६७ ॥

अथ दशमूलक्काथमाह—

बिल्वः श्योनाकगाम्भारीपाटलागणिकारिकाः । पित्तघ्नं वातकफहृत्पञ्चमूलमिदं महत् ॥५६८॥

दशमूल क्काथ—बेल, सोनापाठा, खम्मारि, पाढल और अरणी इन पाचों के समूह को बृहत्पञ्चमूल कहते हैं । यह पित्तनाशक तथा वात–कफ को दूर करने वाला होता है।(१) ॥ ५६८ ॥

अत्र बिल्वादीनां पञ्चानां मूलस्य वल्कलं ग्राह्यम् ॥ ५६८ ॥

यहा पर यह और समझ लेना चाहिये कि—बेल आदिक पांचो वृक्षों के जड का छिल्का लेना चाहिये ॥ ५६८ ॥

शालिपर्णी पृश्निपर्णी बृहती कण्टकारिका । गोक्षुरुर्वातपित्तघ्नं कनीयः पञ्चमूलकम् ॥ ५६९ ॥
उभयं दशमूलं तत्पिप्पलीचूर्णसंयुतम् । सन्निपातज्वरं हन्ति हृत्कण्ठग्रहनाशनम् ॥ ५७० ॥
तन्द्रावातकफातङ्कश्वासपार्श्वार्त्तिकासनुत् ॥ ५७१ ॥
महान्ति यानि मूलानि काष्ठगर्भाणि यानि च । तेषान्तु वल्कलं ग्राह्यं ह्रस्वमूलानि कृत्स्नशः ॥५७२॥

शालिपर्णी, पृश्निपर्णी, बडी कटेरी, छोटी कटेरी तथा गोखरू इन पांचों के समूह को लघु(२)पञ्चमूल कहते हैं । यह वातपित्तनाशक होता है ।

और बृहत् तथा लघु ये दोनों पञ्चमूल मिलकर दशमूल कहलाते हैं । इस (३) दशमूल के क्काथ में यदि पीपल का चूर्ण प्रक्षेप की मात्रा मे मिलाकर सन्निपात ज्वर वाले रोगी को दिया जाय तो उसका ज्वर नष्ट हो जाता है, तथा हृदय और कण्ठ की पीडा, तन्द्रा, वात–कफसम्बन्धी रोग, श्वास, पसुलियों की पीडा और खासी ये सब भी दूर होते हैं ।

परिभाषा—दशमूल की ओषधियों मे जिन के मूल बडे हों या जिनके मूल के अन्दर काष्ठभाग अधिक हों उनके काष्ठ भाग को छोड कर केवल छिल्कों का ही ग्रहण करना चाहिये । और जिनके मूल छोटे २ हों उनका सर्वाङ्ग लेना चाहिये ॥ ५६९–५७२ ॥

---

(१) बृहत्पञ्चमूल की औषधों को मिलाकर ४ तोले लेकर अधकुटकर आध सेर जल में मिट्टी के नवीन पात्र (हडी) में औटावे, जब आधा छटाक रह जाय तब उतार छान कर प्रयोग करे ।

(२) शालिपर्णी आदि को पृथक् पृथक् १–१ तोले लेकर अधकुट करके आध सेर जल में पकाकर आध छटाक रहने पर उतार ले । इसका आवश्यकतानुसार प्रयोग करे ।

(३) दशमूल की ओषधियां मिलित ५ तोले लेकर विधिवत् क्काथ बनाकर, पिप्पलीचूर्ण ६ रत्ती मिलाकर सेवन कराना चाहिये ।

अथ द्वादशाङ्गक्वाथमाह—

दशमूलीकषायस्तु पिप्पलीपौष्करान्वितः। सन्निपातज्वरे देयः श्वासकाससमन्विते ॥५७३॥

द्वादशाङ्ग क्वाथ—श्वास तथा खांसी युक्त सन्निपातज्वर में रोगी को दशमूल के क्वाथ में पीपल तथा पुष्करमूल के चूर्ण का प्रक्षेप कर (१) पिलाना हितकर होता है। इस में १२ औषधियों का योग होने से यह द्वादशाङ्ग क्वाथ कहलाता है ॥ ५७३ ॥

अथ चतुर्दशाङ्गक्वाथमाह—

चिरज्वरे वातकफोल्बणे वा त्रिदोषजे वा दशमूलमिश्रः।
किराततिक्तादिगणः प्रयोज्यः शुद्ध्यर्थिने वा त्रिवृताविमिश्रः ॥ ५७४ ॥

चतुर्दशाङ्ग क्वाथ—पुराने ज्वर में या वातकफोल्बण ज्वर या त्रिदोषज ज्वर में रोगी को दशमूल के साथ किराततिक्तादिगणोक्त औषधियों का योग कर क्वाथ(२) बनाकर पिलाना चाहिये और यदि विरेचन द्वारा शोधन करना चाहें तो निसोथ का चूर्ण भी मिलाकर उक्त क्वाथ को पिलाना चाहिये ॥५७४॥

अथ किराततिक्तादिगणमाह—

किराततिक्तको मुस्तं गुडूची विश्वभेषजम्। किरातादिर्गणो ह्येष चातुर्भद्रकमित्यपि ॥ ५७५ ॥

किराततिक्तादिगण—चिरायता, नागरमोथा, गिलोय, सोंठ इन चारों के योग को किराततिक्तादि या किरातादि गण अथवा चातुर्भद्रक कहते हैं ॥ ५७५ ॥

अथाष्टादशाङ्गक्वाथमाह—

दशमूली शटी शृङ्गी पौष्करं सदुरालभम्। भार्गी कुटजबीजञ्च पटोलं कटुरोहिणी ॥ ५७६ ॥
अष्टादशाङ्ग इत्येष सन्निपातज्वरापहः। कासहृद्ग्रहपार्श्वार्त्तिश्वासहिक्कावमीहरः ॥ ५७७ ॥

अष्टादशाङ्गक्वाथ—दशमूल के दश द्रव्यों में कचूर, काकड़ासिंगी, पुष्करमूल, धमासा, भारङ्गी, इन्द्रजौ, परवल के पत्ते और कुटकी इन आठ द्रव्यों को मिलाने से अठारह द्रव्य होते हैं अतः इनके क्वाथ को अष्टादशाङ्ग क्वाथ कहते हैं। यह क्वाथ सन्निपात ज्वर को दूर करने वाला तथा खांसी, हृदय का अवरोध, पसुलियों की पीडा, श्वास, हिचकी और वमन को नष्ट करने वाला होता है(३) ५७६-५७७

अथ द्वितीयाष्टादशाङ्गक्वाथमाह—

भूनिम्बदारुदशमूलमहौषधाब्द-तिक्तेन्द्रबीजधनिकेभकणाकषायः।
तन्द्राप्रलापकसनारुचिदाहमोह-श्वासत्रिदोषजनितज्वरनाशनः स्यात् ॥ ५७८ ॥

द्वितीय अष्टादशाङ्गक्वाथ—चिरायता, देवदारु, दशमूल के १० द्रव्य, सोंठ, नागरमोथा, कुटकी, इन्द्रजौ, धनिया तथा गजपीपल इन १८ अट्ठारह औषधियों के समूह को भी अष्टादशाङ्ग कहते हैं। इसका क्वाथ सन्निपात ज्वर वाले रोगी की तन्द्रा, प्रलाप, खांसी, अरुचि, दाह, मोह, श्वास तथा ज्वर को दूर करता है (४) ॥ ५७८ ॥

*उक्तं च वङ्गसेनेन—

"अष्टदशाङ्ग इत्येष मृत्युकल्पं ज्वरं जयेत्" ॥ ९९ ॥ इति ॥ ५७८ ॥

यहां पर यह और समझ लेना चाहिये कि—इसके विषय में वङ्गसेन ने यह कहा है कि—यह अष्टादशाङ्ग क्वाथ मृत्युकल्प (भयङ्कर सन्निपात) ज्वर को दूर करने वाला होता है (९९) ॥५७८॥

अथ सन्निपातज्वरे रसाः।

तत्र मृतसञ्जीवनीवटिकामाह—

(सन्निपातज्वरे रसप्रदीपे)

विषं त्रिकटुकं गन्धं टङ्कणं मृतशुल्बकम्। धत्तूरस्य च बीजानि हिङ्गुलं नवमं स्मृतम् ॥५७९॥
एतानि समभागानि दिनैकं विजयाद्रवैः। मर्दयेच्चणकाकारा कर्त्तव्या वटिकाऽथ सा ॥ ५८० ॥

---

(१) पीपल तथा पोहकरमूल का मिलित चूर्ण १ माशे प्रक्षेप करना चाहिये।

(२) किराततिक्तादि गण तथा दशमूल की औषधों के मिले हुये चूर्ण को ४ तोले लेकर विधिवत् क्वाथ करें। विरेचन की आवश्यकता हो तो इसमें निशोथ का चूर्ण २ माशे मिला देना चाहिये।

(३) क्वाथ्यद्रव्य (दशमूलादि) ४ तोले, पाकार्थ जल आध सेर, अवशेष आध छटाक छान कर पिलाना चाहिये।

(४) चिरायता आदि द्रव्यों को मिलाकर १ छटाक लेकर आधसेर जल में विधिवत् क्वाथ तैयार करें।

चणकीवोऽनुपातव्यो रविमूलकषायकः। मृतसञ्जीवनी नाम्ना सन्निपातज्वरान्तकृत् ॥५८१॥

संनि पात ज्वर में रसप्रदीपोक्त मृतसंजीवनी वटिका—शुद्ध वत्सनाभ विष, सोंठ, पीपर, मरिच, शुद्ध गन्धक, सुहागा का फूला, ताम्बे की भस्म, धतूरे के बीज और सिंगरफ इन ९ द्रव्यों को समान भाग में लेकर एक दिन तक आक के रस के साथ मर्दन करें, चने के बराबर गोली बनाकर आक की जड़ के क्वाथ के साथ १ गोली खिलानी चाहिये। इसका नाम मृतसञ्जीवनीरस है। यह संनिपात ज्वर को दूर करता है (१) ॥ ५७९–५८१ ॥

अथ त्रिनेत्ररसमाह (सन्निपातज्वरे रसप्रदीपे)—

शुद्धसूतं समं गन्धं सूतांशं मृतताम्रकम्। त्रिभिस्तुल्यैर्गवां क्षीरैर्मर्दयेदातपे खरे ॥ ५८२ ॥
मर्दयेद्दिनमेकन्तु निर्गुण्डीशिग्रुजद्रवैः। विभाव्य गोलकं तं गोलमन्धमूषागतं पचेत् ॥ ५८३ ॥
त्रियामं वालुकायन्त्रे सम्यः स्वस्थे विचूर्णयेत्। अष्टमांशं क्षिपेत्तत्र विषेणैनापि मर्दयेत् ॥५८४॥
त्रिनेत्राख्यो रसो ह्येष देयो गुञ्जाद्वयोन्मितः। पञ्चकोलकषायेण छागीदुग्धेन वा सह ॥ ५८५ ॥
रसेनानेन शुक्तेन सन्निपातज्वरो महान्। संक्षयं व्रजति क्षिप्रं कर्त्तव्यो नात्र संशयः ॥ ५८६ ॥

सन्निपात ज्वर में रसप्रदीपोक्त त्रिनेत्ररस—शुद्ध पारा, शुद्ध गन्धक और ताम्बे की भस्म इन तीनों द्रव्यों को समान भाग में लेकर और इन सबों के बराबर गौ के दूध के साथ तीव्र धूप में रखकर खरल करे। उसके बाद सम्हालू तथा सहिजन के रस के साथ एक दिन तक पुनः खरल करके गोला बना कर अन्धमूषा में बन्द कर यथाविधि तीन प्रहर तक वालुकायन्त्र के अन्दर पकावे, पश्चात् स्वाङ्गशीतल हो जाने पर अन्धमूषा में से निकाल कर खल में रखकर सूक्ष्मचूर्ण कर डाले और उसमें आठवां भाग शुद्ध वत्सनाभ विष डाल कर पुनः खरल करें। इसको वैद्य लोग त्रिनेत्ररस कहते हैं। इसकी मात्रा दो रत्ती के बराबर की है। और पञ्चकोल (पीपल, पिपरामूल, चव्य, चीता और सोंठ) के क्वाथ अथवा बकरी के दूध के साथ इस रस का सेवन करने से भयङ्कर भी सन्निपात ज्वर शीघ्र दूर होता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है (२) ॥ ५८२–५८६ ॥

अथ रसेन्द्रचिन्तामण्युक्तभस्मेश्वररसमाह—

भस्म षोडशनिष्कं स्याद्वन्योपलसम्भवम्। मरिचं निष्कमात्रञ्च विषं निष्कं विचूर्णयेत् ॥५८७॥
रसो भस्मेश्वरो नाम सन्निपातज्वरान्तकृत्। एककुञ्जमितो भक्ष्य आर्द्रकस्य द्रवेण हि ॥५८८॥

रसेन्द्रचिन्तामणि में कहा हुआ भस्मेश्वर रस—जङ्गली गौ के सूखे गोबरों (बिनुआ कण्डों) की भस्म सोलह १६ निष्क, काली मिरच १ निष्क, शुद्ध वत्सनाभ १ निष्क इन सबों को एकत्र कर भली भांति खरल करें, यह भस्मेश्वर नामक रस है। इसकी १ एक रत्ती की मात्रा होती है। यह अदरख के रस के साथ खाने से सन्निपातज्वर को दूर करने वाला होता है ॥ ५८७–५८८ ॥

अथाग्निकुमाररसमाह—

द्वौ कर्षौ सूतकाद् ग्राह्यौ गन्धकाद् द्वौ तथैव च। खलतस्तूभयं मर्द्यं दिनं हंसपदीद्रवैः ॥५८९॥
कल्कस्य वटिकां कृत्वा निक्षिपेत्काचभाजने। कर्षकममृतं तत्र क्षिप्त्वा वक्त्रं निरोधयेत् ॥५९०॥
कूपिकायाः परो भागो वालुकाभिश्च पूरयेत्। सार्द्धं यावदहोरात्रं तावत्तत्र पचेद्रसम् ॥ ५९१ ॥
याममात्रोऽनलो देयः स्वाङ्गशीतं समुद्धरेत्। तोलार्द्धममृतं तत्र क्षिपेत्तावत्तथोषणम् ॥ ५९२ ॥
भक्षितो रक्तिकामात्रो रसस्त्वग्निकुमारकः। सन्निपातज्वरं हन्याद्धातं मन्दाग्नितामपि ॥५९३॥
शूलञ्च ग्रहणीं गुल्मं क्षयं जयुगदं तथा। श्वासकासादिकान्सर्वान् गदानेष विनाशयेत् ॥५९४॥

अग्निकुमार रस—शुद्ध पारा २ दो तोले और शुद्ध गन्धक २ तोले लेकर दोनों को लजालू के रस में एकत्र रख एक दिन तक खूब खरल करें, पश्चात् गोला बनाकर कांच की आतसी शीशी में रखकर ऊपर से एक तोला शुद्ध मीठा विष डालकर शीशी का मुख बन्द कर लेवें। उसके बाद एक दूसरे मिट्टी के पात्र में उक्त शीशी को रख कर उसके गले तक चारों तरफ बालू भर देवें, और डेढ़ दिन तक मन्द आंच से पकाता रहें, बाद को एक प्रहर तक केवल कोयलों पर रखकर उतार लेवें, और जब स्वाङ्गशीतल हो जाय तब शीशी में से निकालकर आधा तोला पुनः शुद्ध मीठा विष और आधा तोला काली मिरच मिलाकर खूब खरल करें, इसी का नाम अग्निकुमार रस है। इसकी मात्रा १ रत्ती

(१) इसकी मात्रा १ से २ रत्ती, अनुपान अर्कमूलक्वाथ वा अदरक का स्वरस।

(२) इसे बलाबल के अनुसार ½ से १½ रत्ती की मात्रा में सेवन कराना चाहिये।

की होती है। इसके सेवन करने से सन्निपात ज्वर, मन्दाग्नि, शूल, संग्रहणी, गुल्म, क्षय, कण्ठ से ऊपर के रोग और श्वास तथा खाँसी आदिक सम्पूर्ण रोग नष्ट हो जाते हैं। इसे आधी रत्ती से १ रत्ती तक देना चाहिये ॥ ५८९–५९४ ॥

ॐइत्यग्निकुमारो रसः सन्निपातज्वरादिषु रसेन्द्रचिन्तामणौ ॥ ५८९–५९४ ॥

यहां पर यह और समझ लेना चाहिये कि– यह अग्निकुमार रस संनिपातज्वर आदिक के लिये रसेन्द्रचिन्तामणि में कहा हुआ है ॥ ५८९–५९४ ॥

अथ पञ्चवक्त्ररसमाह—

गन्धेशटङ्कमरिचं विषं धत्तूरजैर्द्रवैः। दिनं सम्मर्दितं शुष्कं पञ्चवक्त्रो रसो भवेत् ॥ ५९५ ॥
आर्द्रकस्य द्रवेणैष खादयो रक्तिकामितः। सन्निपातज्वरे देयो घोरे तत्क्षोपनाशनः ॥ ५९६ ॥

पञ्चवक्त्ररस—शुद्ध गन्धक, शुद्ध पारा, सुहागा, काली मिरच और शुद्ध विष ये सब समान भाग में लेकर एक दिन तक धतूरे के रस में खरल कर सुखा लेने से पञ्चवक्त्र नामक रस सिद्ध होता है। इसकी रत्तीभर की मात्रा अदरख के रस के साथ देनी चाहिये। इसको भयङ्कर सनिपात ज्वर में देने से भी ज्वर दूर हो जाता है। (आधुनिक मात्रा–२ चावल के बराबर से आधी रत्ती तक) ॥५९५–५९६॥

ॐइति पञ्चवक्त्रो रसः सन्निपाते रसेन्द्रचिन्तामणौ ॥ ५९५–५९६ ॥

यहां पर यह और समझ लेना चाहिये कि—यह पञ्चवक्त्र रस सनिपात ज्वर के लिये रसेन्द्रचिन्तामणि में कहा हुआ है ॥ ५९५–५९६ ॥

अथामृतादिवटीमाह—

अमृतवराटकमरिचैर्द्विपञ्चनवभागयोजितैः रचिता। वटिका मुद्गसमाना कफत्रिदोषाग्निमान्द्यहरी॥

अमृतादिवटी—शुद्ध मीठा विष दो भाग, कौड़ी की भस्म पांच भाग और काली मिरच नौ भाग लेकर इन सबों को एकत्र जल में भली भांति खरल कर मूंग के बराबर २ गोलियां बना डालें। इसके सेवन करने से कफ, त्रिदोष तथा अग्निमान्द्य दूर होता है (१) ॥ ५९७ ॥

अथ शीतज्वरे रसाः।

अथ शीतज्वरारिरसमाह—

सूतकं गन्धकञ्चैव हरितालं मनःशिला। एकनिष्कं द्विनिष्कञ्च चतुर्निष्कं तथैव च ॥ ५९८ ॥
पञ्चनिष्कं रसैः कारवेल्ल्याः सम्यक्प्रकल्पयेत्। ताम्रपत्राणि तुल्यानि तेन कल्केन लेपयेत्॥५९९॥
शरावसम्पुटे तानि कृत्वा तेषामुपर्यपि। दद्यात्तां पिष्टिकां पश्चात्पुटपाकेन पाचयेत् ॥ ६०० ॥
ततः सञ्चूर्णयेच्चैव रसः क्षौद्रेण भक्षितः। यवैकमात्रया हन्ति घोरं शीतज्वरं ध्रुवम् ॥ ६०१ ॥

शीतज्वरारिरस—शुद्ध पारा एक निष्क (टंक), शुद्ध गन्धक दो निष्क, शुद्ध हरताल चार निष्क, शुद्ध मैनसिल पांच निष्क लेकर इन सबों को एकत्र कर करेले के रस में पूर्वोक्त द्रव्यों के कल्क का लेप करके शराव–सम्पुट में रखकर ऊपर से पुनः पूर्वोक्त कल्क और भी रख कर सम्पुट का मुख बन्द कर पुटपाक की रीति से अग्नि में पकावें, सिद्ध होने पर निकाल कर चूर्ण करके एक जौ की मात्रा में मधु से खिलाने से शीतज्वर निश्चय दूर हो जाता है ॥ ५९८–६०१ ॥

ॐपारा टङ्क १। गन्धक टङ्क २। हरिताल टङ्क ४। मनःशिला टङ्क ५। ताम्रपत्र टङ्क १२। इति शीतज्वरारिः। रसप्रदीपे ॥ ५९८–६०१ ॥

यहां पर यह और भी समझ लेना चाहिये कि–पारा १ टङ्क, गन्धक २ टङ्क, हरिताल ४ टङ्क, मैनशिल ५ टङ्क, तामे के पत्र १२ टङ्क लेना चाहिये। और यह शीतज्वरारि रस रसप्रदीप में कहा हुआ है ॥ ५९८–६०१ ॥

अथ शीतकेसरिरसमाह—

(रसप्रदीपे)

पारदं गन्धकञ्चैव तुत्थञ्च दरदं विषम्। विषादष्टगुणं योज्यं मरिचं विश्वभेषजम् ॥ ६०२ ॥
अश्वगन्धाऽथ विजया कासमर्दः कठिल्लकः। चतुर्णाञ्च रसैरेतैश्चूर्णान्येतानि मर्दयेत् ॥ ६०३ ॥
तुलस्यास्तु दलैः सार्द्धं भक्षितो रक्तिकामितः। हन्ति शीतज्वरं घोरं नाम्नाऽयं शीतकेसरी ॥६०४॥

रसप्रदीपोक्त शीतकेसरी रस—शुद्ध पारा १ भाग, शुद्ध गन्धक १ भाग, शुद्ध तूतिया १ भाग, सिंगरफ १ भाग, शुद्ध विष १ भाग, काली मिरच और सोंठ ८ भाग लेकर सबों का चूर्ण कर लेवे

(१) इसे १ से २ रत्ती की मात्रा में अदरख के स्वरस के साथ देना चाहिये ॥

पश्चात् असगन्ध, भांग, कमौदी और करेला इन चारों के रस में क्रम से पृथक् २ उक्त चूर्ण का भली भांति मर्दन करने से शीतकेसरी नामक रस तैयार होता है। इसे १ रत्ती की मात्रा में तुलसी की पत्तियों के साथ खाने से भयङ्कर भी शीतज्वर नष्ट हो जाता है ॥ ६०२–६०४ ॥

अथ शीतभञ्जिरसमाह—

तालकं शुक्तिकाचूर्णं तुल्यं तत्रोभयोरपि। नवमांशश्च तुत्थं स्यान्मर्दयेत्कन्यकाद्रवैः ॥ ६०५ ॥
तत्तु सशुष्कमुपलैर्वन्यैर्गजपुटे पचेत्। शीत तच्चूर्णयेद्दद्याद्गुञ्जामात्रं सितायुतम् ॥ ६०६ ॥
प्रभाते भक्षयेत्तेन याति शीतज्वरः क्षयम्। वान्तिर्भवति कस्यापि कस्यचिन्न भवत्यपि ॥६०७॥

शीतभञ्जी रस–शुद्ध हरताल और सीप का चूर्ण समान भाग में लेकर और इन दोनों के नवें भाग के तुल्य शुद्ध तूतिया लेकर सबों को एकत्र कर घीकुवार के रस के साथ भली भांति मर्दन करै पश्चात् गोला बनाकर सुखा लेवै, फिर उक्त गोले को जंगली उपलों मे गजपुट के अन्दर रखकर पकावै, और तैयार होने पर उतार कर जब स्वांग शीतल हो जाय तब गोले को निकाल कर सूक्ष्म चूर्ण बना लेवै। इसी को शीतभञ्जी रस कहते हैं। इसे आधी रत्ती की मात्रा में साफ शक्कर के साथ प्रातःकाल खिलाने से शीतज्वर नष्ट हो जाता है। और इसके सेवन करने के बाद किसी को वमन हो जाता है और किसी को वमन नहीं भी होता है ॥ ६०५–६०७ ॥

अथ रसेन्द्रचिन्तामण्युक्तशीतभञ्जिरसमाह—

तालकं तुत्थकं ताम्रं सूतगन्धकटङ्कणम्। सर्वमेतत्समं चूर्णं कारवेल्लीरसद्रवैः ॥ ६०८ ॥
दिनैकं मर्दयेत्तेन रसकर्दमकेन तु। ताम्रस्य भाजनस्यान्तर्लिप्येदर्द्धाङ्गुलोन्मितम् ॥ ६०९ ॥
तत्पचेद्वालुकायन्त्रे यथा यावत्स्फुटन्ति हि। शीतलं तद्धि गृह्णीयात्ताम्रपात्रोदरान्भिषक् ॥ ६१० ॥
शीतभञ्जी रसो माषमात्रो मरिचसंयुतः। भक्षितः पर्णखण्डेन नाशयेद्विषमज्वरान् ॥ ६११ ॥

रसेन्द्रचिन्तामणि मे कहा हुआ शीतभञ्जी रस—शुद्ध हरताल, शुद्ध तूतिया, शुद्ध ताम्रपत्र, शुद्ध पारा, शुद्ध गन्धक, शुद्ध सुहागा इन सबों को समान भाग में लेकर चूर्ण बना डाले, पश्चात् करेले के रस के साथ उक्त चूर्ण को एकत्र कर एक दिन तक खरल करै, उसके बाद खरल किये हुए उक्त चूर्ण के कल्क का तामे के पात्र के अन्दर आधे अंगुल तक ऊंचा लेप करके इसे वालुकायन्त्र मे रखकर तब तक पकाना चाहिये कि जब तक बालू के अन्दर रखा हुआ जौ भुन कर फूट न जाय, उसके बाद तैयार होने पर उतार कर रख दे और जब स्वांगशीतल हो जाय तब तामे के पात्र के अन्दर से उक्त कल्क को खुरच कर निकाल ले। यही शीतभञ्जी रस है। इसे एक माशे की मात्रा में लेकर मरिच के चूर्ण के साथ पान में रखकर खिलाने से सभी प्रकार के विषमज्वर नष्ट हो जाते हैं(१) ॥ ६०८–६११ ॥

अथ रसरत्नप्रदीपोक्तशीतभञ्जिरसमाह—

तालको दरदोद्भूतः पारदो गन्धकः शिला। क्रमाद्भागार्द्धरहितं कारवेल्ल्यम्बुमर्दितम् ॥६१२॥
अनेनास्यप्रमाणेन ताम्रपात्रं प्रलेपयेत्। अधोमुखं दृढे भाण्डे तन्निरुध्याथ पूरयेत् ॥ ६१३ ॥
चुल्ल्यां बालुकया यत्नमग्निं प्रज्वालयेद्बुधः। शीत सञ्चूर्ण्य माषोऽस्य नागवल्लीदले स्थितः६१४
भक्षितो मरिचैः सार्द्धं समस्तविषमज्वरान्। शीतदाहादिकान्हन्ति पथ्यं शाल्योदनं पयः ६१५

रसरत्नप्रदीपोक्त शीतभञ्जी रस—शुद्ध हरताल २ भाग, सिंगरफ से निकाला हुआ पारा २ भाग, शुद्ध गन्धक १॥ भाग, शुद्ध मैनसिल १ भाग लेकर सबों को एकत्र कर करेले के रस के साथ भली भांति खरल करके कल्क बना लेवै पश्चात् इसी कल्क का किसी तामे के पात्र के अन्दर लेप करके इसे अन्य मिट्टी के दृढ पात्र के अन्दर औंधा रखकर ऊपर से बालू भर कर चूल्हे पर चढा देवै, और उसके नीचे एक दिन रात अग्नि जलावै, पश्चात् स्वांगशीतल हो जाने पर उतार कर पात्र के अन्दर मे खुरच कर निकाल लेवै, और चूर्ण कर डाले। इसकी मात्रा १ माशा तक की है। और इसे मरिच के चूर्ण के साथ पान मे रख कर खिलाने से शीत, दाहादिक समस्त विषमज्वर नष्ट हो जाते हैं। इसमें पथ्य शालि (अगहनी) धान्य के चावलों का भात और दूध है (२) ॥ ६१२–६१५ ॥

---

(१) आजकल इसे १–२ रत्ती की मात्रा में लेकर ४ रत्ती मरिच के चूर्ण के साथ पान मे रख कर खाना चाहिये।

(२) इसकी १ माशा मात्रा आजकल बहुत अधिक है आधुनिक काल के लिये उपयुक्त मात्रा १ से ३ रत्ती तक है।

*इति शीतभञ्जी रसः, शीतज्वरादिविषमज्वरेषु रसरत्नप्रदीपे ॥ ६१२–६१५ ॥

यहां पर यह और समझना चाहिये कि—यह शीतभञ्जी रस शीतज्वरादिक विषमज्वरों के लिये रसरत्नप्रदीप में कहा हुआ है ॥ ६१२–६१५ ॥

अथ कट्फलादिपानमाह—

कट्फल त्रिफला दारु चन्दनं सपरूपकम् । कटुका पद्मकोशीरं विपचेत्कर्षकं जले ॥६१६ ॥
त्रिदोषदाहतृष्णार्त्तं पानमात्रे प्रपूजितम् । दीर्घकालज्वरार्त्तानामेतत्स्यादमृतोपमम् ॥६१७॥

कट्फलादि पान—कायफल, आँवला, हरड़, बहेड़ा, देवदारु, रक्तचन्दन, फालसे, कुटकी, पद्माख और खस इन सबों को एक तोला भर लेकर जल में पका लेवें । और जिनको बहुत दिनों से ज्वर आता हो उनके लिये यह अमृत के समान गुणकारी होता है, और पीने मात्र से ही त्रिदोष या त्रिदोषजनित दाह तथा प्यास को दूर करने में यह श्रेष्ठ होता है ॥ ६१६–६१७ ॥

*कर्षं कट्फलादुशीरान्तानां समुदितानां जले प्रस्थमिते विपचेदर्द्धशेषं पिबेत् । कट्फलादिपानं तृष्णायां दाहे च ॥ ६१६–६१७ ॥

यहां पर यह और भी समझना चाहिये कि—कायफल से लेकर खस पर्यन्त सम्पूर्ण द्रव्य मिलकर १ तोला भर लेना चाहिये । तथा उसे प्रस्थ (६४ तो०) भर जल में पकावे और जब आधा अवशेष रह जाय तब उतार कर छान लेवें, पीछे शीतल होने पर प्यास तथा दाह में पीने के लिये देवें । इसका नाम कट्फलादि (पानक) पान है ॥ ६१६–६१७ ॥

अथ शीतलजलनिषेधमाह—

सन्निपाते तु दाहार्त्तं यः सिञ्चेच्छीतवारिणा । आतुरः स कथं जीवेद्भिषग्वा स कथं भवेत् ६१८

शीतल जल का निषेध—सन्निपात ज्वर में दाह से पीड़ित होने पर रोगी को जो वैद्य शीतल जल से सींचता है, वह कैसे वैद्य कहा जा सकता है ? और वह रोगी भी कैसे बच सकता है ? अर्थात् उस समय शीतल जल का प्रयोग सर्वथा वर्जित है ॥ ६१८ ॥

*एष सन्निपातिनो दाहे शीताम्बुसेकनिषेधो रुग्दाहादन्यत्र, तत्र वाप्यवगाहनस्योक्तत्वात् ६१८

यहां पर यह और भी समझना चाहिये कि—सन्निपातज्वर वाले रोगी को दाह होने पर जो यह शीतल जल से सींचने का निषेध किया जाता है, वह रुग्दाह नामक संनिपात ज्वर वाले रोगी को छोड़ कर ही समझना चाहिये । क्योंकि रुग्दाह संनिपात ज्वर में दाह से पीड़ित रोगी के लिये तो बावड़ी आदि में घुस कर स्नान करने के लिये कहा ही हुआ है ॥ ६१८ ॥

अथान्नमाह—

दुःस्पर्शगोक्षुरक्षुद्रासिद्धमाहारमर्पयेत् । दोषशान्तिबलाग्न्यर्थं त्रिदोषज्वरिणे भिषक् ॥६१९॥

अन्नदान-विषयक विचार—वैद्य को उचित है कि—सन्निपातज्वर वाले रोगी के लिये दोषों की शान्ति तथा बल और जठराग्नि बढ़ाने के निमित्त जवासा, गोखरू और छोटी कण्टकारी के क्वाथ द्वारा सिद्ध किया हुआ उचित अन्न पेया आदिक अवश्य देना चाहिये(१) ॥ ६१९ ॥

*दुःस्पर्शो = यवासः । आहारम् = उचितमन्नम् ॥ ६१९ ॥

यहां पर "दुःस्पर्श" पद का "जवासा" तथा "आहार" पद का "उचित अन्न" अर्थ समझना चाहिये ॥ ६१९ ॥

लाजसक्तून्समश्नीयात्सैन्धवेन समन्वितान् । ते च जीर्यन्त्यविघ्नेन ज्वरी जीवेत्तदा ध्रुवम् ६२०

और धान के खीलों का सत्तू, सेंधा निमक के साथ खाने के लिये, देना चाहिये क्योंकि यह निर्विघ्न (शीघ्रता से) पच जाता है, और रोगी भी उस समय इसके पच जाने से जीवन लाभ कर लेता है६२०

*इति केचित् ॥ ६२० ॥

यहां पर यह और भी समझ लेना चाहिये कि—अन्न देने के विषय में यह मत किसी २ वैद्यों का है सर्वसम्मत नहीं है ॥ ६२० ॥

रक्तपित्तहितत्वेन तृषादाहज्वरेषु च । लाजानां सक्तवः शीता नैव तेऽत्र हिता मताः ॥ ६२१ ॥
पाचनो दीपनः स्वेद्यो लाजमण्डो यतः स्मृतः । दशमूलादिससिद्धः सन्निपातज्वरे हितः ॥६२२

---

(१) जवासा आदि द्रव्यों को मिलाकर १ कर्ष लेवें । इसे १ प्रस्थ (६४ तोले द्रव द्वैगुण्य नियम से १२८तोले) जल लेकर क्वाथ बनावें,आधा शेष रहने पर उतार लेवें। इसी जलमें पेया आदिका पाक करें।

सन्निपातज्वरी यस्तु कम्पते प्रलपत्यपि। किञ्चिदेव न जानाति चिकित्सा तस्य कथ्यते॥६२३॥
अभ्यञ्जयेत्पुराणेन सर्पिषा पूर्वमेव तम्। बलारास्नागुडूच्याद्यैस्तैलैश्च परिषेचयेत्॥ ६२४॥

और धान के खीलों का सत्तू रक्तपित्त के लिये हितकर होने से प्यास और दाह ज्वर में विशेष रूप से हितकर होता है, अत एव शीतवीर्य होने से यह सनिपात ज्वर में कदापि हितकर नहीं हो सकता है। इसी से यह समझना चाहिये कि धान के खीलों का सत्तू सनिपात ज्वर में देना सर्व वैद्यजनों को अभिमत नहीं है। क्योंकि संनिपातज्वर में तो पसीना लाने वाला और अग्निदीपक ऐसा दशमूलादि क्वाथ से सिद्ध किया हुआ धान के खीलों का मण्ड (मांड) ही पथ्य है ऐसा वैद्यों को अभिमत है।

और जो सनिपात ज्वर वाला रोगी कांपता है, प्रलाप करता है तथा कुछ नहीं जानता है अर्थात् जिसे संज्ञा नहीं है, उसकी चिकित्सा कहते हैं। पहले वैसे रोगी के शरीर में पुराने घी का मालिश करके बलादि, रास्नादि या गुडूच्यादि तैल द्वारा परिषेक (खूब सेचन) करना चाहिये॥६२३-६२४॥

वर्त्तको वर्त्तिका लावो वार्त्तिकस्तित्तिरिः शशः। कुलिङ्गश्च रसेनैषां तर्पयेत यथाऽनलम्॥६२५॥

और रोगी के अग्नि के अनुसार बटेर, बटेरी, लवा, बगेरा, तीतर, खरगोश और कुलिङ्ग (घर में रहने वाली चिड़िया गौरैया) इन सबों में से किसी के मांस का रस (सुरुवा) देकर सन्तर्पण करना चाहिये अर्थात् रोगी की तृप्ति करनी चाहिये॥ ६२५॥

***वर्त्तकः="बटेर" इति लोके। वर्त्तिका="बटेरी" इति लोके। "वार्त्तिको वातचटके"ति निघण्टुः। "बगेरा" इति लोके। कुलिङ्गः="गवरैया" इति लोके॥ ६२५॥**

यहां पर "वर्त्तक" पद का "लोकप्रसिद्ध बटेर"। "वर्त्तिका" पद का "लोकप्रसिद्ध बटेरी"। "वार्त्तिक पद का "लोकप्रसिद्ध बगेरा" अर्थ समझना चाहिये, तथा वार्त्तिक और वातचटका ये दोनों पर्यायवाची शब्द समझना चाहिये। एवम् "कुलिङ्ग" पद का "लोकप्रसिद्ध गवरैया" अर्थ समझना चाहिये॥ ६२५॥

सन्निपाते क्षुधाऽऽर्त्तं यो भोजयेत्पिशितौदनम्। स कथं भिषगाख्यान्तु लभते मनुजाधमः ६२६

सनिपात ज्वर में भूख से व्याकुल रोगी को जो वैद्य मांस तथा भात खिलाता है, वह मनुष्यों में अधम कैसे वैद्य कहला सकता है, अर्थात् जो वैद्य होगा वह ऐसा कभी नहीं करेगा॥ ६२६॥

अथ वातोल्वणसन्निपातज्वरस्य चिकित्सा।

तत्र बृहत्पञ्चमूलीक्वाथमाह—

पञ्चमूलीकषायन्तु दद्याद्वातोल्वणे ज्वरे। भृशोष्णं वा सुखोष्णं वा दृष्ट्वा दोषबलाबलम्॥६२७॥

वातोल्वण सनिपात ज्वर की चिकित्सा में बृहत्पञ्चमूली क्वाथ—बृहत् पञ्चमूली का क्वाथ दोषों के बलाबल का विचार करके अत्यन्त गरम अथवा किंचिद् गर्म रहते हुए वातोल्वण सनिपातज्वर वाले रोगी को देना चाहिये॥ ६२७॥

***पञ्चमूली महती प्रथमोपस्थितपरित्यागे वचनाभावात्॥ ६२७॥**

यहां पर "पञ्चमूली" पद से बृहत्पञ्चमूली" का ग्रहण किया गया है। क्योंकि प्रथम वर्णन इसी का आता है पश्चात् लघुपञ्चमूली का, और जो प्रथम प्राप्त हो उसका परित्याग करने के लिये कोई वचन शास्त्रों में नहीं मिलता है अत प्रथम प्राप्त होने से बृहत्पञ्चमूली का ग्रहण करना संगत ही समझना चाहिये॥ ६२७॥

अथ पित्तोल्वणसन्निपातज्वरस्य चिकित्सा।

तत्र परूषकादिक्वाथमाह—

परूषकश्च त्रिफला देवदारु च कट्फलम्। चन्दनं पद्मकश्चैव तथा कटुकरोहिणी॥ ६२८॥
पृश्निपर्णी शृतं त्वेभिरुषितं शीतलं जलम्। पित्तोत्तरे नृणामेतत्सन्निपातचिकित्सितम्॥ ६२९॥

पित्तोल्वण संनिपात ज्वर की चिकित्सा में परूषकादिक्वाथ—फालसा, आमला, हरड, बहेरा, देवदारु, कायफल, रक्तचन्दन, पद्माख, कुटकी और पृश्निपर्णी इन सबों का क्वाथ(१) बनाकर रात्रि भर पड़ा रहने दे, और दूसरे दिन बासी हो जाने पर छान कर पित्तोल्वण संनिपात ज्वर वाले रोगी

(१) फालसा आदि औषधियां मिलित ४ तोले लेकर दुरकुचाकर आध सेर जल में विधिवत् क्वाथ बनावें।

को पिलाना चाहिये, क्योंकि इसके लिये यह सुन्दर औषधि है ॥ ६२८-६२९ ॥

अथ किरातादिक्वाथमाह—

किराततिक्तं मुस्तं गुडूची विश्वभेषजम्। पाठोदीच्य मृणालञ्च शृतं पित्ताधिके पिबेत् ॥६३०॥

किरातादिक्वाथ—चिरायता, नागरमोथा, गिलोय, सोंठ, पाढ़, सुगन्धवाला और कमल की नाल इन सबों का क्वाथ बनाकर पित्तोल्वण सन्निपात ज्वर में रोगी को पिलाना चाहिये(१) ॥ ६३० ॥

अथ कफोल्वणसन्निपातज्वरस्य चिकित्सा ।

अथ बृहत्यादिकाथमाह—

बृहत्यौ पौष्करं भार्गी शटी शृङ्गी दुरालभा । वत्सकस्य तु बीजानि पटोलं कटुरोहिणी ॥६३१॥
बृहत्यादिगणः शस्तः सन्निपाते कफोत्तरे । श्वासादिषु च सर्वेषु हितः सोपद्रवेष्वपि ॥ ६३२ ॥

कफोल्वण सन्निपात ज्वर की चिकित्सा में बृहत्यादि क्वाथ—बड़ी कण्टकारी, छोटी कण्टकारी, पुष्करमूल, भारगी, कचूर, काकड़ासिंगी, धमासा, इन्द्रजौ, परवल के पत्ते और कुटकी इन्हीं सबों के योग को बृहत्यादि गण कहते हैं। इसका क्वाथ कफोल्वण (कफप्रधान) सन्निपात ज्वर में पिलाना हितकर होता है तथा उपद्रवयुक्त श्वास आदिक रोगों में भी हितकर होता है(२) ॥ ६३१-६३२ ॥

अथ वातपित्तोल्वणसन्निपातज्वरस्य चिकित्सा ।

तत्र लघुपञ्चमूलक्वाथमाह—

वातपित्तहरं वृष्यं कनीयः पञ्चमूलकम् । तत्क्वाथो मधुना हन्ति वातपित्तोल्वणं ज्वरम् ॥६३३॥

वातपित्तोल्वण सन्निपात ज्वर की चिकित्सा में लघुपञ्चमूल क्वाथ—लघुपञ्चमूल की ओषधियाँ वातपित्तनाशक तथा वृष्य (वीर्यवर्धक) होती हैं, अतः इनका क्वाथ बनाकर मधु डालकर पिलाने से वातपित्तोल्वण सन्निपात ज्वर नष्ट होता है ॥ ६३३ ॥

अथ चातुर्भद्रकक्वाथमाह—

किराततिक्तकं मुस्तं गुडूची विश्वभेषजम् । चातुर्भद्रकमित्याहुर्वातपित्तोल्वणे ज्वरे ॥ ६३४ ॥

चातुर्भद्रक क्वाथ—चिरायता, नागरमोथा, गिलोय और सोंठ इन सबों के योग को "चातुर्भद्रक" कहते हैं। इसका क्वाथ वातपित्तोल्वण ज्वर में पिलाना हितकर होता है(३) ॥ ६३४ ॥

अथ पित्तकफोल्वणसन्निपातज्वरस्य चिकित्सा ।

तत्र पर्पटादिक्वाथमाह—

पर्पट. कट्फलं कुष्ठमुशीरं चन्दनं जलम् । नागरं मुस्तकं शृङ्गी पिप्पल्येषां शृतं हितम् ॥
तृष्णादाहाग्निमान्द्येषु पित्तश्लेष्मोल्वणे ज्वरे ॥ ६३५ ॥

पित्तकफोल्वण संनिपातज्वर की चिकित्सा में पर्पटादि क्वाथ—पित्तपापड़ा, कायफल, कूठ, खस, रक्तचन्दन, सुगन्धवाला, सोंठ, नागरमोथा, काकड़ासिंगी और पीपल इन सबों का क्वाथ पित्तकफोल्वण संनिपात ज्वर में रोगी को पिलाना हितकर है। और प्यास, दाह तथा अग्नि की मन्दता में भी विशेष हितकारी है(४) ॥ ६३५ ॥

*वातश्लेष्मोल्वणज्वरे चिकित्सा नोक्ता, तस्य शीघ्रकारित्वेनासाध्यत्वात् ॥ ६३६ ॥

यहां पर यह और भी समझ लेना चाहिये कि—इसके पूर्व में वातकफोल्वण ज्वर की चिकित्सा यद्यपि क्रम प्राप्त थी तथापि जो नहीं लिखी गई उसका कारण यह है कि—शीघ्रकारी होने से वातकफोल्वण सन्निपात ज्वर का रोगी शीघ्र ही असाध्य हो जाता है, अतः चिकित्सा नहीं हो सकती है ॥६३५॥

अथ वातपित्तकफोल्वणसन्निपातज्वरस्य चिकित्सा ।

तत्र योगराजक्वाथमाह—

नागरं धान्यकं भार्गी पद्मकं रक्तचन्दनम् पटोलः पिचुमन्दश्च त्रिफला मधुकं बला ॥ ६३६ ॥

---

(१) चिरायता आदि ओषधियों की मिलित मात्रा ४ तोले, पाकार्थ जल-आध सेर, अवशेष आध छटाक इस प्रकार विधिवत् क्वाथ बनावें ।

(२) कण्टकारी आदि क्वाथ्य द्रव्य ५ तोले दुरकुचाकर आध सेर जल में पकाकर आध छटाक शेष रहने पर उतार लेना चाहिये ।

(३) क्वाथ्य द्रव्य प्रत्येक १-१ तोला, पाकार्थ जल आध सेर लेकर विधिवत् पाक करना चाहिये।

(४) पित्तपापड़ा आदि द्रव्य मिलित ४ तोला लेकर क्वाथ बनावें ।

शर्करा कटुका मुस्तं गजाह्वा व्याधिघातकः । किराततिक्तममृता दशमूली निदिग्धिका ॥६३७॥
योगराजो निहन्त्येष सन्निपात त्रिकोल्वणम् । सन्निपातसमुत्थानं मृत्युमप्यागतं जयेत् ॥६३८॥

वातपित्तकफोल्वण सनिपात ज्वर की चिकित्सा मे योगराज क्वाथ—सोंठ, धनिया, भारगी, पद्माख, रक्तचन्दन, परवल के पत्ते, नीम की छाल, त्रिफला (आमला, हरड, वहेरा), मुलहठी, खिरेटी, मिश्री, कुटकी, नागरमोथा, गजपीपल, अमलतास, किरात (चिरायता), तिक्त (चिरायता,), गिलोय, दशमूल की १० ओषधियों और कटेरी इन सबों के क्वाथ को योगराज कहते हे। यह वातपित्तकफोल्वण सनिपातज्वर को दूर करने वाला होता है। और इससे सनिपात से होने वाली भी मृत्यु टल जाती है(१) ॥ ६३६–६३८ ॥

***गजाह्वा=गजपिप्पली। व्याधिघातकः=राजवृक्षः। किराततिक्तं द्वैगुण्यार्थं पृथक् पठितम् ३३६-६३८**

यहां पर क्वाथ बना लेने के बाद "मिश्री" डालना चाहिये। और "गजाह्वा" पद का "गजपीपल"। "व्याधिघातक" पद का "अमलतास" अर्थ समझना चाहिये। चिरायता के पर्यायवाची शब्द का दो बार प्रयोग किया गया है अतः उसका दो भाग लेना चाहिये और दशमूल के अन्तर्गत कटेरी का पाठ आ जाने पर भी पुनः कटेरी का पाठ आया है अत एव इसका भी दो भाग लेना चाहिये ॥६३६–६३८॥

अथ प्रवृद्धमध्यहीनवातादिसन्निपातज्वराणां चिकित्सा।

प्रवृद्धं कर्शयेद्दोषं क्षीणं संवर्द्धयेद्भिषक् । चिकित्सेयं विधातव्या दोषयोर्वृद्धहीनयोः ॥ ६३९ ॥

प्रवृद्ध–मध्य–हीन वातादि सनिपात ज्वरों की चिकित्सा—वैद्यों को बढे हुये दोष को क्षीण करना चाहिये और क्षीण हुए दोष को बढाना चाहिये। क्योंकि दोषों के बढने तथा घटने पर ऐसी ही चिकित्सा की जानी चाहिये ॥ ६३९ ॥

***अस्यायमर्थः—प्रवृद्धं दोषं कर्शयेत् = तत्क्षैण्यहेतुभिरौषधान्नविहारैः कृशीकृत्य समीकुर्यात्। क्षीणं दोषं संवर्द्धयेत = तद्वृद्धिहेतुभिरौषधान्नविहारैर्वर्धयित्वा समीकुर्यादित्यर्थः ॥६३९॥**

यहां पर "प्रवृद्ध दोष कर्शयेत्–अर्थात् बढे हुए दोष को क्षीण करना चाहिये" इसका अर्थ यह समझना चाहिये कि जो दोष हुआ हो उसको क्षीण करने वाले जो औषध, अन्न तथा विहार (रहन, सहन) हों, उनका सेवन कराने के द्वारा उक्त दोष क्षीण करके समभाव में रखना चाहिये। तथा "क्षीणं दोषं संवर्द्धयेत्—अर्थात् क्षीण हुए दोष को बढाना चाहिये" इसका अर्थ यह समझना चाहिये कि—जो दोष क्षीण हुआ हो उसको बढाने वाले जो औषध, अन्न तथा विहार हों, उनका सेवन कराने के द्वारा उक्त दोष को बढा कर समभाव में करना चाहिये ॥ ६३९ ॥

प्रवृद्धे शमिते दोषे मध्यमः स्वयमेव हि । शान्तिं याति शमं नीतेऽनुबन्ध्ये त्वनुबन्धवत् ॥६४०॥

बढे हुये दोष का शमन होने पर मध्यम वल वाला दोष स्वयं शान्त हो जाता। जैसे अनुवन्ध्य (प्रधान) के शमन होने पर अनुवन्ध (अप्रधान अर्थात् अनुचर) स्वय शान्त होता है ॥ ६४० ॥

***अस्यायमर्थः–वर्षासु वायुरनुबन्ध्यः=सेव्यः, प्रधानमिति यावत्। पित्तश्लेष्माणावनुबन्धौ वायोरनुचरौ। शरदि पित्तमनुबन्ध्यं कफोऽनुबन्धः। वसन्ते कफोऽनुबन्ध्यो वातपित्ते अनुबन्धे। तत्र यथा–अनुबन्ध्ये प्रशमं नीतेऽनुबन्धः स्वयमेव शान्तिं याति, तथा प्रवृद्धे दोषे शमिते=ह्रासयित्वा समीकृते, मध्यमो दोषो हि निश्चयेन स्वयमेव शान्तिं याति=प्रकृतो भवतीत्यर्थः ॥ ६४० ॥**

यहां पर इस श्लोक का अर्थ यह समझना चाहिये कि—वर्षा काल में वायु अनुबन्ध्य अर्थात् सेव्य (प्रधान) होता है और उस समय पित्त तथा कफ अनुबन्ध अर्थात् वायु के अनुचर (अप्रधान) होते हैं। शरद् ऋतुमें पित्त अनुबन्ध्य अर्थात् प्रधान तथा कफ अनुबन्ध (अप्रधान) और वसन्त ऋतुमें कफ अनुबन्ध्य और वात, पित्त अनुबन्ध (अप्रधान) होते हैं। उसमे जैसे अनुबन्ध्य दोष को शान्त कर लेने पर अनुबन्ध दोष विना ओषधि के ही स्वय शान्त हो जाता है। वैसे ही बढे हुये दोष को शान्त कर लेने पर अर्थात् क्षीण करके समान भाव मे कर लेने पर मध्यम दोष निश्चय करके स्वय ही शान्त हो जाता है अर्थात् स्वाभाविक अवस्था को प्राप्त हो जाता है ॥ ६४० ॥

---

(१) सोंठ आदि क्वाथ्य द्रव्य मिलाकर ५ तोले लेकर क्वाथ करना चाहिये।

अथ शीताङ्गादित्रयोदशसन्निपातानां क्रमेण चिकित्सा।

अथ शीताङ्गस्य चिकित्सामाह—

भास्वन्मूल जीरकव्योषभार्गी-व्याघ्रीशुण्ठीपुष्करं गोजलेन।
सिद्धं सद्यः शीतगात्रार्तिमोहश्वासश्लेष्मोद्रेककासांश्छिनत्ति ॥ ६४१ ॥

शीताङ्गादिक १३ सन्निपात ज्वरों की क्रम से चिकित्सा में प्रथम शीताङ्ग का चिकित्सा—आक की जड, जीरा, सोंठ, पीपर, मिर्च, भारङ्गी, कटेरी (कण्टकारी), सोंठ, पुष्करमूल इन सबों को समान भाग में लेकर यथाविधि गोमूत्र के साथ क्वाथ बना कर पिलाने से तत्काल शीताङ्ग ज्वर की पीडा, मोह, श्वास, कफ की अधिकता और खांसी नष्ट हो जाती है (१) ॥ ६४१ ॥

*भास्वन्मूलम् = अर्कमूलम् ॥ ६४१ ॥

यहां पर दो बार सोंठ का उल्लेख होने से सोंठ को दो भाग लेना चाहिये। और "भास्वन्मूलम्" पद का "आक की जड" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ६४१ ॥

कर्कोटिकाकन्दरजःकुलत्थ-कृष्णावचाकट्फलकृष्णजीरैः।
किराततिक्तानलकट्फलाम्बु-पथ्याभिरुद्वर्तनमत्र शस्तम् ॥ ६४२ ॥

खेखसा की जड का चूर्ण, कुलथी, पीपल, वच, कायफल, काला जीरा, चिरायता, चीता, कायफल, सुगन्धवाला और हरड इन सबों का उबटना लगाना शीताङ्गज्वर में हितकर होता है ॥ ६४२ ॥

*कर्कोटिकाकन्दरजः = खेखसामूलरजः ॥ ६४२ ॥

यहां पर "कर्कोटिकाकन्दरजः" पद का "खेखसा के जड का चूर्ण" अर्थ समझना चाहिये ॥६४२॥

रसविषमरिचमहेश प्रियफलभस्मैकभूचतुर्वसुभिः। भागमितमुद्धूलन-मिदमधिकस्वेदशैत्यहरम् ६४३

पारा १ भाग, वत्सनाभ विष १ भाग, काली मिर्च ४ भाग, धतूरा के फल का भस्म ८ भाग इन सबों को एकत्र खरल कर शरीर में मलने से शीताङ्ग ज्वर में अधिक पसीना का निकलना तथा शीत का वेग दूर हो जाता है (२) ॥ ६४३ ॥

अथ तन्द्रिकस्य चिकित्सामाह—

क्षुद्राऽमृतापौष्करनागराणि श्रतानि पीतानि शिवायुतानि।
शुण्ठीकणाऽगस्तिरसोपणानि नस्येन तन्द्राविजयोल्बणानि ॥ ६४४ ॥

तन्द्रिक की चिकित्सा—छोटी कटेरी, गिलोय, पुष्करमूल, सोंठ और हरड इन सबों का क्वाथ पीने से तथा सोंठ, पीपल, अगस्त्य के फूल का रस और काली मिर्च इन सबों को भली भांति सूक्ष्म पीसकर नस्य लेने से प्रबल तन्द्रा का भी नाश हो जाता है ॥ ६४४ ॥

मरिचकचपचम्पचावचारुक्-क्रिमिहरनागरशर्वरीगवाच्यः।
छगलकजलकल्किता नितान्त नसि निहिता ननु तन्द्रिक जयन्ति ॥ ६४५ ॥

काली मिर्च, सुगन्धवाला, दारुहल्दी, कूठ, वायविडङ्ग, सोंठ, हल्दी और इन्द्रायण की जड इन सबों को बकरे के मूत्र के साथ सूक्ष्म पीस कर नाक में डालने से तन्द्रिक सन्निपात को दूर करता है ६४५

*कचः = वालकः। पचम्पचा = दारुहरिद्रा। रुक् = कुष्ठम्। क्रिमिहरः = विडङ्गः। शर्वरी = हरिद्रा। गवाक्षी = इन्द्रवारुणी। नसि = नासिकायाम् ॥ ६४५ ॥

यहां पर "कच" पद का "सुगन्धवाला"। "पचम्पचा" पद का "दारुहल्दी"। "रुक्" पद का "कूठ"। "क्रिमिहर" पद का "वायविडङ्ग"। "शर्वरी" पद का "हल्दी"। "गवाक्षी" पद का "इन्द्रायण की जड"। "नसि" पद का "नाक में" यह अर्थ समझना चाहिये (३) ॥ ६४५ ॥

---

(१) आक की जड आदि द्रव्य मिलित ५ तोले १ सेर जल में पकाकर १ छटाक रहने पर उतार कर प्रयोग करें।

(२) शीताङ्ग सन्निपात में जब अङ्ग ठंडा पड जाये तब बोतल में गरम पानी भर कर अङ्ग पर रखना चाहिये। आजकल रबर के बने हुये थैले (Hot water bags) आते हैं उनमें पानी भर कर अङ्ग को गरम रखना चाहिये तथा मकरध्वज आधी रत्ती की मात्रा से मधु तथा आदी के स्वरस के साथ देना चाहिये।

(३) नौसादर तथा चूना एक साथ मिलाकर सुंघाना चाहिये। अथवा अमोनिया (Amonia) सुंघाना चाहिये।

तुरङ्गलालालवणोत्तमेन्दु-मनःशिलामागधिकामधूनि।
नियोजितान्यक्षिणि निश्चितं च तन्द्राश्च निद्राश्च निवारयन्ति ॥ ६४६ ॥

घोडे की लार, सेंधानिमक, कपूर, मैनसिल, पीपल, और मधु इन सबों को एकत्र पीसकर आखों में आँजने से तन्द्रा और अत्यन्त निद्रा निश्चय दूर हो जाती है ॥ ६४६ ॥

*लवणोत्तमं = सैन्धवम्। इन्दुः = कर्पूरः। निद्राम् = अतिनिद्राम् ॥ ६४६ ॥

यहां पर "लवणोत्तम" पद का "सेंधा निमक"। "इन्दु" पद का कपूर"। "निद्रा" पदका "अत्यन्त निद्रा" अथ समझना चाहिये ॥ ६४६ ॥

अथ प्रलापकस्य चिकित्सामाह—

सतगरवरतिक्तारेवताम्भोदतिक्ता-नलदतुरगगन्धाभारतीहारहूराः।
मलयजदशमूलीशङ्खपुष्पीसुपक्वाः प्रलपनमपहन्युः पानतो नातिदूरात् ॥ ६४७ ॥

प्रलापक की चिकित्सा—तगर, पित्तपापडा, अमलतास, नागरमोथा, कुटकी, लामज्जक, असगन्ध, ब्राह्मी, दाख, सफेद चन्दन, दशमूल की ओषधिया, शङ्खाहुली इन सबों का क्वाथ बनाकर पीने से अतिशीघ्र प्रलापक संनिपात ज्वर नष्ट हो जाता है(१) ॥ ६४७ ॥

*वरतिक्तोऽत्र पर्पटो न तु महानिम्बस्तन्त्रान्तरानुरोधात्। नलद = लामज्जक, तदलाभादुशीर ग्राह्यम्। भारती = ब्राह्मी "बरम्भी" इति लोके। हारहूरा = द्राक्षा ॥ ६४७ ॥

यहा पर "वरतिक्त" से "पित्तपापडा" का ही बोध करना उचित है न कि "बकाइन" का, क्यों कि तन्त्रान्तर में भी इस योग में "पित्तपापडा" ही का उल्लेख मिलता है। "नलद" पद का "लामज्जक" अर्थ समझना चाहिये, तथा इसके अभाव मे "खस" लेना चाहिये। "भारती" पद का "ब्राह्मी अर्थात् लोकप्रसिद्ध बरम्भी" और "हारहूर" पद का "दाख" अर्थ समझना चाहिये ॥ ६४७ ॥

सान्त्वनरञ्जनैस्तीक्ष्णै-र्नस्यैस्तिमिरसेवनैः। सर्वतो विकृत चित्त-मस्य प्रकृतिमानयेत् ॥६४८॥

प्रलापक संनिपात ज्वर वाले रोगी का चित्त जब चारो तरफ से विकृत हो जाय अर्थात् प्रकृतिस्थ न रहे तब उसे सान्त्वना दायक वचनों से तथा अञ्जन और तीक्ष्ण नस्य का प्रयोग करने अथवा अन्धकार में रखने से प्रकृतिस्थ करे ॥ ६४८ ॥

अथ रक्तष्ठीविसन्निपातस्य चिकित्सामाह—

रोहिषधन्वयवासकवासा-पर्पटगन्धलताकटुकाभिः।
शर्करया सममेष कषायः क्षतजष्ठीविन उद्यदुपायः ॥ ६४९ ॥

रक्तष्ठीवी सनिपात की चिकित्सा—रोहिसघास, धमासा, अडूसा, पित्तपापडा, फूलप्रियङ्गु तथा कुटकी इन सबों का क्वाथ बनाकर उसमें मिश्री डालकर पिलाना रक्तष्ठीवी सनिपात ज्वर दूर करने के लिये प्रसिद्ध उपाय है ॥ ६४९ ॥

*रोहिषं = सुगन्धतृणविशेषः। "रोहिस" इति लोके। गन्धलता = प्रियङ्गुः ॥ ६४९ ॥

यहा पर "रोहिष" पद का "सुगन्ध युक्त लोक प्रसिद्ध "रोहिस" तृण (घास)" तथा "गन्धलता" पद का "फूलप्रियङ्गु" अर्थ समझना चाहिये ॥ ६४९ ॥

पद्मकचन्दनपर्पटमुस्त जातिकजीवकचन्दनवारि।
क्लीतकनिम्बयुत परिपक्व वारि भवेदिह शोणितहारि ॥ ६५० ॥

पद्माख, लाल चन्दन, पित्तपापडा, नागरमोथा, जाती (चमेली), जीवक, सफेद चन्दन, सुगन्धबाला, मुलहठी और नीम इन सबों का क्वाथ बनाकर पिलाना रक्तष्ठीवी सनिपातज्वर में रक्त दूर करने वाला होता है(२) ॥ ६५० ॥

*क्लीतक = यष्टीमधुकम्। इह = रक्तष्ठीविनि ॥ ६५० ॥

यहां पर "क्लीतक" पद का "मुलहठी" तथा "इह" पद का "रक्तष्ठीवी सनिपात ज्वर में" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ६५० ॥

मधुकमधूकपरूपकपाथ-श्चन्दनपद्मवदारुसनाथः।
श्रीपर्णीफलक्लीतकपायः ससित इह स्यादसृजयाय ॥ ६५१ ॥

---

(१) तगर आदि क्वाथ्य द्रव्य मिलाकर १ छटाक लेकर क्वाथ करना चाहिये।
(२) क्वाथ्य द्रव्य मिलित ४ तोले की मात्रा में लेना चाहिये।

मुलहठी, महुआ, फालसा, सुगन्धवाला, रक्तचन्दन, तेजपात, देवदारु इन सबों से युक्त गांभारी के फलों का शीत कषाय बनाकर और मिश्री डालकर पिलाने से रक्तष्ठीवी संनिपात ज्वर में रक्त दूर होता है(१) ॥ ६५१ ॥

*पाथः = बालः। पल्लवं=पत्रकम्। सनाथः = सप्रधानः। श्रीपर्णीफलं = गाम्भारीफलम्॥६५१

यहा पर "पाथ" पद का "सुगन्धवाला"। "पल्लव" पद का "तेजपात"। "सनाथ" पद का "युक्त"। "श्रीपर्णीफल" पद का "गाम्भारी का फल" अर्थ समझना चाहिये ॥ ६५१ ॥

अथ भुग्ननेत्रस्य चिकित्सामाह—

तुरङ्गगन्धालवणोग्रगन्धा-मधूकसारोषणमागधीभिः।
बस्ताम्बुशुण्ठीलशुनान्वितामिर्नस्यं कृतं भुग्नदृशं करोति ॥ ६५२ ॥

भुग्ननेत्र सन्निपात ज्वर की चिकित्सा—असगन्ध, सेंधानिमक, वच, महुए का सार, काली मिर्च, पीपल, सोंठ और लहसुन इन सबों को बकरे के मूत्र के साथ पीस कर नास देने से भुग्ननेत्र सन्निपात ज्वर नष्ट होता है ॥ ६५२ ॥

अथाभिन्यासस्य चिकित्सा।

तत्र शृङ्ग्यादिक्वाथमाह—

शृङ्गीभार्ग्यभयाऽजाजी-कणाभूनिम्बपर्पटैः। देवदार्वचाकुष्ठ-यासकट्फलनागरैः ॥ ६५३ ॥
मुस्तधान्याकतिक्तेन्द्र-यवपाठाहरेणुभिः। हस्तिपिप्पल्यपामार्ग-पिप्पलीमूलचित्रकैः ॥ ६५४ ॥
विशालाऽऽरग्वधारिष्ट-शटीवाकुचिकाफलैः। विडङ्गरजनीदार्वी-यवानीद्वयसंयुतैः ॥ ६५५ ॥
समांशैर्विहितः क्वाथो हिङ्ग्वार्द्रकरसान्वितः। अभिन्यासज्वरं घोरं हन्ति तन्द्राञ्च तत्क्षणात् ६५६
प्रमेहं कर्णशूलञ्च सन्निपातांस्त्रयोदश। हिक्कां श्वासञ्च कासञ्च तथा सर्वानुपद्रवान् ॥ ६५७ ॥

अभिन्यास सन्निपात ज्वर की चिकित्सा—काकड़ासिंगी, भारंगी, हरड़, स्याह जीरा, चिरायता, पित्तपापड़ा, देवदारु, वच, कूठ, जवासा, कायफल, सोंठ, नागरमोथा, धनिया, कुटकी, इन्द्रजौ, पाढ, रेणुका, गजपीपल, चिरचिटा (चिचिढा), पिपरामूल, चीता, इन्द्रायन, अमलतास, नीम, कचूर, बाकुची, कायफल, वायविडङ्ग, हल्दी, दारुहल्दी, अजवाइन और अजमोद इन सबों को समान भाग में लेकर क्वाथ बना लेवे पश्चात् उसमें हींग तथा अदरख का रस यथाविधि डाल कर पिलाने से घोर अभिन्यास सन्निपात ज्वर और तन्द्रा तत्काल नष्ट हो जाती है। तथा प्रमेह, कर्णशूल (कान का दर्द), १३ प्रकार के सन्निपात ज्वर और उसके हिचकी, श्वास, खांसी आदिक सम्पूर्ण उपद्रव नष्ट हो जाते हैं(२) ॥६५३ ६५७॥

अथ जिह्वकस्य चिकित्सा।

तत्र किरातादिकवलमाह—

किराततिक्ताकुलकृत्कुलिङ्गी-कर्पूरकृष्णाकटुतैलयुक्तः।
अम्लद्रवः संशमयेद्रसज्ञा-दोषान्स्तुतो दाशरथिर्यथाऽत्र ॥ ६५८ ॥

जिह्वक सन्निपात ज्वर की चिकित्सा में किरातादिकवल—चिरायता, अकरकरहा, कुलिञ्जन, कचूर और पीपल इन सबों का सूक्ष्म चूर्ण करके उसमें सरसों का तेल तथा बिजौरे नीबू आदिक अम्लद्रव्यों का रस डालकर कल्क (चटनी) की भांति बनाकर मुख में रखने से जिस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी स्तुति करने से कामादिक सम्पूर्ण दोषों को नष्ट कर देते हैं उसी भांति यह किरातादि नामक कवल भी जिह्वक संनिपात ज्वर के सम्पूर्ण दोषों को नष्ट कर देता है ॥ ६५८ ॥

*आकुलकृत् = "अकरकरहा" इति लोके। अम्लद्रवः = बीजपूरादिरसः ॥ ६५८ ॥

यहा पर "आकुलकृत" पद का "लोक प्रसिद्ध अकरकरहा" तथा "अम्लद्रव" पद का "बिजौरा

---

(१) मुलहठी आदि मिलित द्रव्य ४ तोले लेकर कूटकर २४ तोले (द्रव द्वैगुण्य नियम से ४८ तोले) जल में भिगो कर रात भर पड़ा रहने दें प्रातः काल मसलकर छानकर मिश्री ४ तोले मिलाकर पीवें। इस प्रकार प्रस्तुत द्रव्य शीतकषाय कहा जाता है। शीतकषाय निर्माण करने की परिभाषा "वैद्यकपरिभाषाप्रदीप" में इस प्रकार लिखी है—

"क्षुण्णद्रव्यपलं सम्यक् षड्भिर्जलपलैः प्लुतम्। शर्वरीमुषितं सम्यग् ज्ञेयः शीतकषायकः ॥

(२) अभिन्यास के लिये काकड़ासिंगी आदि द्रव्य १० तोले (अभिन्यास के लिये यह अधिक मात्रा ही उपयुक्त है) लेकर क्वाथ करें, उसमें हींग २ रत्ती, आदी का रस १ तोला मिलाकर पिलाना चाहिये

नीबू आदिक अम्ल द्रव्यों का रस" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ६५८ ॥

अथ शालूरपर्ण्याद्यवलेहमाह—

शालूरपर्णी मालूर-मूलामयमधुप्लुता। शङ्खपुष्पीसहिता सेव्या वाचां विशुद्धये ॥ ६५९ ॥

शालूरपर्ण्याद्यवलेह—ब्राह्मी, बेल के जड की छाल, कूठ तथा शखाहुली का चूर्ण मधु के साथ अवलेह करने (चाटने) से जिह्वक सन्निपातज्वर में वाणी सम्बन्धी विकार दूर हो जाता है ॥ ६५९ ॥

❀ शालूरपर्णी = ब्राह्मी, मालूरमूल = बिल्वमूलम्, आमयः = कुष्ठम् ॥ ६५९ ॥

यहां पर "शालूरपर्णी" पद का "ब्राह्मी" तथा "मालूरमूल" पद का "बेल की जड अर्थात् बेल के जड की छाल"। "आमय" पद का "कूठ" अर्थ समझना चाहिये ॥ ६५९ ॥

अथ क्षुद्राऽऽदिविश्वाऽऽदिक्काथावाह—

क्षुद्रानागरपुष्कराऽमृतलताब्राह्मीवचासुव्रता-भार्गीवासकयासतोयसुरसाक्काथो जयेज्जिह्वकम्।
विश्वावर्मविभावरीयुगवरावत्सादनीवारिदव्याघ्रीनिम्बपटोलपुष्करजटाकुष्ठदारुभिर्वा कृतः ॥ ६६०

क्षुद्राऽऽदि क्काथ—छोटी कटेरी, सोंठ, पुहकरमूल, गिलोय, ब्राह्मी, वच, गन्धपलाशी, अडूसा, जवासा, सुगन्धबाला और तुलसी की पत्ती इन सबों का क्काथ बनाकर पिलाने से जिह्वक सन्निपात ज्वर दूर हो जाता है(१)।

विश्वाऽऽदि क्काथ—सोंठ, पित्तपापडा, हलदी, दारुहल्दी, त्रिफला (आंमला, हरड, बहेरा), गिलोय, नागरमोथा, कटेरी, नीम, परवल के पत्ते, पुहकरमूल, कूठ, देवदारु इन सबों का क्काथ बनाकर पिलाने से भी जिह्वक सन्निपात ज्वर दूर हो जाता है(२) ॥ ६६० ॥

❀पुष्कर = पुष्करमूलम्, तथा चामरसिंहः—

"मूले पुष्करकाश्मीरपद्मपत्राणि पौष्करे"।

❀सुव्रता=गन्धपलाशी, काश्मीरे प्रसिद्धा। सुरसा = तुलसी।

विश्वाऽऽदियोगान्तरम्—वर्म = पर्पटः। विभावरीयुगं=हरिद्रा दारुहरिद्रा च। वरा= त्रिफला। वत्सादनी = गुडूची। व्याघ्री = कण्टकारिका ॥ ६६० ॥

यहां पर "पुष्कर" पद का "पुहकरमूल" अर्थ समझना चाहिये, क्योंकि—अमरसिंह ने भी पुहकरमूल के पर्यायवाची शब्द—पुष्कर, काश्मीर, पद्मपत्र में पुष्कर का पाठ किया है। "सुव्रता" पद का "काश्मीर देश में प्रसिद्ध—"गन्धपलाशी"। "सुरसा" पदका "तुलसी" अर्थ समझना चाहिये। और इस श्लोक के उत्तरार्ध में विश्वाऽऽदि नामक दूसरे क्काथ का वर्णन किया गया है, इसमें "वर्म" पद का "पित्तपापडा"। "विभावरीयुग" का "हलदी तथा दारुहलदी"। "वरा" का "त्रिफला"। "वत्सादनी" का "गिलोय"। "व्याघ्री" का "कटेरी" अर्थ समझना चाहिये ॥ ६६० ॥

अथ सन्धिकसन्निपातस्य चिकित्सामाह—

शटीसुरतरूत्तमास्थविरदारुरास्ना. समाः सनागरसुधाऽन्विताः पिब शतावरीसंयुताः।
मृदुज्वलनपाचिताः सह पुरेण सन्धिग्रह-व्यथाऽपहृतये वृथा शिशिरसेवनं मा कृथाः ॥ ६६१ ॥

सन्धिक सन्निपात ज्वर की चिकित्सा—कचूर, देवदारु, त्रिफला, विधारा, रास्ना, सोंठ, गिलोय तथा शतावर इन सबोंको समान भाग मे लेकर मन्द आंचसे क्काथ बनाकर और उसमें गूगल का प्रक्षेप करके सन्धिक सन्निपात ज्वर की पीडा-शान्ति के लिये पीना चाहिये तथा इसके सेवन करने में शीतल पदार्थों का सेवन करना त्याग देना चाहिये क्योंकि वैसा करने से क्काथ का प्रभाव नष्ट हो जायगा(३) ६६१

❀उत्तमा=त्रिफला। स्थविरदारु="विधारा" इति लोके। सुधा=गुडूची। पुरो=गुग्गुलु.॥ ६६१ ॥

यहां पर "उत्तमा" पद का "त्रिफला"। "स्थविरदारु" का "लोक प्रसिद्ध विधारा"। "सुधा" का "गिलोय"। "पुर" का "गूगल" अर्थ समझना चाहिये ॥ ६६१ ॥

वचाकवचकच्छुरासहचरामृताभङ्गुरा-सुराह्वघननागरातरुणदारुरास्नापुराः।
कृपातरुणभीरुभिः सह भवन्ति सन्धिग्रह-व्यथोरुजडिमक्लमभ्रमणपक्षघातद्रुहः। ६६२ ॥

---

(१) क्काथ्य द्रव्य मिलित ४ तोले आध सेर जल में पकाकर चतुर्थांशावशेष उतार कर पिलाना चाहिये।

(२) सोंठ आदि क्काथ्य द्रव्यों की मात्रा १ छटाक है।

(३) कचूर आदि क्वाथ्य द्रव्य मिलित ४ तोले, पाकार्थ जल आध सेर, अवशेष १ छटाक रहने पर उतार कर छान लेवें।

वच, पित्तपापड़ा, जवासा, कटसरैया, गिलोय, अतीस, देवदारु, नागरमोथा, सोंठ, विधारा, रास्ना, गूगल, बड़ी दन्ती, एरण्ड और शतावर इन सबों का क्वाथ बनाकर पीने से सन्धिक सन्निपात ज्वर की पीड़ा, सन्धियों की जड़ता, कम्पन, भ्रमण तथा पक्षाघात दूर होता है(१) ॥ ६६२ ॥

ॐकवचः = पर्पटकः । कच्छुरा = यवासः । भङ्गुरा = अतिविषा । सुराह्वो=देवदारु । अतरुणदारु=वृद्धदारु । पुरो = गुग्गुलुः । वृषा = बृहद्दन्ती, एरण्डवत्पत्रविटपा, तदलाभे दन्ती च ग्राह्या समानगुणत्वात् । तरुणः = एरण्डः । भीरुः = शतावरी ॥ ६६२ ॥

यहां पर "कवच" पदका "पित्तपापड़ा"। "कच्छुरा" का "जवासा"। "भङ्गुरा" का "अतीस"। "सुराह्व" का "देवदारु"। "अतरुणदारु" का "विधारा"। "पुर" का "गूगल"। "वृषा" का "बड़ी दन्ती" अर्थ समझना चाहिये। और बड़ी दन्ती के एरण्ड के समान पत्ते तथा पेड़ होते हैं। इसके अभाव में समान गुणवाली होने से छोटी दन्ती लेनी चाहिये। "तरुण" का "एरण्ड" और "भीरु" का "शतावर" अर्थ समझना चाहिये ॥ ६६२ ॥

सुरदारुशटीसुधालता-सुवहाशुण्ठ्यमृताः शृता जले ।
सपुराः शमयन्ति सेविताः सततं सन्धिगतं सदागतिम् ॥ ६६३ ॥

देवदारु, कचूर, गिलोय, रास्ना, सोंठ, गिलोय और गूगल इन सबों का क्वाथ बनाकर पीने से सन्धिक सन्निपातज्वर में सन्धिस्थानगत वायु नष्ट हो जाता है ॥ ६६३ ॥

मुस्तैरण्डप्राणदाबाणदारु-च्छिन्नारास्नाभीरुकर्चूरतिक्ताः ।
वासाविश्वापञ्चमूलाश्वगन्धा हन्युर्मन्यास्तम्भसन्धिग्रहार्त्तीः ॥ ६६४ ॥

नागरमोथा, एरण्ड, हरड, नीले फूल की कटसरैया, देवदारु, गिलोय, रास्ना, शतावर, कचूर, कुटकी, अड्सा, सोंठ (या अतीस), बृहत्पञ्चमूल की ओषधियां और असगन्ध इन सबों का क्वाथ मन्यास्तम्भ (नाड़ जकड़ना) तथा सन्धियों की पीड़ा को दूर करने वाला होता है ॥ ६६४ ॥

ॐ प्राणदा = हरीतकी । बाणः = नीलपुष्पसहचरः । तिक्ता = कटुकी ॥ ६६४ ॥

यहां पर "प्राणदा" पद का "हरड"। "बाण" का "नीले फूल की कटसरैया"। "तिक्ता" का "कुटकी" अर्थ समझना चाहिये ॥ ६६४ ॥

अथान्तकज्वरस्य चिकित्सामाह—

इहापहाय व्रतमुष्णवारि ज्वरारियूषादि गदापहारि ।
ज्वरच्छिदं जीवितदञ्च नित्यं मृत्युञ्जयं चेतसि चिन्तयस्व ॥ ६६५ ॥

अन्तक सन्निपात ज्वर की चिकित्सा—अन्तक नामक सन्निपात ज्वर में लङ्घन (उपवास) आदिक नियम, गर्म किया हुआ जल, ज्वरनाशक यूष आदिक पदार्थ तथा रोगनाशक ओषधियां इन सबों को छोड़ कर केवल ज्वरनाशक, जीवनदाता, मृत्युञ्जय महादेव जी की नित्य चित्त में चिन्ता करना चाहिये। अर्थात् इसकी कोई ओषधि वस्तुतः नहीं है, ईश्वर की दया से ही चाहे कोई रोगी बचता है६६५

ॐइह = अन्तके । व्रत = लङ्घनादिनियमम् ॥ ६६५ ॥

यहां पर "इह" पद का "अन्तक सन्निपात ज्वर में" और "व्रत" पद का "लङ्घन (उपवास) आदिक नियम" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ६६५ ॥

कर्पूरप्रकरावदातवपुषं सयोगमुद्राजुषं शश्वद्भक्तजनेषु भावुकजुषं भालस्फुरच्चक्षुषम् ।
सम्पूर्णामृतकुम्भसम्भृतकरं शुभ्राक्षमालाधरं पिङ्गोत्तुङ्गजटाकलापरुचिरं चन्द्रार्द्धमौलिं स्तुहि ६६६

और कर्पूर की राशि के समान श्वेत वर्ण शरीरधारी, महायोगमुद्रा से युक्त, निरन्तर भक्तजनों के कल्याणकारी, ललाट में चमकते हुये नेत्रवाले, अमृत से पूर्ण कलश को हाथ में लिये हुये, उज्ज्वल रुद्राक्षमाला को धारण किये हुये, पिङ्गलवर्ण की तथा ऊंची जटाओं के मण्डल से सुशोभित ऐसे मस्तक में अर्द्ध चन्द्र को धारण किये हुये मृत्युंजय भगवान् की अन्तक सन्निपात ज्वरवाला रोगी स्वयं ध्यान करता हुआ स्तुति करे अथवा रोगी के लिये ब्राह्मण द्वारा करावे ॥ ६६६ ॥

भिषग्भिरिति निर्णीतं सन्निपातेऽन्तकाभिधे । भेषजं जाह्नवीनीरं वैद्यो गोविन्द एव हि॥६६७॥

और अन्तक सन्निपात ज्वर मे रोगी के निमित्त उपचार करने के लिये वैद्यों ने यही निश्चय किया है कि—उस समय औषध के स्थान में केवल गङ्गाजल तथा वैद्यों के स्थान में एक मात्र भगवान्

(१) वचादि क्वाथ्य द्रव्यों की मिलित मात्रा १ छटाक है।

गोविन्द ही है। अर्थात् ऐसे रोगी का जीवनलाभ केवल ईश्वर के अधीन है, चिकित्सा व्यर्थ है, यदि है कुछ तो उपर्युक्त ही है ॥ ६६७ ॥

अथ रुग्दाहस्य चिकित्सा।

तत्र षडङ्गपानीयमाह—

उशीरचन्दनोदीच्य-द्राक्षाऽऽमलकपर्पटैः। शृत शीत जलं दद्याद् दाहतृड्ज्वरशान्तये ॥६६८॥

रुग्दाह की चिकित्सा में षडङ्गपानीय—खस, रक्तचन्दन, सुगन्धवाला, दाख, आँवला और पित्तपापड़ा इन सबों का क्वाथ बनाकर शीतल होने पर रुग्दाह सन्निपातज्वर में रोगी को दाह, प्यास तथा ज्वर की शान्ति के(१) निमित्त पिलाना चाहिये ॥ ६६८ ॥

ससितो निशि पर्युषितः प्रातर्धान्याकतण्डुलक्काथः। पीतः शमयत्यचिरा-दन्तर्दाहं ज्वरं पैत्तम् ॥

धान्याकक्काथ—रात्रि में कुटे हुये धनियां के चावलों का क्वाथ बनाकर अथवा धनिया को छः गुने जल में भिगोकर प्रातः काल होने पर छान कर और मिश्री मिलाकर पिलाने से पित्तज्वर तथा अन्दर का दाह शीघ्र नष्ट हो जाता है ॥ ६६९ ॥

***धान्याकतण्डुलाः=कण्डितधान्याकबीजानि ॥ ६६९ ॥**

यहां पर "धान्याकतण्डुल" पद से "कुटे हुये धनिया के चावलों" का बोध करना चाहिये ॥६६९॥

अथ पथ्याऽवलेहमाह—

पथ्यां तैलघृतक्षौद्रै-र्लिह्याद्दाहविनाशिनीम् ॥ ६७० ॥

पथ्याऽवलेह—हरड को तेल, घी अथवा शहद के साथ दाह दूर करने के लिये चाटना चाहिये॥६७०॥

***"पथ्यां तैलघृतक्षौद्रैरि"त्यत्र न समुच्चयः। तेन केवलेन मधुनाऽपि लिह्यात् ॥ ६७० ॥**

यहां पर "पथ्यां तैलघृतक्षौद्रैः" इन पदों में समुच्चय नहीं है अत एव अलग २ तैल, घी अथवा शहद इनमें से जिससे इच्छा हो चाटने के लिये कहा गया है" यह और समझ लेना चाहिये ॥६७०॥

अथ लेपमाह—

प्रशमयति दाहमचिराद् दधियुक्तैः कर्कन्धुपल्लवैर्लेपः। लेपो हिमकरमलयज-निम्बदलैस्तक्रपिष्टैर्वा ६७१

लेप—दही के साथ बेर के पल्लवों को पीसकर लेप करने से अथवा कपूर, सफेद चन्दन तथा नीम के पत्तों को तक्र (मट्ठा) के साथ लेप करने से शीघ्र दाह दूर होता है ॥ ६७१ ॥

***हिमकरः=कर्पूरः। तथा च "घनसारश्चन्द्रसंज्ञः" इत्यमरः ॥ ६७१ ॥**

यहां पर "हिमकर" पद का "कपूर" अर्थ समझना चाहिये, क्योंकि—अमरकोश में कपूर के पर्यायवाची "घनसार, चन्द्रसंज्ञ (चन्द्रवाचक सभी शब्द)" इन शब्दों के अन्दर चन्द्रवाचक शब्द हिमकर" का भी बोध किया गया है ॥ ६७१ ॥

अथ जलधारामाह—

उत्तानसुप्तस्य गभीरताम्र-कांस्यादिपात्रे निहिते च नाभौ।
शीताम्बुधारा बहुला पतन्ती निहन्ति दाहं त्वरितं ज्वरञ्च ॥ ६७२ ॥

जलधारा—दाह से व्याकुल रोगी को उतान लिटा कर उसकी नाभि के ऊपर गहरा तामे अथवा कांसे के पात्र को रखकर उसके अन्दर शीतल जल की धारा विशेष रूप से गिराने से कुछ देर बाद दाह तथा रुग्दाह संनिपात ज्वर नष्ट हो जाता (२) ॥ ६७२ ॥

अथावगाहनमाह—

शीताम्भसा तु शतशश्च विलोडितेन गव्येन चन्दनयुतेन घृतेन दिग्ध्वा।
दाहज्वरी सकमलोत्पलमाल्यधारी क्षिप्रं विशेत्सलिलकोष्ठमनल्पकालम् ॥ ६७३ ॥

अवगाहन—शीतल जल में सौ बार धुले हुये गाय के घी में सफेद मलयागिरि चन्दन को घिस

(१) उपर्युक्त औषधों को एकत्र २ तोले लेकर आध सेर जल में पकाकर १ छटाक रहने पर उतार कर शीतल करके देना चाहिये। तथा पीने के लिये जल भी इन्हीं के द्वारा सिद्ध करके देना चाहिये। उक्त औषधों को १ तोले की मात्रा में लेकर २ प्रस्थ (१२८ तोले) पानी में पकाकर आधा रह जाने पर उतारकर छानलें। इसी जल को शीतल होने पर पीने के लिये देवें।

(२) बर्फ के पानी में कपडे भिगोकर उसे शरीर में लपेटना चाहिये। और बर्फ की थैली सिर पर रखना चाहिये। इससे भी दाह दूर होता है।

कर मिलाकर दाहज्वर से व्याकुल रोगी के शरीर में लगा देवै और उसके बाद उसे कमल तथा कमो-दिनी की माला पहनाकर जल से पूर्ण किसी पात्र में शीघ्र बिठा देवै। इस भाँति से कुछ देर रहने के बाद उसका दाह दूर हो जाता है ॥ ६७३ ॥

अथावगुण्ठनमाह—

काञ्जिकार्द्रपटेनाव-गुण्ठनं दाहनाशनम्। अथ वा तक्रसंसिक्त-शीतलीकृतवाससा ॥ ६७४ ॥

अवगुण्ठन (वस्त्र उढ़ाना)—दाहज्वर वाले रोगी को काँजी से भीगे हुये वस्त्र को उढ़ाने से अथवा गाय के तक्र (मट्ठे) में भिगो कर शीतल किये हुये वस्त्र के उढ़ाने से दाह दूर होता है॥६७४॥

पानमाह—

दाहवम्यर्दितं क्षाम निरन्नं तृष्णयाऽन्वितम्। शर्करामधुसंयुक्तं पाययेल्लाजतर्पणम् ॥ ६७५ ॥

अर्थ—दाह तथा वमन से पीड़ित रोगी, दुर्बल, निराहार रहने वाला तथा तृषा (प्यास) से युक्त व्यक्ति को धान के लावों का सत्तूरूप तर्पण मिश्री तथा शहद मिला कर पिलाना चाहिये ॥ ६७५ ॥

*लाजतर्पणम् = लाजसक्तुरूप तर्पणम् ॥ ६७५ ॥

यहाँ पर "लाजतर्पणम्" पद का "धान के लावों का सत्तूरूप तर्पण" अर्थ समझना चाहिये॥६७५॥

अथ दाहनाशकान्योपायानाह—

वाप्यः कमलहासिन्यो जलयन्त्रगृहाः शुभाः। नार्यश्चन्दनदिग्धाङ्ग्यो दाहवैन्यहरा मताः॥६७६॥

मुक्तावलीचन्दनशीतलानां सुगन्धपुष्पाम्बरभूषितानाम्।

नितम्बिनीनां सुपयोधराणा-मालिङ्गनान्याशु हरन्ति दाहम् ॥ ६७७ ॥

दाहनाशक अन्य उपाय—खिले हुये कमलों से युक्त बावड़ियाँ, छूटते हुये फुहारों से युक्त सुन्दर गृह, तथा शरीर में घिसे हुये सफेद चन्दन का लेप किये हुई युवती सुन्दरी स्त्रियाँ इन सबों का यथा-योग्य सेवन करने से दाह से अत्यन्त पीड़ित रोगी का भी दाह दूर हो जाता है।

और मोतियों की माला को धारण करने से तथा शरीर में घिसे हुये सफेद चन्दन का लेप करने से शीतल अङ्गों वाली तथा सुगन्धित पुष्प तथा वस्त्रों से भूषित शरीर वाली एवम् सुन्दर (कठोर) कुचों वाली सुन्दरी स्त्रियों के आलिङ्गन मात्र के करने से शीघ्र दाह दूर हो जाता है ॥६७६-६७७॥

प्रह्लादमस्य विज्ञाय ताः स्त्रीरपनयेत्पुनः। हितञ्च भोजयेदन्नं येनाप्नोति सुखं महत् ॥६७८॥

और दाहयुक्त रोगी को जब आलिङ्गन करने से मन में काम के वेग से हर्ष अर्थात् रमण करने की इच्छा होती हुई प्रतीत होने लगे तो उक्त स्त्रियों को उससे अलग कर देवै; तत्पश्चात् जिससे उसे विशेष सुख हो ऐसे हितकर अन्न को खिलावै ॥ ६७८ ॥

*प्रह्लादं = कामकृतहर्षम् ॥ ६७८ ॥

यहाँ पर "प्रह्लाद" पदका "मन में काम के वेग से हर्ष" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ६७८ ॥

अथ चित्तभ्रमस्य चिकित्सामाह—

कणोपणोग्रालवणोत्तमानि करञ्जबीजं प्रमदामलानि।

पथ्याऽक्षसिद्धार्थकहिङ्गुशुण्ठी-युतानि बस्ताम्बुविमिश्रितानि ॥ ६७९ ॥

पिष्ट्वा गुटीय नयने विधेया प्रचेतनेऽतिप्रथिताऽन्वितार्था।

चित्तभ्रमापस्मृतिभूतदोष-शिरोऽक्षिरोगभ्रमनाशहेतुः ॥ ६८० ॥

चित्तभ्रम संनिपात ज्वर की चिकित्सा—पीपल, काली मिर्च, वच, सेंधानिमक, करंज के बीज, धतूरा के फल, आमला, हरड़, बहेरा, सरसों, हींग तथा सोंठ इन सबों को बकरे के मूत्र के साथ भली भाँति पीस कर गोली बना लेवै, पश्चात् इस गोली को नेत्रों में आँजने से चित्तभ्रम संनिपात ज्वर वाले रोगी को प्रचेतन (होश) आ जाता है। अतः यह अन्वर्थनाम वाली प्रचेतना वटी से प्रसिद्ध हुई है। और चित्तभ्रम, अपस्मृति (स्मरण शक्ति का अभाव), भूतदोष, शिर तथा नेत्र सम्बन्धी पीड़ा और भ्रम इन सबों को दूर करने में प्रधान कारण होती है (१) ॥ ६७९-६८० ॥

*बस्ताम्बु = छागमूत्रम् ॥ ६७९-६८० ॥

यहाँ पर "बस्ताम्बु" पद का "बकरे का मूत्र" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ६७९-६८० ॥

कुम्भोद्भवतरोरम्भो गुडविश्वकणाऽन्वितम्। निहितं नसि नूनं स्याच्चित्तभ्रमविनाशनम्॥६८१॥

(१) इसकी मात्रा ४ से ८ रत्ती तक बलाबल के अनुसार देना चाहिये।

अगस्त्य वृक्ष के पिसे हुये छिल्कों का रस, गुड; सोंठ तथा पीपल इन सबों को एकत्र पीसकर चित्तभ्रम वाले रोगी के नाक में डालने से उसका चित्तभ्रम दूर हो जाता है ॥ ६८१ ॥

*कुम्भोद्भवतरोरम्भः = अगस्तिवृक्षत्वक्कल्करसः ॥ ६८१ ॥

यहां पर "कुम्भोद्भवतरोरम्भः" पदों का "अगस्त्य के वृक्ष के पिसे हुये छिल्कों का रस" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ६८१ ॥

सुरामूर्द्धजमेघाह्व-मधूकमलयोद्भवैः। मरुत्तरुमघून्मिश्रैः पुरपाणिजपांशुभिः ॥ ६८२ ॥
लोहलामज्जकैलाभि-र्धूपश्चित्तभ्रमापहः। ग्रहदोषहरः श्रीदः सौभाग्यकर उत्तमः ॥ ६८३ ॥

एकाङ्गी (कपूर कचरी), सुगन्धवाला, नागरमोथा, महुयेका फूल, सफेद चन्दन, देवदारु; शहद; गूगल, नख, पित्तपापटा, अगर; लामज्जक और इलायची इन सबों के द्वारा कुटकर धूप बनाकर धूनी देने से चित्तभ्रम नष्ट होता है तथा ग्रहदोष दूर होता है। और लक्ष्मी तथा सौभाग्य की वृद्धि होती है। अत एव यह उत्तम धूप है ॥ ६८२—६८३ ॥

***सुरा = एकाङ्गी। मूर्द्धजो = बाला। मरुत्तरुः = देवदारु। पुरः = गुग्गुलुः। पाणिजः = नखः। पांशु = पर्पटकः। लोहम् = अगुरु। लामज्जकम् = उशीरवत्पीततृणविशेषः, तदभावे उशीरं ग्राह्यम् ॥ ६८२—६८३ ॥**

यहां पर "सुरा" पद का "एकाङ्गी"। "मूर्द्धज" का "सुगन्धवाला"। "मरुत्तरु" का "देवदारु"। "पुर" का "गूगल"। "पाणिज" का "नख"। "पांशु" का "पित्तपापडा"। "लोह" का "अगर"। यह अर्थ तथा "लामज्जक" से "खस की भांति पीले वर्ण का तृण विशेष" समझना चाहिये, और इसके अभाव में "खस" लेना चाहिये ॥ ६८२—६८३ ॥

मृद्वीकाऽमरदारुमत्स्यशकलामुस्तामलक्योऽमृता—
पथ्याऽऽरेवतरामसेनकरजोराजीफलः संयुताः।
हन्युश्चित्तरुजोऽथ दर्दुरदलापाठापटोलीपयः—
पथ्यापर्पटराजवृक्षकटुकाशम्बूकपुष्प्यः शृताः ॥ ६८४ ॥

दाख, देवदारु, कुटकी, नागरमोथा, आमला, गिलोय, हरड, अमलतास; चिरायता; पित्तपापडा और परवल के पत्ते इन सबों का क्वाथ अथवा ब्राह्मी, पाढ, परवल के पत्ते, सुगन्धवाला, हरड, पित्तपापडा, अमलतास, कुटकी और शंखाहुल इन सबों का क्वाथ बनाकर पिलाने से चित्तभ्रम नामक सन्निपात ज्वर नष्ट होता है(१) ॥ ६८४ ॥

***मृद्वीका = द्राक्षा। मत्स्यशकला = कटुकी। आरेवतः = आरग्वधः। रामसेनकः = किराततिक्तकः। रजः = पर्पटकः। राजीफलः = पटोलः। अथ योगान्तरमाह—दर्दुरदला = मण्डूकपर्णी सा च ब्राह्मी, मञ्जिष्ठा, शोणकश्च। तथाऽप्यत्र ब्राह्मी ग्राह्या। यत उक्तं द्रव्यगुणग्रन्थे—**

***"ब्राह्मी मतिप्रदा मेध्या ज्वरहन्त्री रसायनी।"**

***ब्राह्मी = "बरम्भी"ति लोके। पयः = वालकम्। राजवृक्षः = आरग्वधः। शम्बूकपुष्पी = शङ्खपुष्पी ॥ ६८४ ॥**

यहां पर "मृद्वीका" पद का "दाख"। "मत्स्यशकला" का "कुटकी"। "आरेवत" का "अमलतास"। "रामसेनक" का "चिरायता"। "रजः" का "पित्तपापडा"। "राजीफल" का "परवल अर्थात् परवल के पत्ते" अर्थ समझना चाहिये। और श्लोक के उत्तरार्द्ध में दूसरा योग दर्दुरदलादि आरम्भ होता है। तथा "दर्दुरदला" से यद्यपि मण्डूकपर्णी अर्थात् ब्राह्मी, मजीठ तथा सोनापाठा तीनों का बोध होता है तथापि यहां पर केवल ब्राह्मी का बोध किया गया है क्योंकि द्रव्यगुण ग्रन्थ (निघण्टु) में कहा हुआ है कि—ब्राह्मी—बुद्धिवर्द्धक, मेधा (धारण शक्ति) के लिये हितकर, ज्वरनाशक तथा रसायन है अतः ब्राह्मी अर्थात् लोक प्रसिद्ध "बरम्भी" का ही बोध करना उचित है। "पय" का "सुगन्धबाला"। "राजवृक्ष" का "अमलतास" तथा "शम्बूकपुष्पी" का "शंखाहुल" अर्थ समझना चाहिये ॥ ६८४ ॥

---

(१) उपर्युक्त क्वाथ्य द्रव्यों को २ से ४ तोले तक बलाबल का निरूपण करके ग्रहण कर विधिवत् क्वाथ करना चाहिये।

अथ कर्णिकसन्निपातचिकित्सामाह—

प्रलेपस्तमस्तं नयत्यल्पमेकः समुद्रिक्तशोथश्च रक्तावसेकः।
पक्वे च शस्त्रक्रिया पूयजिरसा व्रणे च जाते चोचिता तच्चिकित्सा ॥ ६८५ ॥

कर्णिक सन्निपात की चिकित्सा—कर्णिक सन्निपात ज्वर में यदि कान के मूल भाग की गिल्टी छोटी हो तो निम्नलिखित केवल लेप से ही नाश को प्राप्त हो जाती है, और यदि अधिक शोथ युक्त हो तो जोंक (Leeches), लौकी आदि द्वारा (Cupping) रक्त निकलवाना चाहिये। और पक जाने पर पूयको निकालने वाली शस्त्रक्रिया करनी चाहिये अर्थात (Operation) चिरवाना चाहिये। एवम् शस्त्रक्रिया कर चुकने के बाद व्रण (घाव)की अवस्था हो जाने पर उसकी चिकित्सा करनी उचित है॥६८५॥

*अस्यार्थः—अल्पं—कर्णिकम्, एकः—प्रलेपः, अस्तं = नाशं नयति। तच्चिकित्सा = व्रणचिकित्सा ॥ ६८५ ॥

यहां पर "अल्प अर्थात् छोटी" यह विशेषण "कर्णिक" अर्थात् "कान के मूल भाग की गिल्टी" का समझना चाहिये। और "एक अर्थात् केवल" यह विशेषण "प्रलेप" का है। "अस्त" पद का "नाश" अर्थ समझना चाहिये। तथा "तच्चिकित्सा" पदका "उसकी अर्थात् व्रण की चिकित्सा" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ६८५ ॥

निशाविशालाऽऽमयमाणिमन्थ-दार्वीङ्गुदीमूलकृतः प्रलेपः।
प्रभाकरक्षीरयुतः प्रभावाद् व्यस्तः समस्तोऽप्यथ कर्णिकघ्नः ॥ ६८६ ॥

हल्दी; इन्द्रायन, कूठ, सेंधा निमक, देवदारु, और हिंगोट की जड इन सबों को बराबर २ लेकर पीस कर उसमें आक का दूध मिला कर लेप करने से कर्णिक सनिपात ज्वर का कर्णशोथ नष्ट हो जाता है। और यह लेप पूर्वो [illegible] में से सम्पूर्ण का बना हो या इनमें से थोडे ही द्रव्यों का बना हो दोनों ही अवस्था में लाभप्रद होता है। अतः सर्वोत्तम है ॥ ६८६ ॥

कुलत्थः कट्फलं शुण्ठी कारवी च समांशकैः। सुखोष्णैर्लेपनं कार्यं कर्णमूले मुहुर्मुहुः ॥ ६८७ ॥

कुलथी, कायफल, सोंठ और काली जीरी इन सबों को समान भाग में लेकर जल से पीस कर गर्म करके किंचिद् गर्म रहते कान के मूल भाग में गिल्टी पर बार बार लेप करना हितकर होता है। अर्थात् इससे कर्णिक सन्निपात की गिल्टी बैठ जाती है ॥ ६८७ ॥

गैरिक कठिनी शुण्ठी कट्फलारग्वधैः समैः। उष्णैः काञ्जिकसम्पिष्टैर्लेपः कर्णकमूलनुत् ॥६८८॥

गेरू, खडिया मिट्टी, सोंठ, कायफल और अमलतास इन सबों को समान भाग में लेकर काजी के साथ पीस कर गर्म कर लेप करने से कर्णिक सनिपात ज्वर का कर्णशोथ नष्ट हो जाता है ॥ ६८८ ॥

शिग्रुराजिकयोः कल्क कर्णमूले प्रलेपयेत्। कर्णमूलभवः शोथ-स्तेन लेपेन शाम्यति ॥ ६८९ ॥

सहिजना की छाल तथा राई इन दोनों को चटनी की भांति पीस कर कर्णमूल में लेप करने से वहां का शोथ (गिल्टी) नष्ट हो जाता है ॥ ६८९ ॥

अतिशिशिरजलपरिमृदित मरिचकणाजीरसिन्धुज त्वरितम्।
नस्यविधिसेवितं ननु कर्णकरुङ्नाशकृद् गदितम् ॥ ६९० ॥

काली मिर्च, पीपल, जीरा तथा सेंधा निमक इन सबों को गर्म जल के साथ पीस कर नास देने से कान के मूल का शोथ नष्ट हो जाता है, ऐसा वैद्यों ने कहा है ॥ ६९० ॥

भार्गीजयापौष्करकण्टकारी-कटुत्रिकोग्राघनकुण्डलीभिः।
कुलीरशृङ्गीकटुकारसाभिः कृतः कषायः किल कर्णिकघ्नः ॥ ६९१ ॥

भारंगी, गनिआरी, पुष्करमूल, कटेरी, त्रिकटु (सोंठ; पीपर, मिरच), वच, नागरमोथा, गिलोय, काकडाशिंगी, कुटकी और रास्ना इन सबों का क्वाथ बनाकर पिलाने से कर्णिक सनिपात ज्वर दूर होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥ ६९१ ॥

*भार्गी = भारङ्गी "बभनेटी" इति लोके। तदलाभे कण्टकारीमूलं ग्राह्यम्। जया = "गनिआरी" इति लोके। पौष्कर = पुष्करमूलम्। उग्रा = वचा। कुण्डली = गुडूची। कुलीरशृङ्गी = कर्कटशृङ्गी। रसा = रास्ना ॥ ६९१ ॥

यहां पर "भार्गी" पद का "भारङ्गी अर्थात् लोकप्रसिद्ध—बभनेटी" अर्थ समझना चाहिये, तथा इसके अभाव में "कटेरी की जड" लेनी चाहिये। "जया" का "लोकप्रसिद्ध—गनिआरी"। "पौष्कर"

का "पुहकरमूल"। "वप्रा" का "वचा"। "कुण्डली" का "गिलोय"। "कुलीरश्रृङ्गी" का "काकडा-शिङ्गी" तथा "रसा" का "रास्ना" अर्थ समझना चाहिये ॥ ६९१ ॥

दशमूलमत्स्यशकला-चपलात्रिफलामहौषधकिरातैः।
मरिचं चाशु क्वथितं बलादपहन्ति कर्णरुजः सकलाः ॥ ६९२ ॥

दशमूल की ओषधियां, कुटकी, पीपल, त्रिफला (आमला, हरड, बहेरा), सोंठ, चिरायता और मिर्च इन सबों का क्वाथ बनाकर पीने से कर्णिक सनिपात ज्वर में कर्णशोथ की समस्त पीडायें दूर होती हैं(१) ॥ ६९२ ॥

चपला = पिप्पली ॥ ६९२ ॥

यहां पर "चपला" पद का "पीपल" अर्थ समझना चाहिये ॥ ६९२ ॥

अथ कण्ठकुब्जचिकित्सामाह—

फलत्रिकत्र्यूषणमुस्तकट्वी-कलिङ्गसिंहाननशर्वरीभिः।
काथ. कृतः कृन्तति कण्ठकुब्ज कण्ठीरवः कुञ्जरमाशु तद्वत् ॥ ६९३ ॥

कण्ठकुब्जक सनिपात ज्वर की चिकित्सा—त्रिफला (हरड, बहेरा, आवला), सोंठ, पीपल, मिरच, नागरमोथा, कुटकी, इन्द्रजौ, अडूसा और हल्दी इन सबों का क्वाथ पीने से कण्ठकुब्जक सनिपात को इस भांति नष्ट करता है, जिस भांति सिंह हस्ती को नष्ट कर देता है(२) ॥ ६९३ ॥

सिंहाननो = वासकः। शर्वरी = हरिद्रा ॥ ६९३ ॥

यहां पर "सिंहानन" पद का "अडूसा" तथा "शर्वरी" पद का "हल्दी" अर्थ समझना चाहिये ॥ ६९३ ॥

किराततिक्तकाकणाकुटजकण्टकारीशटी-कलिद्रुकिलिमाभयाकटुककट्फलाम्भोधरः।
विषाऽऽमलकपुष्करानलकुलीरश्रृङ्गीवृषै-र्महौषधसखैरय जयति कण्ठकुब्ज गण' ॥ ६९४ ॥

चिरायता, कुटकी, पीपल, इन्द्रजौ, कटेरी, कचूर, बहेडा; देवदारु, हरड, मरिच, कायफर, नागरमोथा; अतीस, आमला, पुहकरमूल, चीना, काकडाशिंगी, अडूसा तथा सोंठ इन सबों का क्काथ बनाकर पीने से कण्ठकुब्ज सनिपात ज्वर नष्ट हो जाता है(३) ॥ ६९४ ॥

शटी = कच्चूरः। कलिद्रुः = विभीतक'। किलिमं = देवदारु। कटुकं = मरिचम्। विषा = अतिविषा। किरातादिभिः = किंविशिष्टैर्महौषधसखैः = महौषधस्य सखिभिः। तेन-एतैः सहितेन महौषधेनेत्यर्थः। थ चोल्वणवातादिप्रवृद्धमध्यक्षीणवातादिहेतुकानां कुम्भीपाकादीनां सन्निपातज्वराणां त्रयोदशानां चिकित्साऽभिधीयते, सा च तुल्यहेतुकानां विस्फारकादीना त्रयोदशानामिवाभिधातव्या ॥ ६९४ ॥

यहां पर "शटी" पद का "कचूर"। "कलिद्रु" का "बहेरा"। "किलिम" का "देवदारु"। "कटुक" का "मिरच"। "विषा" का "अतीस" अर्थ समझना चाहिये। और "महौषधसखैः" यह पद "किरातादिक" का विशेषण है अत किरातादिक चिरायता आदिक के साथ सोंठ का भी अन्वय करके अर्थ किया गया है। और उल्वण वातादिक तथा प्रवृद्ध-मध्य-क्षीण वातादिक कारण वाले जो कुम्भीपाकादिक १३ संनिपात ज्वर हैं उनकी भी चिकित्सा इन्हीं के समान कारण वाले जो विस्फारकादिक १३ सनिपात ज्वर हैं उन्हीं के समान समझनी चाहिये, यह और भी समझ लेना चाहिये ॥ ६९४ ॥

इति सन्निपातज्वराधिकार. समाप्त.।

अथागन्तुकज्वराधिकारः।

तत्रागन्तुज्वरनिदानमाह—

अभिघाताभिषङ्गाभ्या-मभिचाराभिशापतः।
आगन्तुर्जायते दोषै-र्यथास्व त विभावयेत् ॥ ६९५ ॥

आगन्तुक ज्वराधिकार में आगन्तुक ज्वर का निदान—अभिघात, अभिषङ्ग, अभिचार तथा अभिशाप इन सब कारणों से आगन्तुक ज्वर उत्पन्न होता है, उसके बाद जिन दोषों के अनुसार लक्षण

---

(१) उक्त क्वाथ्य द्रव्य दो तोले लेकर विधिवत् क्वाथ बनाना चाहिये।

(२) त्रिफलाऽऽदि द्रव्य मिलित २ तोले को आध सेर जल में क्वाथ बनाकर १ छटाक रहने पर उतार छानकर व्यवहृत करे। इसे प्रात. सायं दोनों समय देना चाहिये।

(३) उक्त औषधों को २ तोले लेकर विधिवत् क्वाथ प्रस्तुत करना चाहिये।

जिनमें हों उन दोषों से युक्त उसे समझना चाहिये ॥ ६९५ ॥

*अभिघातः = शस्त्रमुष्टिलगुडादिभिर्हननम् । अभिषङ्गः = कामशोकभयक्रोधभूतादीनामावेशः । अभिचारः = कृत्याऽऽद्युत्पादनम् । अभिशापः = ब्राह्मणगुरुवृद्धसिद्धादिकृतः शापः । तम् = आगन्तुज्वरम् । यथास्वं = यथादोषलक्षणम् । दोषैर्विभावयेद् = विजानीयात् ॥६९५॥

यहा पर "अभिघात" पद से "शस्त्र तलवार आदिक, मुष्टि तथा लाठी आदिक से मारना"। "अभिषङ्ग" पद से "काम; शोक, भय, क्रोध तथा भूतादिक इन से आविष्ट होना"। "अभिचार" पद से "कृत्या आदिक (आदिपद से जादू, मूठ आदि) का किसी के द्वारा उत्पन्न होना"। "अभिशाप" पद से "ब्राह्मण, गुरु, वृद्ध तथा सिद्ध आदि के द्वारा दिया हुआ शाप"। "तम्" पद का "उसे अर्थात् आगन्तुक ज्वर को"। "यथास्वम्" पद का "जिन दोषों के अनुसार लक्षण उसमें मिलते हों" तथा "विभावयेत" पद का "समझना चाहिये" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ६९५ ॥

अथागन्तुकज्वरान्यनिदानमाह—

ये भूतविषवाय्वग्नि-क्षतभङ्गादिसम्भवाः । रागद्वेषभयाद्यैश्च ते स्युरागन्तवो गदाः ॥६९६॥

आगन्तुक ज्वर के दूसरे प्रकार के निदान—भूतग्रह, विष, वायु, अग्नि, शस्त्रादि से क्षत (फटजाना), भङ्ग (हड्डी आदि का टूट जाना) आदिक एवम् राग, द्वेष और भय आदिक आगन्तुक कारणों से जो रोग उत्पन्न होते हैं वे भी आगन्तुक ही कहलाते हैं ॥ ६९६ ॥

*भयाद्यैरित्याद्यशब्देन भूतविषवाय्वग्निक्षतभङ्गादयः समृह्यते । तेन रागादयो भङ्गान्ताः, ते हेतवोऽप्यागन्तुसंज्ञाः स्युः, कार्यकारणयोरभेदोपचारात् । एतेन "आगन्तुजः स्मृत" इत्यत्राप्यागन्तुशब्दो हेतुवाची । "आगन्तुर्जायते दोषैरि"त्यत्र व्याधिवाची । "अभिघाताभिषङ्गाभ्यामि"त्यादिश्लोके "दोषैर्यथास्वं तं विभावयेदि"ति वचनेनैव प्रतीयते, अभिघातादीनां विप्रकृष्टकारणत्वं मिथ्याऽऽहारविहाराणामिव दोषाणां सन्निकृष्टकारणत्वं, तथा सति "दक्षापमानसंक्रुद्धरुद्र"इत्यादिश्लोके आगन्तुज्वरस्याष्टमत्वविघातो दोषजेष्वेव प्रवेशात् । उच्यते-आगन्तुज्वरस्य दोषा आरम्भका न, किन्तु पश्चादनुबन्धिनः । तथा चागन्तुज्वरस्य संप्राप्तिमाह चरकः—"आगन्तुर्हि व्यथापूर्वो जायते पश्चान्निजैर्दोषैरनुबध्यते" इति ॥ ६९६ ॥

यहां पर "भयाद्यै." इस पद के अन्तर्गत "आद्य" पद से "भूतग्रह, विष, वायु, अग्नि; क्षत (घाव), भङ्ग (हड्डियों का टूट जाना) आदि" का भी संग्रह किया जाता है; इससे "राग" से लेकर "भङ्गादि" पर्यन्त ये सब जो आगन्तु हेतु हैं वे भी "आगन्तु" कहलाते हैं; क्योंकि शास्त्रकारों ने कार्य और कारण का अभेद माना है। इसीसे "आगन्तुजः स्मृतः" अर्थात् "आगन्तु" से उत्पन्न कहलाता है" इस स्थल पर "आगन्तु" शब्द हेतुवाचक है। और "आगन्तुर्जायते दोषैः" अर्थात् दोषों से "आगन्तु" संज्ञक ज्वर होता है" इस स्थल पर "आगन्तु" शब्द रोगवाची है।

और "अभिघाताभिषङ्गाभ्याम्" इत्यादि श्लोक में जो "दोषैर्यथास्वं तं विभावयेत्—अर्थात् जिन दोषों के अनुसार लक्षण जिसमें मिलते हों उन दोषों से युक्त उसे समझना चाहिये" यह कहा हुआ है। उससे यह समझना चाहिये कि—मिथ्या आहार, विहार की भांति अभिघातादिक आगन्तुक ज्वर के विप्रकृष्ट (दूर के) कारण हैं तथा दोष (वातादिक) सन्निकृष्ट (नजदीक के) कारण हैं। किन्तु ऐसा होने पर तो "दक्षापमानसंक्रुद्धरुद्र" इत्यादि श्लोक में जो आगन्तुक ज्वर को ८ वां ज्वर माना है वह नहीं हो सकता है क्योंकि उक्त प्रकार से आगन्तुक भी वातादि दोषज होने से दोषज ज्वर के अन्तर्गत आ जायगा ? ऐसी शङ्का होने पर यह उत्तर देते हैं कि—आगन्तुक ज्वर के दोष (वातादिक) आरम्भक (उत्पन्न करने वाले) नहीं होते हैं किन्तु अभिघातादि पूर्वोक्त कारणों से उत्पन्न हो जाने के बाद पीछे से इनका अनुबन्ध हो जाता है अर्थात् ये भी सहायक हो जाते हैं। और चरकाचार्य ने भी आगन्तुक ज्वर की सम्प्राप्ति के विषय में यही कहा है कि—आगन्तुक ज्वर व्यथापूर्वक उत्पन्न होता है। पश्चात् अपने २ दोषों से सम्बद्ध होता है। अतः आगन्तुक ज्वर दोषज ज्वरों के अन्तर्गत नहीं माना जाता है बल्कि —स्वतन्त्र आठवें प्रकार का ज्वर माना गया है ॥ ६९६ ॥

अथ कस्यागन्तोः को निजो दोष इत्यपेक्षायामाह—

कामशोकभयाद्वायुः क्रोधात्पित्तं त्रयो मलाः। भूताभिषङ्गात्कुप्यन्ति भूतसामान्यलक्षणाः ॥६९७॥

कौन से आगन्तुक कारणों से उत्पन्न हुये ज्वर में कौन सा दोष सम्बद्ध होता है ? इस विषय में यह कहते हैं कि—काम, शोक तथा भय जनित आगन्तुक ज्वर होने से वायु कुपित होता है। क्रोधजनित

आगन्तुक ज्वर होने से पित्त कुपित होता है । भूतादिकों के आवेश होने से उत्पन्न आगन्तुक ज्वर होने से तीनों दोष (वातादिक) कुपित होते हैं जिसमे भूताविष्ट पुरुषों के जो लक्षण होते हैं उनके समान हसना, रोना आदिक सभी लक्षण भी प्रकट होते हैं ॥ ६९७ ॥

***कामशोकभयात् = कामशोकभयजादागन्तोर्वायुः कुप्यति । क्रोधात्पित्त = क्रोधजादागन्तोः पित्तं प्रकुप्यति । भूताभिषङ्गाद् = भूतावेशजादागन्तोस्त्रयो मलाः = दोषाः कुप्यन्तीत्यर्थः । भूतसामान्यलक्षणाः = भूतस्य भूतलक्षणस्य सामान्यं समानता येषां तानि भूतसामान्यानि लक्षणानि येषां ते भूतसामान्यलक्षणा मलाः ॥ ६९७ ॥**

यहां पर "कामशोकभयात्" पद का "काम, शोक तथा भय जनित आगन्तुक ज्वर होने से"। "क्रोधात्" पद का "क्रोधजनित आगन्तुक ज्वर होने से"। "भूताभिषङ्गात्" पद का "भूतादिकों के आवेश होने से उत्पन्न आगन्तुक ज्वर होने से"। "मल" पद का "दोष (वातादिक)" यह अर्थ समझना चाहिये ।

और "भूतसामान्यलक्षणा" यह पद "मलाः" इस पद का विशेषण है, और इसका "भूत अर्थात् भूताविष्ट पुरुषों के जो लक्षण हैं उनके साथ समता रखने वाले लक्षणों से युक्त अर्थात् भूताविष्ट पुरुषों के जो लक्षण होते हैं उनके समान हसना, रोना आदिक सभी लक्षण प्रगट होते हैं" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ६९७ ॥

अथागन्तुज्वराणां हेतुभेदेन लक्षणभेदानाह—

श्यावास्यता विषकृते तथाऽतीसार एव च । भक्तारुचिः पिपासा च तोदश्च सह मूर्च्छया ॥६९८॥

आगन्तुक ज्वरों का हेतुभेद से लक्षणभेद—स्थावर तथा जङ्गम विष खाने से उत्पन्न हुये ज्वर में रोगी का मुख सफेदी लिये काला अथवा शाक की भांति वर्णवाला हो जाता है तथा अतीसार, अन्न में अरुचि, प्यास, सूई चुभोने की सी पीडा और मूर्च्छा होती है ॥ ६९८ ॥

***विषकृते = स्थावरजङ्गमविषभ प्रकृते ज्वरे । मुखे श्यावः शुक्लानुविद्धः कृष्णो वर्णः शाकवर्णो वा । अतीसारः = स्थावरविषेणैव तस्याधोगामित्वात् । तोदः = सूचीव्यधनेनेव व्यथा६९८**

यहां पर "विषकृते" पद का "स्थावर तथा जङ्गम विष खाने से उत्पन्न हुये ज्वर में" तथा "श्यावास्यता" पद का "रोगी का मुख सफेदी लिये काला अथवा शाक की भांति वर्ण वाला" अर्थ समझना चाहिये । और "अतीसार होना" केवल स्थावर विष खाने से उत्पन्न हुये ज्वर में समझना चाहिये, क्योंकि स्थावर विष अधोगामी होता है अत. अतीसार होना उचित है । "तोद" पद का "सूई चुभाने की सी पीडा" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ६९८ ॥

ओषधीगन्धजे मूर्च्छा शिरोरुग्वमथुस्तथा । कामजे चित्तविभ्रंश-स्तन्द्राऽऽलस्यमभोजनम् ॥ हृदये वेदना चास्य गात्रञ्च परिशुष्यति ॥ ६९९ ॥

विषैली ओषधियों के गन्ध सूंघने से उत्पन्न हुए ज्वर में मूर्च्छा, शिर में पीडा तथा वमन होता है । और अभिलषित स्त्री को न प्राप्त करने से काम के वेग से उत्पन्न हुए ज्वर में चित्तविभ्रंश (चित्त में व्याकुलता), तन्द्रा, आलस्य और भोजन न करना, हृदय में वेदना और गात्रों में शोष (अङ्गों का सूखना) ये सब लक्षण प्रगट होते हैं ॥ ६९९ ॥

***कामजे = समीहितकान्ताऽऽप्राप्तिनिमित्तके ज्वरे । चकाराद्वाग्भटोक्तान्यपि लक्षणानि बोद्धव्यानि तानि यथा—**

***"कामाद् भ्रमोऽरुचिर्दाहो ह्रीनिद्राधीधृतिक्षयाः" ॥ १०० ॥ इति ॥ ६९९ ॥**

यहां पर "कामजे" पद का "अभिलषित स्त्री को न प्राप्त कर सकने से काम वेग से उत्पन्न हुये ज्वर में" यह अर्थ समझना चाहिये, तथा "गात्रञ्च" इस स्थल पर "चकार" का पाठ होने से "वाग्भट" में कहे हुये अन्य भी लक्षणों को समझ लेना चाहिये, जो कि ये हैं—काम से उत्पन्न हुये ज्वर में चित्त में भ्रम, अरुचि और दाह होना तथा लज्जा-निद्रा-बुद्धि और धैर्य का क्षय होना ये सब लक्षण प्रगट होते हैं (१००) ॥ ६९९ ॥

मूर्च्छाङ्गमर्दस्तृष्णनेत्र-चापल्यं कुचवक्त्रयोः । स्वेदः स्याद्धृदि दाहश्च स्त्रीणां कामज्वरे भवेत् ॥७००॥

स्त्रियों के कामज्वर में—मूर्च्छा अङ्गों मे टूटने की सी पीडा, प्यास, नेत्रों में चञ्चलता, कुच (स्तन) तथा मुख मे पसीना और हृदय में दाह होना ये सब लक्षण प्रगट होते हैं ॥ ७०० ॥

छइदमपि इत्रापि कथितमत्र पुनः ॥ ७०० ॥

यहां पर यह और समझना चाहिये कि—यह श्लोक कहीं पर कहा हुआ है यहां पर पुनः उसका उल्लेख किया गया है ॥ ७०० ॥

अथ कामज्वरस्य चिकित्सामाह—

वालकं शतपत्राणि गन्धसारमुशीरकम् । धोउधान्यैयकं मांसी क्वाथः कामज्वरापहः ॥ ७०१ ॥
सन्ध्याया सस्तरः कार्यः सुगन्धैः कुसुमैर्भृशम् । क्रीडनीयं स्वकान्तेन सह रात्रौ तथा स्त्रिया॥७०२॥

कामज्वर की चिकित्सा—सुगन्धवाला, कमल, सफेद चन्दन, खस, दालचीनी, धनियाँ, जटामांसी इन सबों का क्वाथ बना कर पीने से कामज्वर नष्ट होता है। और यदि कामज्वर-पीड़िता स्त्री हो तो वह सायङ्काल हो जाने पर सुगन्धित फलों की शय्या पर बिठा कर उस पर लेटें तथा रात्रि हो जाने पर अपने प्रेमी पुरुष के साथ रमण करें, तो कामज्वर दूर हो जाता है ॥७०१-७०२॥

अथ भयादिजज्वराणां विशेषलक्षणान्याह—

भयात्प्रलापः शोकाच्च भवेत्कोपाच्च वेपथुः ॥ ७०३ ॥

भय आदि से उत्पन्न हुये ज्वरों के विशेष लक्षण—भय से उत्पन्न हुये ज्वर में प्रलाप होता है, और शोक से उत्पन्न हुये ज्वर में भी प्रलाप होता है, और कोप से उत्पन्न हुये ज्वर में कम्प भी होता है ॥ ७०३ ॥

छभयात् = भयजे ज्वरे प्रलाप.। शोकाच्च = चकारेण प्रलाप एवानुकृष्यते । कोपाच्च = कोपादपि वेपथुर्भवति । ननु वेपथुर्वातस्य धर्मस्तत् कथं क्रोधजे ज्वरे वेपथुः ? यत उक्तं—"क्रोधोत्थित पित्तमि"ति ।

छ"एकः प्रकुपितो दोष इतरानपि कोपयेत्"।

छइति वचनात्पित्तकोपितवातजन्य एवात्र वेपथुः । क्रोधाद्वायुरपि भवति । यत उक्तं विदेहेन—"क्रोधशोकौ स्मृतौ वात-पित्तरक्तप्रकोपणौ" ॥ १०१ ॥ इति ॥ ७०३ ॥

यहां पर "भयात्" पद का "भय से उत्पन्न हुये ज्वर में" यह अर्थ समझना चाहिये। "शोकाच" इस स्थल पर "च" का पाठ होने से "प्रलाप" का अनुकर्षण कर के "शोक से उत्पन्न हुये ज्वर में भी प्रलाप होता है" यह अर्थ किया गया है। और "कोप से उत्पन्न हुये ज्वर में कम्प होता है" यह जो कहा गया है, उसमें यह शङ्का होती है कि—जब कम्प होना यह धर्म वायु का है तब क्रोध-जनित ज्वर में कम्प होना कैसे कहा गया है ? क्योंकि अन्यत्र कहा हुआ है कि—"क्रोध से पित्त प्रकुपित होता है" इस के उत्तर में यह कहते हैं कि—यद्यपि क्रोधजनित ज्वर में पित्त ही प्रकुपित होता है तथापि "एक दोष प्रकुपित हो कर अन्य दोषों को भी प्रकुपित कर देता है" इस वचन के अनुसार प्रथम प्रकुपित हुए पित्त के द्वारा प्रकुपित किये हुए वायु के कारण से उत्पन्न हुआ यहां कम्प समझना चाहिये। और क्रोध से वायु भी प्रकुपित होता है, क्योंकि "विदेह" ने भी कहा है कि-क्रोध और शोक को वात, पित्त तथा रक्त को प्रकुपित करने वाला माना गया है (१०१) ॥७०३॥

भूताभिषङ्गादुद्वेगो हास्यरोदनकम्पनम् । केचिद्भूताभिषङ्गोत्थं ब्रुवते विषमज्वरम् ॥७०४॥

भूताभिषङ्ग (भूतादिक के आवेश) से उत्पन्न हुये ज्वर में—चित्त में उद्वेग, हसी, रुलाई तथा कम्प ये सब लक्षण प्रगट होते हैं। और कोई २ आचार्य यह कहते हैं कि—भूताभिषङ्ग से उत्पन्न हुआ ज्वर विषम होता है ॥ ७०४ ॥

छभूताभिषङ्गोत्थो विषमज्वरो भवति, कदा चिदुद्वेगवान् कदा चिच्छान्तवेग इत्यर्थः॥७०४॥

यहां पर "भूताभिषङ्ग से उत्पन्न हुआ ज्वर विषम होता है" इसके कहने से यह समझना चाहिये कि—ज्वर विषम होता है अर्थात् कभी अधिक वेग से युक्त हो जाता है और कभी शान्तवेग हो जाता है ॥ ७०४ ॥

अभिचाराभिशापाभ्यां मोहस्तृष्णा च जायते ॥ ७०५ ॥

अभिचार तथा अभिशाप से उत्पन्न हुये ज्वर में मोह और तृषा (प्यास) उत्पन्न होती है ॥७०५॥

छतृष्णा चेति चकारेण हारीतानुवादिवाग्भटोक्तश्च बोद्धव्यम् । तद्यथा—

तत्राभिचारिकैर्मन्त्रैर्हूयमानस्य तप्यते । पूर्वं मनस्ततो देह-स्ततो विस्फोटतृड्भ्रमैः ॥
सदाहमूर्च्छाग्रस्तस्य प्रत्यहं वर्द्धते ज्वरः । १०२ ॥ इति ॥ ७०५ ॥

यहाँ पर "तृष्णा च" इस स्थल पर "च" का पाठ होने से "हारीतसंहिता" का अनुवाद स्वरूप "वाग्भट" में कहा हुआ जो लक्षण है उसे भी समझ लेना चाहिये, जो कि यह है—अभिचार कर्म करने वाले जब मन्त्रों द्वारा जिस व्यक्ति के लिये हवन करते हैं तब उसके प्रथम मन में सन्ताप होता है उसके बाद शरीर में ताप (ज्वर) होता है। तदुपरान्त विस्फोटक, प्यास और भ्रम होता है तथा दाह और मूर्च्छा से युक्त होता हुआ उसका ज्वर प्रतिदिन बढता जाता है (१०२) ॥ ७०५ ॥

अथागन्तुज्वराणां चिकित्सामाह—

आगन्तुजे ज्वरे नैव नरः कुर्वीत लङ्घनम् ॥ ७०६ ॥

आगन्तुक ज्वरों की चिकित्सा—आगन्तुक कारणों से उत्पन्न हुये पूर्वोक्त ज्वरों में रोगी को लङ्घन (उपवास) नहीं करना चाहिये ॥ ७०६ ॥

***तथा च वाग्भटः—**

***शुद्धवातक्षयागन्तुजीर्णज्वरिषु लङ्घनम् ॥ १०३ ॥**

यहाँ पर यह और समझना चाहिये कि—वाग्भट ने भी कहा है कि—शुद्ध वातजन्य ज्वर, क्षयजन्य ज्वर, आगन्तुक ज्वर तथा जीर्ण ज्वर में लङ्घन नहीं करना उचित है ॥ १०३ ॥

***नेष्यत इति शेषः ॥ १०३ ॥ ७०६ ॥**

यहां पर मूल में "नेष्यते" पद नहीं है, अतः उसका ऊपर से प्रकरणवश आक्षेप करके "नहीं करना उचित है" यह अर्थ किया गया है ऐसा समझना चाहिये (१०३) ॥ ७०६ ॥

अन्यच्च—

लङ्घनं न हितं काम-शोकचिन्ताप्रहारजे। भयभूतश्रमक्रोध-लङ्घनैश्च कृते ज्वरे ॥
किन्त्वग्नौ दीपिते तत्र दद्यान्मांसरसौदनम्। अभिघातज्वरे युञ्ज्यात् क्रियामुष्णविवर्जिताम् ७०७
कषायं मधुरं स्निग्धं यथादोषमथापि च। अभिघातज्वरो नश्येत् पानाभ्यङ्गेन सर्पिषः ॥
रक्तावसेकैर्मेध्यैश्च तथा मांसरसौदनैः ॥ ७०८ ॥

और भी कहा है कि—काम, शोक, चिन्ता तथा प्रहार (लाठी आदि का चोट) से उत्पन्न हुये ज्वर में एवम् भय, भूतावेश, परिश्रम, क्रोध और लङ्घन (उपवास) से उत्पन्न हुये ज्वर में भी लङ्घन (उपवास) कराना हितकर नहीं होता है। किन्तु यदि रोगी का अग्नि प्रदीप्त हो तो मांसरस (सोरुवा) के साथ भात खाने के लिये देना चाहिये। अभिघातजन्य ज्वर में उष्ण-वर्जित उपचार करना चाहिये और दोषानुसार कषाय (कसैला), मधुर तथा स्निग्ध द्रव्यों का उपयोग करना चाहिये। एवम् गाय का घी पीने तथा मालिश करने से और रक्त निकलवाने से, मेधाशक्ति के लिये हितकारक पदार्थ तथा मांसरस के साथ भात खाने के लिये देने से अभिघात ज्वर नष्ट होता है ॥ ७०७–७०८ ॥

***मेध्यैः = मेधायै हितैः ॥ ७०७—७०८ ॥**

यहाँ पर "मेध्यै" पदका "मेधाशक्तिके लिये हितकारक पदार्थ" अर्थ समझना चाहिये ॥७०७–७०८॥

व्यधबन्धश्रमाध्व-भङ्गभ्रंशसमुद्भवान्। ज्वरानुपाचरेत्पूर्वं क्षीरमांसरसौदनैः ॥ ७०९ ॥

पीटने अथवा कान आदि के छेदने से, बाधने से, परिश्रम से, अधिक मार्ग चलने से, अङ्ग छिद जाने या टूट जाने आदि से और वृक्षादिक ऊँचे स्थानों से गिर पडने से उत्पन्न हुये ज्वर में प्रथम दूध अथवा मांसरस (सोरुवा) के साथ भात खिलाने के द्वारा रोगी का उपचार करना चाहिये ॥७०९॥

***व्यधः = ताडनं कर्णादिवेधो वा। भङ्गः = छेदभेदादिकः। भ्रंशो = वृक्षादितः पतनम् ॥७०९॥**

यहां पर "व्यध" पद का "पीटना अथवा कान आदि का छेदना"। "भङ्ग" पद का "अङ्ग छिद जाना या टूट जाना आदि"। "भ्रंश" का "वृक्षादिक ऊंचे स्थानों से गिर पडना" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ७०९ ॥

अध्वश्रान्तेषु वाऽभ्यङ्गं दिवा निद्राञ्च कारयेत् ॥ ७१० ॥
ओषधीगन्धविषजौ विषपित्तप्रबाधनैः। जयेत्कषायैर्मतिमान् सर्वगन्धकृतैर्भिषक् ॥७११॥

मार्ग चलने से थके हुये लोगों को शरीर में तेल आदि की मालिश करवाना चाहिये और दिन में सोना चाहिये। और विषैली ओषधियों के गन्ध सूघने से तथा विषभक्षण से उत्पन्न हुये ज्वर में बुद्धि-

मान् वैद्य रोगी को विष तथा पित्त नाशक द्रव्यों तथा सर्वगन्ध-संज्ञक द्रव्यों का क्वाथ पिला कर ज्वर को दूर करे ॥ ७१०-७११ ॥

अथ सर्वगन्धमाह—

चातुर्जातककर्पूर-कक्कोलागुरुकुङ्कुमम् । लवङ्गसहितञ्चैव सर्वगन्धं विनिर्दिशेत् ॥ ७१२ ॥

सर्वगन्धसंज्ञक द्रव्य—चातुर्जातक (बड़ी इलायची, तेजपात, दालचीनी तथा नागकेशर), कपूर, शीतलचीनी, अगर, केशर तथा लौंग इन सबों के समुदाय को "सर्वगन्ध" कहते हैं । अर्थात् "सर्वगन्ध" कहने से इन्हीं सब द्रव्यों का बोध करना चाहिये ॥ ७१२ ॥

क्रोधजे पित्तजित्कार्यं धार्यं सद्वाक्यमेव च ।
आश्वासेनेष्टलाभेन वायोः प्रशमनेन च । हर्षणैश्च शमं यान्ति कामक्रोधभयज्वराः ॥ ७१३ ॥

क्रोधजन्य ज्वर में पित्तनाशक क्रियायें करनी चाहियें और सद्वाक्य (सत्पुरुषों के उपदेशयुक्त वाक्य) धारण करना चाहिये अर्थात् उपदेशानुसार विचार स्थिर रखना चाहिये । और काम, क्रोध तथा भयजन्य ज्वर आश्वासन वाक्यों द्वारा धीरज बँधाने से, इष्ट वस्तु के पाने से, वायु का शमन होने से तथा हर्ष उत्पन्न करने वाले वार्ताओं या कार्यों के करने से शान्त होते हैं ॥ ७१३ ॥

कामैरथ मनोघ्नैश्च पित्तघ्नैश्चाप्युपक्रमैः । सद्वाक्यैश्च शमं याति ज्वरः क्रोधसमुत्थितः॥७१४॥

और कामविषयक व्यापारों से, धिक्कार आदिक अथवा भयजनक वचनों से, पित्तनाशक उपचारों से तथा सद्वाक्यों (सदुपदेशों) से क्रोधजन्य ज्वर शान्त हो जाता है ॥ ७१४ ॥

कामैः=कामविषयैः । मनोघ्नैः=धिक्कारादिभिर्भयजनकवचनैर्वा ॥ ७१४ ॥

यहाँ पर "कामैः" पद का "कामविषयक व्यापारों से" । "मनोघ्नैः" पद का "धिक्कार आदिक अथवा भयजनक वचनों से" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ७१४ ॥

कामात्क्रोधज्वरो नश्येत् क्रोधात्कामज्वरस्तथा। वातिताभ्यामुभाभ्याञ्च कामक्रोधज्वरद्वयः॥७१

काम से (काम का उदय होने से) क्रोधज्वर नष्ट हो जाता है, और क्रोध से कामज्वर नष्ट हो जाता है । तथा मन में काम तथा क्रोध दोनों को रोक देने से कामज्वर तथा क्रोधज्वर दोनों ही नष्ट हो जाते हैं ॥ ७१५ ॥

वातिताभ्यामुभाभ्यां=मनसि निगृहीताभ्यां कामक्रोधाभ्याम् ॥ ७१५ ॥

यहा पर "वातिताभ्यामुभाभ्याम्" इन पदों का "मन में काम तथा क्रोध दोनों को रोक देने से" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ७१५ ॥

भूतविद्यासमुद्दिष्टै-र्बन्धावेशनताडनैः । जयेद्भूताभिषङ्गोत्थं मनःशान्त्या च मानसम्॥७१६॥

भूताभिषङ्ग (भूतादिबाधा) जन्य ज्वर को भूतविद्या में कहे हुये बन्धन, आवेशन और ताडन आदि क्रियाओं के द्वारा दूर करना चाहिये । और मन में शान्ति लाने के द्वारा मानस ज्वर को दूर करना चाहिये ॥ ७१६ ॥

ताडनैरित्यस्य स्थाने के चित्पूजनैरिति पठन्ति ॥ ७१६ ॥

यहा पर "ताडन" पद के स्थान पर कोई २ आचार्य "पूजन" का पाठ करते हैं, अतः पूजन द्वारा भी भूताभिषङ्गजन्य ज्वर दूर किया जाता है" यह भी समझना चाहिये ॥ ७१६ ॥

सहदेवाया मूलं विधिना कण्ठे निबद्धमपहरति । एकद्वित्रिचतुर्भि-र्दिवसैर्भूतज्वरं पुंसाम्॥७१७॥
अभिचाराभिशापोत्थौ ज्वरौ होमादिभिर्जयेत् । दानस्वस्त्ययनातिथ्यै-रुत्पातग्रहदुष्टिजौ ॥७१८॥

इत्यागन्तुज्वराधिकारः ।

विधिपूर्वक सहदेवी की जड़ रोगी के कण्ठ में बांध कर रखने से एक, दो, तीन अथवा चार दिन में भूताभिषङ्गजन्य ज्वर दूर हो जाता है । अभिचार तथा अभिशाप से उत्पन्न हुए ज्वर को होमादिक करने से दूर करना चाहिये और उत्पात तथा ग्रहों के दोष से उत्पन्न हुये ज्वर को दान देने से स्वस्तिवाचन कराने से तथा अतिथिसत्कार करने से दूर करना चाहिये ॥ ७१७-७१८ ॥

अथ विषमज्वराधिकारः ।

तत्र विषमज्वरसम्प्राप्तिमाह—

दोषोऽल्पोऽहितसम्भूतो ज्वरोत्सृष्टस्य वा पुनः । धातुमन्यतमं प्राप्य करोति विषमज्वरम् ॥७१९॥

विषमज्वर के अधिकार में विषमज्वर की सम्प्राप्ति—ज्वर से मुक्त हुये अर्थात् जिस का ज्वर छूट

गया है ऐसे व्यक्ति के अहितकारक आहार, विहारादिक के आचरण करने से थोडे बलवाले वातादिक दोष पुनः बल प्राप्त करते हुये उसके रस, रक्तादिक धातुओं में से किसी एक धातु को दूषित कर पुनः विषमज्वर को उत्पन्न करते हैं(१) ॥ ७१९ ॥

छतत्र विषमज्वरस्य निदानकथनपूर्विकां संप्राप्तिमाह—दोष इति। अयमर्थः—ज्वरोत्सृष्टस्य = ज्वरेण त्यक्तस्य। सन्निकृष्टहेतुमाह—दोषोऽल्पः = ज्वरमुक्तः स्वल्पोऽपि। विप्रकृष्टहेतुमाह—अहितम् = आहारविहारादि, तेन सम्भृतः = सम्पूर्णो जातः।

यहां पर यह और भी समझना चाहिये कि—इस श्लोक में विषमज्वर के निदानों को प्रथम कहते हुये उसकी सम्प्राप्ति को भी कहते हैं। और "ज्वरोत्सृष्टस्य" पदका "ज्वर से मुक्त हुये व्यक्ति के" यह अर्थ समझना चाहिये। और "थोडे बलवाले वातादिक दोषों को" सन्निकृष्ट कारण तथा "अहितकारक आहार, विहारादिकों को" विप्रकृष्ट कारण समझना चाहिये।

अन्यतम धातुं = रसरक्तादिकम्, प्राप्य = दूषयित्वा, पुनर्विषमज्वरं करोति। ज्वरोत्सृष्टस्य वेति। वाशब्देनेति बोध्यते, प्रथमतो विषमज्वरो भवति। यत उक्तम्—"आरम्भाद्विषमो यस्त्वि"त्यादि ॥ ७१९ ॥

"अन्यतम धातुम्" इन पदों का "रसरक्तादिक धातुओं में से किसी एक धातु को" तथा "प्राप्य" पद का "प्राप्त होकर अर्थात् दूषित करके" यह अर्थ समझना चाहिये। और "ज्वरोत्सृष्टस्य वा" इस स्थल पर "वा" शब्दके प्रयोग करनेसे यह समझना चाहिये कि—प्रथम मे भी विषमज्वर होता है, क्योंकि—शास्त्र में कहा भी है कि—आरम्भसे ही जो विषमज्वर होता है उसे असाध्य जानना चाहिये ॥७१९॥

अथ रसादिधातुविशेषेण विषमज्वरविशेषानाह—

सन्ततं रसरक्तस्थः सततं रक्तधातुगः। दोषः क्रुद्धो ज्वरं पुंसां सोऽन्येद्युः पिशिताश्रितः ॥७२०॥
मेदोगतस्तृतीयेऽह्नि अस्थिमज्जगतः पुनः। कुर्याच्चातुर्थिकं घोरमन्तकं रोगसङ्करम् ॥७२१॥

रसादिक धातुविशेष के दूषित होने से विषमज्वर विशेष—ज्वरमुक्त रोगी के स्वल्पबलवाले वातादिक दोष अहितकारक आहार तथा विहारादिक के द्वारा पुनः बल प्राप्त करते हुये यदि रस धातु को दूषित करते हैं तो सन्तत नामक विषमज्वर होता है। इसी भांति रक्त धातु को दूषित करने से "सतत" नामक विषमज्वर, मांसधातु को दूषित करने से "अन्येद्युष्क" नामक विषमज्वर, मेद धातु को दूषित करने से "तृतीयक" नामक विषमज्वर और अस्थि (हड्डियां) तथा मज्जा को दूषित करने से मारने वाला होने से यमराज के समान अत्यन्त भयङ्कर अनेक रोगों (उपद्रवों) से युक्त "चातुर्थिक" नामक ज्वर उत्पन्न होता है ॥ ७२०–७२१ ॥

छअन्तकमिव मारकत्वात् ॥ ७२०-७२१ ॥

---

(१) विषमज्वर की सम्प्राप्ति के विषय में पाश्चात्य-विज्ञान वेत्ताओं का मत यह है कि—यह ज्वर एक प्रकार के मच्छर (एनाफलीज नामक) के काटने से उत्पन्न होता है। यह मच्छर प्रायः रात ही में मनुष्य को काटता है। मच्छर दंश के साथ ही साथ एक प्लैज्मोडियम (जिसकी चार जातियां होती हैं) नाम के इस रोग के कारण-भूत जीवाणु को रक्त में प्रविष्ट कर देता है। ये जीवाणु रक्त के लाल कणों को आक्रान्त करके अपना जीवन निर्वाह करते हैं। इनके संक्रमण से मनुष्य विषमज्वर से पीडित होता है।

इन जीवाणुओं की चार जातियां अभी तक ज्ञात हुई हैं—

१—प्लैज्मोडियम वाईवैक्स Plasmodium vivax,

२—प्लैज्मोडियम मैलेरी Plasmodium malariae·

३—प्लैज्मोडियम फैल्सी पैरम Plasmodium falciparum,

४—प्लैज्मोडियम ओवेल Plasmodium ovale

अन्तिम प्रकार के जीवाणु का अभी नवीन अन्वेषण हुआ है। प्लैज्मोडियम वाईवैक्स से साधारण तृतीयक ज्वर Benign Tertian उत्पन्न होता है तथा प्लैज्मोडियम मैलेरीसे चतुर्थक (Quartan fever) एवम् प्लैज्मोडियम मैलेरीसे घातक तृतीयक ज्वर Malignant Tertian fever उत्पन्न होता है। इसके अतिरिक्त अन्येद्युष्क-चातुर्थिक विपर्यय आदि और भी उपजातियां पाई जाती हैं। इनसे शीत के साथ ज्वर उत्पन्न होता है।

यहां पर "अन्तकम्" पद का "मारने वाला होने से यमराज के समान" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ७२०–७२१ ॥

अथ विषमज्वरस्य सामान्यलक्षणमाह—

यः स्यादनियतात्काला-च्छीतोष्णाभ्यां तथैव च। वेगतश्चापि विषमो ज्वरः स विषमः स्मृतः॥७२२

विषमज्वर के सामान्य लक्षण—जो ज्वर अनियत काल से होता है अर्थात् जिसके होने का कोई समय निर्दिष्ट नहीं रहता है और जिस ज्वर में शीत (सर्दी) तथा उष्ण (गर्मी) एक रूप से स्थिर नहीं रहता है एवम् जिस ज्वर का वेग भी विषम होता है उसे "विषमज्वर" कहते हैं ॥ ७२२ ॥

***यस्त्वनियतात्कालात्स्यादित्यस्यायमर्थः—यथा वातिको ज्वरः सप्तदिनानि, पैत्तिको दशदिनानि, श्लेष्मिको द्वादशदिनानि। दोषाणां प्राबल्यैर्वातिकश्चतुर्दशदिनानि, पैत्तिको विंशतिदिनानि, श्लैष्मिकश्चतुर्विंशतिदिनानि स्यात्। तथा विषमज्वरो नियतं कालं व्याप्य न स्यादित्यर्थः। शीतोष्णाभ्यां गुणाभ्यामपि तथा स्यात्। वेगतश्चापि विषमः कदाचिद्तिवेगवान्, कदाचिच्छान्तवेगः ॥ ७२२ ॥**

यहां पर "यस्त्वनियतात्कालात् स्यात्—अर्थात् जो ज्वर अनियत काल से होता है" इस का यह भावार्थ समझना चाहिये कि—जैसे वातज्वर ७ दिन तक, पित्तज्वर १० दिन तक, कफज्वर १२ दिन तक रहता है। तथा दोषों की प्रबलता होने से तो वातज्वर १४ दिन तक, पित्तज्वर २० दिन तक, कफज्वर २४ दिन तक नियमित रूप से बना रहता है। वैसे विषमज्वर नियत काल से व्याप्त होकर नहीं रहता है। और "शीतोष्णाभ्याम्" इस पद का "शीत (सर्दी) व उष्ण गुण के द्वारा विषम होता है अर्थात् जिस ज्वर में शीत व उष्ण एकरूप से स्थिर नहीं रहता है" तथा "वेगतश्चापि विषमः" इन पदों का "जिस ज्वर का वेग भी विषम होता है अर्थात् जो ज्वर कभी अधिक वेगयुक्त (तेज) रहता है और कभी शान्तवेग-युक्त (साधारण) हो जाता है" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ७२२ ॥

अथ विषमज्वरस्य भेदानाह—

सन्ततः सततोऽन्येद्युस्तृतीयकचतुर्थकौ ॥ ७२३ ॥

विषमज्वर के भेद—१ सन्तत, २ सतत, ३ अन्येद्युष्क, ४ तृतीयक, ५ चतुर्थक ये ५ भेद विषमज्वर के होते हैं ॥ ७२३ ॥

अथ सन्ततज्वरस्य लक्षणमाह—

सप्ताहं वा दशाहं वा द्वादशाहमथापि वा। सन्तत्या योऽविसर्गी स्यात् सन्ततः स निगद्यते॥७२४॥

सन्ततज्वर के लक्षण—सात ७ दिन तक वा दश १० दिन तक अथवा बारह १२ दिन तक निरन्तर नहीं उतरने वाला जो विषम ज्वर होता है उसे "सन्तत" ज्वर कहते हैं ॥ ७२४ ॥

***विकल्पो वातादिभेदात्। सन्तत्या = नैरन्तर्येण। अविसर्गी = अपरित्यागी। ननु "मुक्तानुबन्धित्वं विषमत्वमि"ति विषमलक्षणम्, तदत्र न घटत इति कथमयं विषमेषु पठ्यते? घटत एवेति न दोषः। यत उक्तं चरकेण—**

***विसर्गं द्वादशे कृत्वा दिवसे व्यक्तलक्षणः। दुर्लभोपशमः कालं दीर्घमेवानुवर्त्तते॥१०४॥इति।**

यहां पर "सात, दश और बारह दिनोंका जो विकल्प किया है" उसे क्रम से वात, पित्त तथा कफ के भेद से समझना चाहिये। "सन्तत्या" पद का "निरन्तर"। "अविसर्गी" पद का "नहीं परित्याग करने वाला अर्थात् नहीं उतरने वाला" यह अर्थ समझना चाहिये। और यहां पर यह जो शङ्का होती है कि—उतरकर फिर चढ़ आना यह जो लक्षण विषम ज्वर का है, वह इस सन्तत ज्वर में नहीं घटता है क्योंकि यह बराबर बना रहता है, तो फिर इस (सन्तत ज्वर) का विषम ज्वर के मध्य में क्यों उल्लेख किया गया है? इसके उत्तर में यह कहते हैं कि—उक्त विषम ज्वर का तो लक्षण इसमें घटता ही है, अतः कोई दोष नहीं है। क्योंकि कैसे लक्षण इसमें घटता है इस विषय में चरकाचार्य ने यह कहा है कि—सन्तत ज्वर बारहवें दिन रोगी को कुछ काल के लिये छोड़ देता है पुनः कुछ क्षण के बाद इसके लक्षण प्रगट होने लगते हैं। और इसका शान्त होना दुर्लभ हो जाता है तथा इसकी अनुवृत्ति दीर्घ काल तक बनी रहती है अर्थात् यह बहुत दिन तक बना रहता है ॥ १०४ ॥

***यत्तु खरनादेनोक्तम्—**

***ज्वराः पञ्च तु ये प्रोक्ताः पूर्वं सन्ततकादयः।**

चत्वारः सन्ततं हित्वा ज्ञेयास्ते विषमज्वराः ॥ १०९ ॥ इति ।

और जो कि "खरनाद" ने कहा है कि—जो सन्तत आदिक ५ प्रकार के ज्वर कह आये हैं, उनमें से सन्तत ज्वर को छोड कर शेष ४ ज्वरों को विषमज्वर समझना चाहिये ॥ १०५ ॥

***चिरेण त्यागाभिप्रायेण ॥ ७२४ ॥**

यहां पर जो विषम ज्वर के अन्दर सन्ततज्वर को नहीं लिया है, वह वस्तुतः "चिरकाल में यह रोगी का परित्याग करता है अर्थात् उतरता है इसी अभिप्राय से विषम ज्वर के मध्य में नहीं कहा गया है" यह और भी समझना चाहिये ॥ ७२४ ॥

अथ सततज्वरस्य लक्षणमाह—

अहोरात्रे सततको द्वौ कालावनुवर्त्तते ॥ ७२५ ॥

सततज्वर के लक्षण—जो विषम ज्वर दिन तथा रात्रि मे दो काल उतरता तथा चढ़ता है उसे "सततज्वर" कहते हैं ॥ ७२५ ॥

***द्वौ कालौ = अहन्येककालं रात्रावेकालम् । यतो दोषाणामहोरात्रे प्रत्येकं द्वौ द्वौ प्रकोपकालौ । यत उक्तं वाग्भटेन—**

***वयोऽहोरात्रिभुक्तानां—मन्तमध्यादिगाः क्रमात् । इति ॥ ७२५ ॥**

यहां पर "द्वौ कालौ अर्थात् दो काल" का यह भावार्थ समझना चाहिये कि—दिन में एक काल (बार) और रात्रि में एक काल (बार)। क्यों कि प्रत्येक दोषों का दिन तथा रात्रि में प्रकुपित होने का दो २ समय होता है अर्थात् एक दिन में और एक रात्रि में होता है। और इसी लिये वाग्भट ने भी कहा है कि—"अवस्था (बाल्य, युवा, वृद्ध), दिन, रात्रि, भोजन इन सबों के अन्त, मध्य तथा आदि के काल क्रम से वात, पित्त तथा कफ के कुपित होने के काल हैं। इससे दिन में एक बार तथा रात्रि में एक बार इस भांति दिन रात्रि में दो बार प्रकुपित होने का काल कहा गया है ॥ ७२५ ॥

अथान्येद्युष्कज्वरस्य लक्षणमाह—

अन्येद्युष्कस्त्वहोरात्रा—देककालं प्रवर्त्तते ॥ ७२६ ॥

अन्येद्युष्क ज्वर के लक्षण—जो विषमज्वर दिन तथा रात्रि के मध्य में केवल एक ही बार आता है उसे "अन्येद्युष्क" अर्थात् इकतरा ज्वर कहते हैं ॥ ७२६ ॥

***एककालं = दोषापेक्षया एककालमपि द्वितीय, प्रथमकाले हृद्येव दोषस्थितेः ॥ ७२६ ॥**

यहां पर "एककालम् अर्थात् एक ही बार" का यह भावार्थ समझना चाहिये कि—यह ज्वर दोषों की अपेक्षा करने से दिन रात्रि में एक ही बार आता है किन्तु वह भी अपने (दोषों के) प्रकुपित होने के प्रथम काल को छोड कर दूसरे प्रकुपित होने के काल में आता है, क्यों कि प्रथम काल मे दोष की स्थिति हृदय मे ही रह जाती है अत. दूसरे समय में बाहर देख पडती है" यह और समझना चाहिये ॥ ७२६ ॥

अथ तृतीयकचतुर्थकज्वरयोर्लक्षणमाह—

तृतीयकस्तृतीयेऽह्नि चतुर्थेऽह्नि चतुर्थकः ॥ ७२७ ॥

तृतीयक तथा चतुर्थक ज्वर के लक्षण—जो विषमज्वर तीसरे दिन आता है उसे "तृतीयक अर्थात् तिजारी" ज्वर कहते हैं। और जो चौथे दिन आता है उसे "चतुर्थक—अर्थात् चौथिया" ज्वर कहते हैं ॥ ७२७ ॥

***"तृतीयेऽह्नि" इत्यागमनदिनं गृहीत्वा । यत उक्तम्—**

***दिनमेकमतिक्रम्य यो भवेत्स तृतीयकः ।**

दिनद्वयं त्वतिक्रम्य यः स्यात्स हि चतुर्थकः ॥ १०६ ॥ इति ॥ ७२७ ॥

यहां पर "तृतीयेऽह्नि अर्थात् तीसरे दिन" यह कहने से "आने वाले दिन को लेकर तीसरे दिन" समझना चाहिये। क्योंकि अन्यत्र कहा भी है कि—एक दिन का अन्तर देकर जो ज्वर आता है उसे तृतीयक (तिजारी) समझना चाहिये, और जो दो दिन का अन्तर देकर आता है उसे "चतुर्थक (चौथिया) समझना चाहिये (१०६) ॥ ७२७ ॥

अत्र सुश्रुतप्रमाणमाह—

कफस्थानविभागेन यथासंख्यं करोति हि । सततान्येद्युस्तृतीय—चतुर्थकप्रलेपकान् ॥

अहोरात्रादहोरात्रात् स्थानात्स्थानं प्रपद्यते । दोष आमाशयं प्राप्य करोति विषमज्वरम् ॥७२८॥

उक्त ज्वरों के होने के विषय में सुश्रुत के प्रमाण वचन—कफ के स्थानविषयक विभाग के अनुसार दोष यथाक्रम से १ सतत, २ अन्येद्युष्क, ३ तृतीयक, ४ चतुर्थक ५ प्रलेपक ज्वर को उत्पन्न करता है। जैसे कि—दोष एक २ अहोरात्र (दिन रात्रि) में एक स्थान से दूसरे स्थान में पहुंचता है, अतः इस भांति से जब वह एक स्थान से दूसरे स्थान में पहुंचता हुआ आमाशय में प्राप्त होता है तब उक्त विषमज्वरों को उत्पन्न करता है ॥ ७२८ ॥

*अयमर्थः–आमाशयोरःकण्ठशिरःसन्धयः पञ्च कफस्थानानि, एषु तिष्ठन्दोषो यथासंख्यं सततादीन्करोति। तत्रामाशये स्थितो दोषः—सततं करोति द्वौ कालौ, अहोरात्रे कालद्वये दोषप्रकोपात्। हृदये स्थितो दोष आमाशयमागत्य अन्येद्युष्कं करोति। एककाल नैकदैकस्मिन्नेवाहोरात्रे दोष आमाशयमागत्य अन्येद्युष्कं करोति। तत्र द्वौ दोषप्रकोपकालौ, एकस्मिन्काले हृदये तिष्ठति, अपरस्मिन्नामाशय इति। कण्ठे स्थितो दोषोऽहोरात्राद्धृदयमायाति। तृतीये दिने आमाशयमागत्य स्वप्रकोपकाले तृतीय ज्वरं करोति, एककाल न तु द्वौ कालौ स्वभावाद्। एवमेव शिरःस्थितो दोषोऽहोरात्रात् कण्ठमायाति, ततः पुनरहोरात्राद्धृदयमायाति, चतुर्थे दिने आमाशयमागत्य स्वप्रकोपकाले चतुर्थकं ज्वरं करोति, एककाल न तु द्वौ कालौ स्वभावादेव। ननु दोषस्यागमनं क्रमेण निजस्थानगमनक्रमात् कथं तृतीयचतुर्थदिवसयोर्ज्वरागमनम्? उच्यते—दोषो हि प्रकोपसमये वेग(१) परित्यज्य लाघवात् स्वस्थानं तु वेगदिन एव याति। यत आह—

*दोषः प्रकोपकाले हि वेगवत्त्वेन लाघवात्। वेगवासर एवायं स्वस्थानमधिगच्छति ॥ १०७ ॥

यहां पर इसका स्पष्टार्थ यह समझना चाहिये कि—१ आमाशय, २ उरःस्थल (छाती), ३ कण्ठ, ४ शिर, ५ सन्धिस्थान ये ५ कफ के स्थान हैं। इन स्थानों में स्थित हुआ दोष क्रम से सतत आदिक पूर्वोक्त ज्वरों को उत्पन्न करता है। इनमें से जब आरम्भ से ही आमाशय में दोष स्थित रहता है तब दिन रात्रि में दो बार सतत नामक ज्वर को उत्पन्न करता है। क्योंकि एक दिन तथा एक रात्रि में इस प्रकार से एक अहोरात्र (दिन रात्रि) में दो बार दोषों के प्रकोप का काल रहता है। हृदय में स्थित दोष आमाशय में आकर एक बार "अन्येद्युष्क" ज्वर को उत्पन्न करता है। किन्तु एक ही अहोरात्र में एक काल में दोष आमाशय में आकर अन्येद्युष्क को नहीं करता है। क्योंकि एक अहोरात्र में दोषों के प्रकुपित होने के दो काल होते हैं, उनमें प्रथम प्रकोपकाल में दोष हृदय में स्थित रहता है तदुपरान्त दूसरे प्रकोपकाल में आमाशय में पहुंचता है और तभी ज्वर उत्पन्न करता है। कण्ठ में स्थित दोष प्रथम दिन प्रकोपकाल में कण्ठ में ही रहकर एक अहोरात्र में अर्थात् दूसरे दिन हृदय में आता है, उसके बाद तीसरे दिन हृदय से आमाशय में पहुंच कर अपने प्रकोपकाल में तृतीयक ज्वर (तिजारी) को उत्पन्न करता है। किन्तु एक ही बार उत्पन्न करता है न कि दो बार, क्योंकि यही इसका स्वभाव है। इसी प्रकार से शिर में स्थित दोष, प्रथम दिन अपने प्रकोपकाल में शिर में ही रह कर वहां से एक अहोरात्र में अर्थात् दूसरे दिन कण्ठ में आता है। पुनः एक अहोरात्र में अर्थात् तीसरे दिन हृदय में पहुंचता है। इसके बाद चौथे दिन आमाशय में पहुंचकर अपने प्रकोपकाल में चतुर्थक (चौथिया) ज्वर को उत्पन्न करता है। वह भी एक ही बार न कि दो बार। क्योंकि ऐसा इसका स्वभाव ही है। अब यहां पर यह शङ्का होती है कि—अपने स्थानों से आमाशय में दोषों का पहुंचना जिस क्रम से अर्थात् जितने समय में होता है, उसी क्रम से अर्थात् उतने ही समय में पुनः अपने स्थान पर लौटने में भी होना चाहिये। जब कि यह नियम है तब तीसरे तथा चौथे दिन ज्वर का आना कैसे संभव हो सकता है? इसके उत्तर में कहते हैं कि—दोष प्रकोप के समय अत्यन्त वेग वाले होने से क्रम को छोड़ कर लाघव से अपने स्थान को वेग वाले दिन ही चले जाते हैं, और अन्यत्र कहा भी है कि—दोष प्रकोप के समय में अत्यन्त वेग वाला होने से अति शीघ्रता से वेग वाले दिन ही अपने स्थान में पहुंच जाते हैं(२) ॥ १०७ ॥

---

(१) "वेगमि"त्यत्र "वेगवत्त्वेन क्रमम्" इति पाठः समुचितः प्रतिभाति। इति वि० का०।

(२) पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार यह रोग प्लैज्मोडियम नाम के जीवाणु से उत्पन्न होता है। ये जीवाणु रक्त के अन्दर स्थित लाल कणों को आक्रान्त करते हैं तथा उसी को खाकर बढ़ते हैं। एक जीवाणु (स्पोरोजाइट) एक लाल कण को आक्रान्त करता है। फिर वह जब पूर्ण प्रौढ हो जाता है

*सन्धिषु स्थितो दोषः प्रलेपकं करोति। सन्धयश्चामाशयेऽपि सन्ति, तेषु स्थितः प्रलेपकं सर्वदा करोति ॥ ७२८ ॥

सन्धियों में स्थित दोष प्रलेपक ज्वर को उत्पन्न करता है। और सन्धियां आमाशय में भी होती हैं, अतः उनमें स्थित दोष प्रलेपक ज्वर को सर्वदा करता है ॥ ७२८ ॥

निवृत्तः पुनरायाति विषमो नियते दिने। स्वभावं कारणं तत्र मन्यन्ते मुनिपुङ्गवाः ॥ ७२९ ॥

विषमज्वर निवृत्त होकर के भी पुनः अपने नियत दिन पर जो आता (उत्पन्न होता) है, उसमें "उसका स्वभाव ही कारण है" ऐसा मुनि लोग मानते हैं ॥ ७२९ ॥

*स्वभावस्य कारणत्वे कफस्थानविभागनिरपेक्षाश्चतुर्थकादिविपर्यया अपि ज्वराः स्वस्वकाले प्रभवन्ति ॥ ७२९ ॥

यहां पर यह और समझना चाहिये कि—स्वभाव ही कारण होने से कफ के स्थान सम्बन्धी विभागों की अपेक्षा नहीं रखते हुये चतुर्थकादि ज्वरों के विपरीत क्रम से होने वाले अन्य भी विषमज्वर निवृत्त होकर के भी अपने २ समय में पुनः उत्पन्न हो जाते हैं ॥ ७२९ ॥

अधिशेते यथा भूमिं बीजं काले प्ररोहति। अधिशेते तथा धातून् दोषः काले प्रकुप्यति ॥७३०॥

बीज जिस भांति पृथ्वी के अन्दर पड़े रहते हैं और जब उपयुक्त समय आता है तब उत्पन्न (अङ्कुरित) हो जाते हैं। उसी भांति से दोष भी रसादिक धातुओं के अन्दर छिपे रहते हैं और जब उपयुक्त समय आता है तब प्रकुपित हो जाते हैं ॥ ७३० ॥

सुश्रुतोऽप्याह—

स चापि विषमो देहं न कदाचित्प्रमुञ्चति। ग्लानिगौरवकार्श्येभ्यः स यस्मान्न प्रमुच्यते ॥७३१॥
वेगे तु समतिक्रान्ते गतोऽयमिति लक्ष्यते। धात्वन्तरेषु लीनत्वात् सौक्ष्म्यान्नैवोपलभ्यते ॥७३२॥

इसी विषय में सुश्रुत भी कहते हैं कि—वह विषमज्वर रोगी के शरीर को कभी भी नहीं छोड़ता है, क्योंकि उसके शरीर को ग्लानि, गुरुता (भारीपन) तथा कृशता से छुटकारा नहीं मिलता है। और वेग समाप्त होने पर "ज्वर चला गया" ऐसी प्रतीति मात्र होती है, वस्तुतस्तु धातुओं के मध्य में वह ऐसा लीन हो जाता है कि सूक्ष्मतावश प्रत्यक्ष नहीं होता है ॥ ७३१–७३२ ॥

अथ द्विदोषोल्वणतृतीयकज्वरस्य लक्षणमाह—

कफपित्तात्त्रिकग्राही पृष्ठाद्वातकफात्मकः। वातपित्ताच्छिरोग्राही त्रिविधः स्यात्तृतीयकः ॥७३३॥

द्विदोषोल्वण तृतीयक ज्वर के लक्षण—कफ तथा पित्त जिसमें कुपित होता है ऐसे तृतीयक ज्वर आने के समय प्रथम त्रिकस्थान (कटि तथा मेरुदण्ड का सन्धि स्थल) में पीडा होती है। और वातकफ-प्रधान तृतीयक ज्वर में जब दोष कुपित होता है तब प्रथम पीठ में पीडा व्याप्त होती है, एवम् वातपित्त-प्रधान तृतीयक में प्रथम मस्तक में पीडा होती है तदुपरान्त ज्वर होता है। इस प्रकार से दो २ दोषों के कुपित होने से तृतीयक ज्वर तीन प्रकार का होता है ॥ ७३३ ॥

*त्रिकग्राही = वेदनया त्रिकं गृह्णातीत्यर्थः। वातकफात्मकः पृष्ठाद् = ल्यपया पृष्ठं व्याप्य भवतीत्यर्थः। "ल्यब्लोपे कर्मण्यधिकरणे चे"ति सूत्रेण पञ्चमी ॥ ७३३ ॥

तब उससे कई छोटे २ जीवाणु (मीरोजाइट) बनते हैं। ये जीवाणु रक्त कण (R. B. C.) का नाश, करके बाहर निकलते हैं और दूसरे नये कण में प्रविष्ट होते हैं। जीवाणु जिस समय रक्तकण को खाकर बाहर निकलते हैं उस समय शीत के पश्चात् ज्वर चढता है। इस प्रकार इन जीवाणुओं का चक्र (Cycle) चलता है। प्रत्येक जीवाणु का इस प्रकार का चक्र नियत समय में समाप्त होता है। तृतीयक का तीसरे दिन चातुर्थिक का चौथे दिन चक्र समाप्त होता है। अर्थात् तृतीयक के जीवाणु यदि आज किसी समय रक्तकण में प्रविष्ट होंगे तो रक्तकण के अन्दर उनकी वृद्धि, विभजन तथा रक्तकणों को विदीर्ण करके बाहर निकलने में ४८ घण्टे का समय लगेगा। अतः तीसरे दिन ज्वर का आवेग आयेगा। इनमें ध्यान देने की बात यह है कि शरीर के अन्दर जितने जीवाणु होंगे वे सभी एक ही साथ रक्तकण में प्रवेश करेंगे तथा परिवर्द्धित होने के बाद विभाजित होकर फिर एक साथ ही रक्तकण से बाहर भी निकलेंगे। अतः ज्वर के आवेग का समय भी एक नियत होगा। जैसे तृतीयक (Benign Tertian) में तीसरे दिन, चातुर्थिक (Quartan fever) में चौथे ही दिन आवेग होगा। बीच में नहीं हो सकता।

यहां पर "त्रिकग्राही" पद का "त्रिकस्थान में पीडा होती है" और "पृष्ठात्" पद का "पीठ में पीडा व्याप्त होती है" यह अर्थ समझना चाहिये। एवम् "पृष्ठात्" इस पद में "ल्यब्लोपे कर्मण्यधिकरणे च" इस सूत्र से ल्यब्लोप में पञ्चमी हुई है, ऐसा समझना चाहिये ॥ ७३३ ॥

अथ कफोल्बणस्य वातोल्बणस्य च चतुर्थकज्वरस्य लक्षणमाह—

चतुर्थको दर्शयति स्वभावं द्विविधं ज्वरः। जङ्घाभ्यां श्लैष्मिकः पूर्वं शिरसोऽनिलसम्भवः॥७३४॥
मध्यकायन्तु गृह्णाति पूर्वं यस्तु स पित्तजः। विषमज्वर एवान्य-श्चतुर्थकविपर्ययः॥ ७३५ ॥

कफोल्बण तथा वातोल्बण चतुर्थकज्वर के लक्षण—चतुर्थक (चौथिया) ज्वर दो प्रकार से अपना स्वभाव दिखलाता है। जो कि यह है—१ कफोल्बण चतुर्थक ज्वर जब आने को होता है तब प्रथम दोनों जांघों में पीडा होती है। और वातोल्बण चतुर्थक ज्वर आने में प्रथम शिर में पीडा होती है। तदुपरान्त ज्वर सर्वाङ्ग में व्याप्त होता है। और पित्तोल्बण जो विषम ज्वर होता है उसके उत्पन्न होने के आरम्भ में शरीर के मध्य भाग में पीडा होती है, तदुपरान्त ज्वर होता है। और यह सन्तताादिक पूर्वोक्त ५ प्रकार के विषमज्वरों से भिन्न चतुर्थक के विपर्यय के अन्तर्गत माना जाता है॥७३४-७३५॥

***श्लैष्मिकः = श्लेष्मोल्बणः। तथाऽनिलसम्भवो = वातोल्बणः। सन्तताादीनां त्रिदोषजत्वम्। यत उक्तं चरके—**

***"प्रायशः सन्निपातेन पञ्च स्युर्विषमज्वराः" ॥ १०८ ॥ इति।**

यहां पर "श्लैष्मिक" पद का "कफोल्बण चतुर्थक ज्वर"। "अनिलसम्भव" पद का "वातोल्बण चतुर्थक ज्वर" अर्थ समझना चाहिये। और सन्तताादिक पूर्वोक्त ज्वरों को त्रिदोष से उत्पन्न होने वाला समझना चाहिये। क्योंकि चरक में भी कहा हुआ है कि—प्रायः करके संनिपात (त्रिदोष) से सन्तताादिक ५ विषमज्वर होते हैं ॥ १०८ ॥

***"प्रायशोग्रहणादेकदोषजा द्विदोषजा अपि भवन्ती"ति जयटः। पूर्वं = प्रथम। जङ्घाभ्याम् = व्यथया जङ्घे व्याप्य पश्चात् सकलं शरीरं व्याप्नोति। एवमुल्बणवातजातः शिरसः = पूर्वं व्यथया शिरो व्याप्य सकलं शरीरं व्याप्नोतीत्यर्थः। अन्यः = सन्तताादिपञ्चकादपरः ॥ ७३४-७३५ ॥**

यहां पर "प्रायश" इस पद के कहने से यह समझना चाहिये कि सन्तताादिक एक दोष तथा दो दोषों से भी उत्पन्न होते हैं" ऐसा जैयट का मत है। और "पूर्वम्" पद का "प्रथम"। "जङ्घाभ्याम्" पद का "दोनों जघाओं में पीडा होती है तदुपरान्त ज्वर सर्वाङ्ग में व्याप्त होता है"। "शिरस" पद का "प्रथम शिर में पीडा होती है तदुपरान्त सर्वाङ्ग में ज्वर व्याप्त होता है" और "अन्य" पद का "सन्तताादिक पूर्वोक्त ५ प्रकार के ज्वरों से भिन्न" यह अर्थ समझना चाहिये॥ ७३४-७३५ ॥

अथ चतुर्थकविपर्ययाद्यन्यविषमज्वराणां लक्षणान्याह—

अस्थिमज्जगतो दोष-श्चतुर्थकविपर्ययः। जायते भिषजा ज्ञेयो विषमज्वर एव सः॥ ७३६ ॥
स मध्ये ज्वरयत्यह्नी आद्यन्ते च विमुञ्चति॥ ७३७ ॥

चतुर्थक विपर्ययादिक अन्य विषमज्वरों के लक्षण—जिसके दोष अस्थि तथा मज्जागत होते हैं ऐसा चतुर्थकविपर्यय नामक जो ज्वर होता है, उसे भी वैद्य लोग विषमज्वर ही मानते हैं। और वह चतुर्थक ज्वर का विपर्यय होने से अर्थात् चतुर्थकज्वर प्रथम दिन होकर दूसरे तथा तीसरे दिन नहीं होता है पुनः चौथे दिन होता है इसका विपर्यय अर्थात् प्रथम दिन तथा चौथे दिन नहीं होता है किन्तु मध्य के दो दिनों में होता है ॥ ७३६-७३७ ॥

***चतुर्थकविपर्ययाख्यो ज्वरः सोऽपि विषमज्वर एव वैद्येन ज्ञातव्यः। स किंधातुस्थ इत्यपेक्षायामाह—अस्थीत्यादि। चतुर्थकविपर्यय इत्युपलक्षणम्। सततादिविपर्ययोऽपि बोद्धव्यः। यथा-अहोरात्रे द्वौ कालौ मुञ्चति शेषं सर्वमहोरात्रं तिष्ठतीति सततविपर्ययः। अहोरात्रे एककालं मुञ्चति शेषं सर्वमहोरात्रं तिष्ठतीत्यन्येद्युष्कविपर्ययः। मध्ये एक दिनं ज्वरं जनयति, आद्यावन्ते च दिने मुञ्चतीति तृतीयकविपर्ययः। एते विषमज्वरोपलक्षकाः। अन्ये रात्रिज्वराद्योऽपि विषमज्वरा बोद्धव्याः। यथा—**

***समौ वातकफौ यस्य क्षीणपित्तस्य देहिनः। रात्रौ प्रायो ज्वरस्तस्य दिवा हीनकफस्य तु॥१०९॥**

यहां पर यह और समझना चाहिये कि—चतुर्थक विपर्ययाख्य जो ज्वर है उसे भी वैद्यों को विषम

मज्वर ही समझना चाहिये। और उसके दोष किस धातु में स्थित रहते हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि-दोष-अस्थि तथा मज्जा गत होते हैं। और "चतुर्थकविपर्यय" यह उपलक्षण है अतः इसी भांति सतत आदि पूर्वोक्त विषमज्वरों का भी विपर्यय होने से सततविपर्यय इत्यादि क्रम से अन्य ज्वर भी समझ लेना चाहिये। जैसे कि-सततज्वर अहोरात्र में दो बार केवल उत्पन्न होता है, शेष समय में नहीं रहता है। और वैसे ही इसका विपर्यय होने से सततविपर्यय ज्वर अहोरात्र में दो बार केवल उतरता है और शेष समयों में बना रहता है। अन्येद्युष्क ज्वर-जैसे अहोरात्र में एक बार चढता है, शेष समय में उतरा रहता है। वैसे ही इसका विपर्यय होने से अन्येद्युष्कविपर्यय ज्वर अहोरात्र में एक बार केवल उतरता है शेष समय में बराबर बना रहता है। और तृतीयक ज्वर जैसे मध्य में एक दिन नहीं रहता है और आदि तथा अन्त के दिनों में बना रहता है। वैसे ही इसका विपर्यय होने से तृतीयकविपर्यय ज्वर मध्य में एक दिन बना रहता है तथा आदि व अन्त के दिनों में नहीं रहता है। और ये सब विषमज्वर के उपलक्षण हैं। अतः इनसे भिन्न रात्रिज्वरादिक विषमज्वरों को भी समझना चाहिये। जैसे कि-जिस रोगी का पित्त क्षीण हो तथा वात और कफ समान भाव में हों तो उसे अधिकतर रात्रि में ज्वर हुआ करता है। इसी भांति में जिसका कफ क्षीण हो और वात तथा पित्त समान भाव से हों तो उसे अधिकतर दिन में ज्वर हुआ करता है ॥ १०९ ॥

***प्रायो = बाहुल्येन (१०९) ॥ ७३६-७३७ ॥**

यहां पर "प्राय" पद का "अधिकतर" अर्थ समझना चाहिये ॥ (१०९) ॥ ७३६-७३७ ॥

अथ सन्ततादिज्वरे प्रथमं कस्य चिच्छीतं कस्य चिद्दाह उत्पद्यत इत्यत्र हेतुमाह—

त्वक्स्थौ श्लेष्मानिलौ शीत-मादौ जनयतो ज्वरम्।
तयोः प्रशान्तयोः पित्त-मन्तर्दाहं करोति च ॥ ७३८ ॥

सन्ततादिक ज्वर में प्रथम किसी को जो सर्दी लगती है और किसी को प्रथम जो दाह उत्पन्न होता है, उसका कारण कहते हैं। उसमें प्रथम शीत होने का कारण-त्वग् (चर्म) गत जब कफ तथा वायु दुष्ट होकर रहते हैं तब प्रथम शीत सहित ज्वर उत्पन्न करते हैं। और उन दोनों के वेग की शान्ति हो जाने पर पित्त शरीर के अन्दर दाह उत्पन्न करता है ॥ ७३८ ॥

***शीतं = शीतसहितम्। प्रशान्तयोः = प्रशान्तवेगयोः। अन्तः = अभ्यन्तरे ॥ ७३८ ॥**

यहां पर "शीतम्" पद का "शीत सहित"। "तयो. प्रशान्तयो" पदों का "उन दोनों के वेग की शान्ति हो जाने पर"। "अन्त." पद का "शरीर के अन्दर" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ७३८ ॥

करोत्यादौ तथा पित्तं त्वक्स्थं दाहमतीव च। तस्मिन्प्रशान्ते त्वितरौ कुरुतः शीतमन्ततः ॥७३९॥

प्रथम दाह होने का कारण—त्वग्गत जब पित्त दुष्ट हो कर रहता है तब अत्यन्त दाह उत्पन्न करता है, और जब वह शान्त हो जाता है तब शेष वात तथा कफ हाथ, पैरों को शीतल कर देते हैं७३९

***अन्ततः = हस्तपादादितः ॥ ७३९ ॥**

यहां पर "अन्ततः" पद का "हाथ-पैरों को" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ७३९ ॥

अथ शीतदाहादिज्वरयोस्त्रिदोषजतामाह—

द्वावेतौ दाहशीतादी ज्वरौ संसर्गजौ स्मृतौ। दाहपूर्वस्तयोः कष्टः सुखसाध्यतमोऽपरः ॥७४०॥

प्रथम शीत तथा दाह होकर उत्पन्न होने वाले ज्वरों को त्रिदोषजता—पूर्व में दाह अथवा शीत होकर उत्पन्न होने वाले ये दोनों ज्वर सन्निपात से होने वाले कहे जाते हैं। इनमें से जो दाहपूर्वक ज्वर होता है वह कष्टसाध्य होता है, और जो शीतपूर्वक ज्वर होता है वह अत्यन्त सुखसाध्य होता है।७४०॥

***संसर्गजौ = सान्निपातिकौ। कष्टः = कष्टसाध्यः ॥ ७४० ॥**

यहां पर "संसर्गजौ" पद का "सन्निपात से होने वाले" और "कष्टः" पद का "कष्टसाध्य" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ७४० ॥

अथ विषमज्वरविशेषमाह—

विदग्धेऽन्नरसे देहे श्लेष्मपित्ते व्यवस्थिते। तेनार्द्धं शीतलं देह-मर्द्धमुष्णं प्रजायते ॥ ७४१ ॥

विशेष विषमज्वर का लक्षण-परिपक्व न होने से आहारसम्बन्धी रस के दूषित होने पर शरीर में जब कफ तथा पित्त दूषित हो जाता है, तब आधा देह शीतल हो जाता है और आधा गर्म हो जाता है ७४१

***अन्नरसे विदग्धे = आहारजे रसे दुष्टे। देहे श्लेष्मपित्ते व्यवस्थिते = दुष्टे स्थिते। तेन**

हेतुना शीतलं कफेन, उष्णं पित्तेन, अर्द्धत्व चार्द्धनारीश्वराकारेण नरसिंहाकारेण वा ॥ ७४१ ॥

यहां पर यह और समझना चाहिये कि—"अन्नरसे विदग्धे" पदों का "परिपक्व न होने से आहार सबन्धी रस के दूषित होने पर" और "व्यवस्थित" पद का "दूषित हो जाना है" यह अर्थ होता है। और आधा शरीर शीतल तथा आधा शरीर जो गर्म हो जाता है उसमें कारण कफ तथा पित्त का दूषित हो जाना ही है। इसी से कफ के दूषित होने से शीतल और पित्त के दूषित होने से गर्म हो जाता है। और शरीर का आधा भाग अर्द्धनारीश्वर रूप से अर्थात् वाम, दक्षिण अङ्गों के क्रम से एक शीतल और एक गर्म होता है, ऐसा समझना चाहिये अथवा नरसिंह के स्वरूप के अनुसार ऊपर तथा नीचे के क्रम से आधा भाग करके ऊपर अथवा नीचे के भागों में एक में शीतल तथा एक में उष्ण होता है, ऐसा समझना चाहिये ॥ ७४१ ॥

काये दुष्टं यदा पित्तं श्लेष्मा चान्ते व्यवस्थितः। तेनोष्णत्वं शरीरस्य शीतत्वं हस्तपादयोः॥७४२

शरीर में जब पित्त दूषित होकर रहता है तथा हाथ-पैरों में कफ दूषित होकर रहता है, तब उससे शरीर गर्म बना रहता है और हाथ-पैर शीतल रहते हैं ॥ ७४२ ॥

*अन्ते = हस्तपादादौ ॥ ७४२ ॥

यहां पर "अन्ते" पद का "हाथ-पैरों में" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ७४२ ॥

काये श्लेष्मा यदा दुष्टः पित्तं चान्ते व्यवस्थितम्। शीतत्वं तेन गात्रे स्यादुष्णत्वं हस्तपादयोः ७४३

शरीर में जब कफ तथा हाथ—पैरों में पित्त ये दोनों दूषित होकर रहते हैं तब उससे शरीर में शीतलता तथा हाथ-पैरों में उष्णता बनी रहती है ॥ ७४३ ॥

अथ विषमज्वरविशेषस्य प्रलेपकस्य लक्षणमाह—

प्रलिम्पन्निव गात्राणि घर्मेण गौरवेण च। मन्दज्वरविलेपी च स शीतः स्यात्प्रलेपकः ॥७४४॥

प्रलेपक नामक विशेष विषमज्वर के लक्षण—जिस ज्वररोगी का शरीर पसीने से लिपे हुये के समान हो तथा उसमें गुरुता (भारीपन) प्रतीत होती हो एवम् मन्दवेग वाले ज्वर का सबन्ध सदा बना रहता हो और शीत (ठण्ढक) का भी अनुभव होता हो तो उसे प्रलेपक नामक विषमज्वर से युक्त समझना चाहिये ॥ ७४४ ॥

*गौरवेणोपलक्षितः। मन्दज्वरविलेपी = मन्दवेगस्य सदा सम्बन्धोऽस्यास्तीति मन्दज्वरविलेपी। अयं विषमज्वरः। तथा सुश्रुतः—

*प्रलेपकाख्यो विषमः प्रायशः क्लेशशोषिणाम्।
ज्वराश्च विषमाः सर्वे प्रायः क्लेशाय शोषिणाम् ॥ ११० ॥ इति ॥ ७४४ ॥

यहां पर "गौरवेणोपलक्षित." पद का "गुरुता प्रतीत होती हो"। 'मन्दज्वरविलेपी' पद का "मन्दवेगवाले ज्वर का सबन्ध सदा बना रहता हो" यह अर्थ समझना चाहिये। और इसे विषमज्वर ही समझना चाहिये। क्योंकि सुश्रुत ने भी कहा है कि—यद्यपि प्राय. करके सम्पूर्ण विषमज्वर शोषयुक्त (यक्ष्मा के) रोगियों के लिये कष्टदायक होते हैं तथापि यह प्रलेपक नामक विषमज्वर तो और भी प्राय. करके शोषरोगियों के लिये कष्टप्रद होता है (११०) ॥ ७४४ ॥

अथ विषमज्वराणां सामान्यचिकित्सामाह—

ज्वराश्च विषमाः सर्वे सन्निपातसमुद्भवाः। यथोल्बणस्य दोषस्य तेषु कार्यं चिकित्सितम् ॥७४५॥
विषमेष्वपि कर्त्तव्यमूर्द्ध्वञ्चाधश्च शोधनम्। स्निग्धोष्णैरन्नपानैश्च शमयेद्विषमज्वरम् ॥७४६॥

विषमज्वरों की सामान्य चिकित्सा—सम्पूर्ण विषमज्वर सान्निपात (त्रिदोष) से उत्पन्न होते हैं। अतः इनमें जो दोष सब से अधिक प्रबल हो उसीकी सर्वप्रथम चिकित्सा करनी चाहिये। और विषमज्वरों में भी ऊपर नीचे (वमन, विरेचन द्वारा) शोधन करना चाहिये अर्थात् वमन विरेचन कराना चाहिये। और स्निग्ध तथा उष्ण अन्न-पानादि द्वारा विषमज्वर का शमन करना चाहिये ॥७४५-७४६॥

कालिङ्गकः पटोलस्य पत्रं कटुकरोहिणी। पटोलं सारिवा मुस्तं पाठा कटुकरोहिणी ॥ ७४७ ॥
निम्बः पटोल त्रिफला मृद्वीका मुस्तवत्सकौ। किराततिक्तममृता चन्दनं विश्वभेषजम् ॥७४८॥
गुडूच्यामलकं मुस्तमर्द्धश्लोकसमापनाः। कषायाः शमयन्त्याशु पञ्च पञ्चविधं ज्वरम् ॥७४९॥

विषमज्वरों में कालिङ्गकादि प्रभृति ५ क्वाथों में कालिङ्गकादिक्वाथ—१ इन्द्रजौ, परवल के पत्ते, कुटकी।
पटोलादिक्वाथ—२ परवल के पत्ते, सफेद अनन्तमूल, नागरमोथा, पाढ़ और कुटकी।

निम्बादिक्काथ—३ नीम की छाल, परवल के पत्ते, त्रिफला (आमला, हरड, बहेडा), दाख, नागरमोथा और कुटज (कुरैया) की छाल।

किरानतिक्तादिक्काथ—४ चिरायता, गिलोय, लालचन्दन और सोंठ।

गुडूच्यादिक्काथ—५ गिलोय, आमला और नागरमोथा ये सब आधे २ श्लोकों में कहे हुये ५ काथ क्रम से १ सन्तत, २ सतत, ३ अन्येद्युष्क, ४ तृतीयक, ५ चतुर्थक नामक पाच प्रकार के विषमज्वरों को शीघ्र शान्त करने वाले होते हैं(१) ॥ ७४७-७४९ ॥

छकालिङ्गकः=इन्द्रयवः। वत्सकः=कुटजः। चन्दनमत्र रक्तचन्दनम्। कषायाः पञ्च पञ्चविधं = सन्ततसततान्येद्युष्कतृतीयकचतुर्थकरूपम् ॥ ७४७-७४९ ॥

यहां पर "कालिङ्गक" पद का "इन्द्रजौ"। "वत्सक" का "कुटज"। "चन्दन" का "लालचन्दन" और "पञ्चविध ज्वरम्" पदों का "सन्तत, सतत, अन्येद्युष्क, तृतीयक, चतुर्थक नामक पांच प्रकार के विषम ज्वरों को" यह अर्थ समझना ॥ ७४७-७४९ ॥

महाबलामूलमहौषधाभ्यां क्काथो निहन्याद्विषमज्वरं हि।
शीतं सकम्पं परिदाहयुक्तं विनाशयेद् द्वित्रिदिनप्रयोगात् ॥ ७५० ॥

कघी की जड तथा सोंठ इन दोनों का काथ बना कर दो तीन दिन तक पिलाने से शीत, कम्प तथा दाह युक्त विषमज्वर निश्चय नष्ट हो जाता है(२) ॥ ७५० ॥

मुस्ताऽऽमलकगुडूची विश्वौषधकण्टकारिकाक्काथः। पीतः सकणाचूर्णः समधुर्विषमज्वरं हन्ति ७५१॥

नागरमोथा, आमला, गिलोय, सोंठ तथा छोटी कण्टकारी इन सबों का काथ बनाकर उसमें पीपल का चूर्ण तथा मधु डाल कर पीने से विषमज्वर नष्ट होता है(३) ॥ ७५१ ॥

तिलतैललवणयुक्तः कल्को लशुनस्य सेवितः प्रातः। विषज्वरमपहरते वातव्याधीनशेषांश्च ॥७५२॥

प्रातःकाल लहसुन की चटनी में तिल का तेल तथा सेंधानमक मिला कर सेवन करने से विषमज्वर तथा सपूर्ण वातसम्बन्धी रोग दूर होते हैं ॥ ७५२ ॥

कालाजाजी तु सगुडा विषमज्वरनाशिनी। मधुना चाभया लीढा हन्त्याशु विषमज्वरान् ॥७५३॥

१—मंगरैला (३ माशा) में गुड मिला कर खाने से विषमज्वर दूर होता है। २—हरड का चूर्ण (६ माशे) मधु के साथ मिला कर चाटने से सपूर्ण विषमज्वर शीघ्र नष्ट हो जाते हैं ॥ ७५३ ॥

छकालाजाजी तु 'मंगरैला' इति लोके। सा च किंचिद्भृष्टा गुडतुल्या कर्षमिता भक्षणीया ॥ ७५३ ॥

यहां पर "कालाजाजी" पद से लोक मे प्रसिद्ध "मगरैला" का बोध किया गया है, तथा मंगरैला एक तोला लेकर किञ्चित् भूनकर बराबर का गुड मिला कर खाना चाहिये" इतना और ध्यान रखना चाहिये ॥ ७५३ ॥

पीतो मरिचचूर्णेन तुलसीपत्रजो रसः। द्रोणपुष्पीरसो वाऽपि निहन्ति विषमज्वरान् ॥७५४॥

तुलसी के पत्तों के रस में अथवा गूमा के पत्तों के रस में काली मिरच का चूर्ण मिला कर पीने से सभी विषमज्वर नष्ट हो जाते हैं ॥ ७५४ ॥

समगुडमसितजीरकमीषन्मरिचेन भक्षितं सद्यः। ऐकाहिकं प्रशमयेत् समरेष्विव दानवानिन्द्रः ७५५

जिस प्रकार से युद्ध में इन्द्र दैत्यों को नष्ट करते हैं उसी प्रकार से किञ्चित् कालीमिरच का चूर्ण मिला हुआ काले जीरे का चूर्ण समान भाग गुड के साथ मिला कर खाने से तत्काल ही ऐकाहिक विषमज्वर को नष्ट करता है(४) ॥ ७५५ ॥

शुण्ठ्यजाजी गुडं पिष्टं पीतमुष्णेन वारिणा। जीर्णमद्येन तक्रेण तीव्रं शीतज्वरं जयेत् ॥ ७५६ ॥

सोंठ, जीरा (कोई २ काला जीरा भी लेते हैं) तथा गुड इन सबों को एकत्र पीस कर गर्म जल

---

(१) उपर्युक्त क्काथ्य द्रव्यों को मिलाकर २ तोला लेकर आध सेर पानी में मिलाकर चतुर्थांशावशेष उतार कर छान ले। फिर उसे शीतल करके पीवे। इसे प्रातः सायम् दोनों समय पिलाना चाहिये।

(२) कघी की जड १ भर, सोंठ, १ भर लेकर आध सेर जल से विधिवत् क्काथ बनाकर प्रयोग करें।

(३) क्काथ्य द्रव्यों को एक पल (४ तोले) लेकर आध सेर जल मे क्काथ कर पिलावें।

(४) कालाजीरा का चूर्ण ६ माशा, काली मिर्च ६ माशा, गुड १ तोला लेकर (उष्ण जल के अनुपान से) सेवन करना चाहिये।

या पुराना मद्य अथवा तक्र (मट्ठा) के साथ खाने से तीव्र भी शीतज्वर नष्ट हो जाता है(१) ॥ ७५६ ॥

अथ सन्ततादिज्वराणां सामान्यचिकित्सा ।

तत्र गुडूचीमोदकमाह—

**अमृतायाः शतं चूर्णं वाससा परिशोधितम् । पृथक् षोडश भागाः स्युर्गुडमाक्षिकसर्पिषाम् ॥७५७॥
यथाऽग्नि भक्षयेदेतन्नरो हितमिताशनः । नास्य कश्चिद्भवेद्व्याधिर्न जरा पलितं न च ॥ ७५८ ॥
न ज्वरा विषमा नैव मोहो नानिलरक्तकम् । न च नेत्रगता रोगाः परमेतद्रसायनम् ॥ ७५६ ॥
मेधाकरं त्रिदोषघ्नं प्रयोगादस्य बुद्धिमान् । जीवेद्वर्षशतं साग्रं यथैवादितिजस्तथा ॥ ७६० ॥**

सन्ततादिज्वरों की सामान्य चिकित्सा में गुडूचीमोदक—गिलोय का कपडे से छाना हुआ चूर्ण १०० भाग और गुड, शहद तथा गौ का घी प्रत्येक १६ भाग अर्थात् मिलकर ४८ भाग, इन सबों को एकत्र कर मोदक बना लेवें । पश्चात् यदि हितकर तथा परिमित भोजन करने वाला व्यक्ति अपने जठराग्नि के बलाबल का विचार करता हुआ तदनुसार प्रतिदिन इस मोदक का सेवन करता है तो उसे कोई व्याधियाँ नहीं होती हैं, और बुढापा तथा पलित रोग (बालों का सफेद हो जाना) का भी आक्रमण नहीं होने पाता है । एवम् विषमज्वर, मोह, वातरक्त, नेत्रसम्बन्धी रोग नहीं होने पाते हैं । और यह गुडूचीमोदक अत्यन्त रसायन, मेधाशक्तिवर्द्धक, त्रिदोषनाशक होता है । तथा इसके सेवन करने से मनुष्य उत्तम बुद्धिवाला होता हुआ देवताओं के समान स्वस्थ १०० वर्ष से भी अधिक काल तक जीवित रह सकता(२) है ॥ ७५७-७६० ॥

अथ विषमज्वरिभोजनमाह—

तक्रमांसं पयोमांसं दधिमांसमथापि वा । माषमांसञ्च भुञ्जानो मुच्यते विषमज्वरात् ॥७६१॥

विषमज्वर वाले रोगियों के लिये भोजन—जो विषमज्वरी मनुष्य तक्र (मट्ठा), दूध, दही अथवा उरद से युक्त मांस का सेवन करता है वह विषमज्वर से मुक्त हो जाता है ॥ ७६१ ॥

अग्निवेशेनोक्तम्—

सुरा समण्डा पानार्थे भोजने चरणायुधाः । तित्तिरा विष्किराः पथ्याः कुक्कुटा विषमज्वरे॥७६२॥

अग्निवेश ने भी कहा है कि—विषमज्वर में रोगी को पीने के लिये माड के साथ मद्य अथवा मद्य तथा मद्य का माड देना चाहिये । और भोजन करने के लिये गाँव में रहने वाले मुर्गे, तीतर, जंगली मुर्गे तथा विष्किर जाति के बटेर, लवा, विगिर (विष्किर पक्षीभेद) और चकोर आदि पक्षियों का मांस देना चाहिये, क्योंकि ये सब पथ्य होते हैं ॥ ७६२ ॥

***चरणायुधाः = गृहकुक्कुटाः । कुक्कुटाः = वनकुक्कुटाः । विष्किराः = वर्त्तिकालावविगिरचकोराद्याः ॥ ७६२ ॥**

यहाँ पर "चरणायुधाः" पद का "गाँव में रहने वाले मुर्गे" । "कुक्कुटाः" पद का "जंगली मुर्गे" । "विष्किराः" पद का "विष्किर जाति के बटेर, लवा, विगिर और चकोर आदि पक्षियाँ" अर्थ समझना चाहिये ॥ ७६२ ॥

अथ सन्ततादिज्वराणां विशिष्टां चिकित्सामाह—

**त्रायन्तीकटुकाऽनन्तासारिवाभिः शृतं जलम् । पटोलाब्दवृषातिक्तासारिवाभिः शृतं जलम् ॥
सन्तताख्ये ज्वरे देयं वातादीनां निवृत्तये ॥ ७६३ ॥**

सन्ततादि ज्वरों की विशेष चिकित्सा—सन्तत नामक विषमज्वर में वायु आदि की निवृत्ति के लिये रोगी को त्रायमाणा, कुटकी, सफेद तथा काली अनन्तमूल इन सबों का क्वाथ अथवा परवल के पत्ते, नागरमोथा, बडी दन्ती, कुटकी तथा काली अनन्तमूल का क्वाथ पिलाना चाहिये(३) ॥ ७६३ ॥

***वृषा = बृहद्दन्ती एरण्डवत्पत्रविटपा, तदलाभे दन्ती च ग्राह्या, समानगुणत्वात् ॥७६३॥**

यहाँ पर "वृषा" पद का "बडी दन्ती" अर्थ समझना चाहिये । "और बडी दन्ती एरण्ड के

---

(१) सोंठ का चूर्ण ६ माशा जीरा का चूर्ण ६ माशा, गुड १ तोला मिलाकर दो मात्रा करें । एक प्रातः तथा एक सायम् उपर्युक्त अनुपान से देवें ।

(२) इसे ३ से ६ माशे की मात्रा में उचित अनुपान के साथ देना चाहिये ।

(३) क्वाथ्य द्रव्य मिलित ४ तोला, जल आधसेर लेकर विधिवत् क्वाथ बनावें ।

समान पत्ते तथा पेट वाली होती है। इसके अभाव में छोटी दन्ती लेनी चाहिये। क्योंकि यह गुणों में इसी (बड़ी दन्ती) के समान ही होती है" यह और समझ लेना चाहिये ॥ ७६३ ॥

पटोलेन्द्रयवानन्तापथ्याऽरिष्टामृताजलम् । क्वथितं तज्जलं पीतं ज्वरं सततकं जयेत् ॥ ७६४ ॥

परवल के पत्ते, इन्द्रजौ, अनन्तमूल, हरड, नीम को छाल, गिलोय तथा सुगन्धवाला इन सबों का क्वाथ बनाकर पीने से सततनामक विषमज्वर नष्ट होता है ॥ ७६४ ॥

***अनन्ता = सारिवा । अरिष्टः = निम्ब. । जलं = वालकम् ॥ ७६४ ॥**

यहां पर "अनन्ता" का "अनन्तमूल"। "अरिष्ट" का "नीम की छाल" तथा "जल" का "सुगन्धवाला" अर्थ समझना चाहिये ॥ ७६४ ॥

द्राक्षापटोलनिम्बाब्दशक्राह्वत्रिफलाशृतम् । जलं जन्तुः पिबेच्छीघ्रमन्येद्युर्ज्वरशान्तये ॥७६५॥

दाख, परवल के पत्ते, नीम की छाल, नागरमोथा, इन्द्रजौ तथा त्रिफला इन सबों का क्वाथ बनाकर पीने से अन्येद्युष्क नामक विषमज्वर शीघ्र नष्ट होता है ॥ ७६५ ॥

***शक्राह्वः = इन्द्रयवः ॥ ७६५ ॥**

यहां पर "शक्राह्व" पद का "इन्द्रजौ" अर्थ समझना चाहिये ॥ ७६५ ॥

कर्म साधारणं जह्यात् तृतीयकचतुर्थकौ । भिषजा प्रतिकर्त्तव्यौ विशेषोक्तचिकित्सितैः ॥७६६॥

साधारण कर्म (चिकित्सा) यद्यपि सभी विषमज्वरों को दूर करता है तथापि विशेष रूप से तृतीयक तथा चतुर्थक ज्वर को तो अवश्य दूर करने वाले होते हैं। अतः वैद्य को उचित है कि वह विशेष रूप से कहे हुये साधारण कर्म द्वारा इन दोनों को दूर करे ॥ ७६६ ॥

***दैवव्यपाश्रयं = बलिमङ्गलहोमादि, युक्तिव्यपाश्रयं = कषायादि; एतदुभयमपि चिकित्सितं साधारणशब्देनोच्यते, तेन साधारणं कर्म चिकित्सितं कर्तृ; तृतीयकचतुर्थकौ कर्मरूपौ जह्यात् = क्षपयेद्, निराकुर्यादित्यर्थः ॥ ७६६ ॥**

यहां पर "साधारण" पद से देवता का आश्रय लेकर की जाने वाली "दैवव्यपाश्रय" नाम की चिकित्सा तथा युक्ति क्वाथ आदि का आश्रय लेकर की जाने वाली "युक्तिव्यपाश्रय" नाम की चिकित्सा, इन दोनों का ही ग्रहण करना चाहिये। और "कर्म" पद का "चिकित्सा" अर्थ समझना चाहिये। और "साधारण कर्म" को कर्त्ता तथा "तृतीयकचतुर्थकौ" को कर्म समझना चाहिये। एवम् "जह्यात्" का "दूर करे" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ७६६ ॥

उशीरं चन्दनं मुस्तं गुडूची धान्यनागरम् । अम्भसा क्वथितं पेयं शर्करामधुयोजितम्॥७६७॥
ज्वरे तृतीयके पुंसां तृष्णादाहसमन्विते ॥ ७६८ ॥

खस, लालचन्दन, नागरमोथा, गिलोय, धनिया तथा सोंठ इन सबों का क्वाथ बना कर उसमें शक्कर (साफ) तथा मधु डाल कर प्यास तथा दाह से युक्त तृतीयक ज्वर में रोगी को पिलाना ज्वरनाशक होता है ॥ ७६७–७६८ ॥

अपामार्गजटां कट्यां लोहितैः सप्ततन्तुभिः । बद्ध्वा वारे रवेस्तूर्णं ज्वरं हन्ति तृतीयकम् ॥७६९॥

चिचिड़ा की जड़ को रविवार के दिन सात लर के लाल तागे से कमर में बांध कर रखने से तृतीयक ज्वर शीघ्र नष्ट हो जाता है ॥ ७६९ ॥

स्थिरातामलकीदारु-शिवावृषमहौषधैः । सितामधुयुतः क्वाथश्चतुर्थकहरः परः ॥ ७७० ॥

शालिपर्णी, भुँइआमला, देवदारु, हरड, अडूसा और सोंठ इन सबों का क्वाथ बना कर उसमें मिश्री तथा शहद ऊपर से डाल कर पिलाने से चतुर्थक ज्वर (चौथिया) अवश्य दूर होता है(१)॥७७०॥

***स्थिरा = शालिपर्णी । तामलकी = भूधात्री । शिवा = हरीतकी । वृषो = वासा॥ ७७० ॥**

यहां पर "स्थिरा" का "शालिपर्णी"। "तामलकी" का 'भुँइ आमला"। "शिवा" का "हरड़" तथा "वृष" का "अडूसा" अर्थ समझना चाहिये ॥ ७७० ॥

अगस्तिपत्रस्य रसेन नस्यं निहन्ति चातुर्थकमुग्रवीर्यम् ।

---

(१) शालिपर्णी आदि क्वाथ्य द्रव्य मिलाकर ४ तोले लेकर आध सेर जल में क्वाथ करें। फिर इसे चतुर्थांशावशेष उतार कर छानले। शीतल होने पर मिश्री दो तोला मधु ६ माशा मिलावें। ध्यान रहना चाहिये कि—मधु को जहां कहीं किसी योग में मिलाना हो औषधियों को शीतल करने के बाद मिलाना चाहिये।

शिरीषपुष्पस्य निशाद्वयस्य कल्केन वा तद् घृतसंयुतेन ॥ ७७१ ॥

अगस्त्य के पत्तों का रस निकाल कर नस्य (नास) लेने से अथवा सिरस के फूल, हल्दी तथा दारुहल्दी को अत्यन्त सूक्ष्म पीसकर गाय का घी मिलाकर नास लेने से अत्यन्त घोर चतुर्थक (चौथिया) ज्वर नष्ट हो जाता है ॥ ७७१ ॥

*तद् = नस्यम् ॥ ७७१ ॥

यहाँ पर "तद्" पद से "नस्य (नास लेना)" का ग्रहण करना चाहिये ॥ ७७१ ॥

ज्वरस्य वेगकालञ्च चिन्तयञ्ज्वर्यते तु यः । तस्येष्टैरद्भुतैर्वाऽपि विषमैर्नाशयेत्स्मृतम् ॥७७२॥

जो मनुष्य ज्वर के वेग के आने के समय को स्मरण करता हुआ ज्वराक्रान्त होता है, उसकी स्मृति को इष्ट (प्रिय) वस्तु, अद्भुत तथा विषम विषयक व्यापारों तथा कथा-वार्त्ताओं के द्वारा भुलवा देना चाहिये । अर्थात् इसका ध्यान रखना चाहिये कि ज्वर के आने का जब समय हो तब "ज्वर आने का समय होगया है" ऐसा स्मरण रोगी को न होने पावे इस लिये उस समय इष्ट वस्तु आदि का दिखाना वा तद्विषयक कथाओं को कहना, जिस स्थान पर रहता हो उससे अन्य स्थान में ले जाना इत्यादि कर्म करना चाहिये । इससे ज्वर का स्मरण न रहने से ज्वर आना रुक जाता है ॥ ७७२ ॥

सन्ततं विषमं चापि सततं सुचिरोत्थितम् । ज्वरं सुभोजनैः पथ्यै-रिष्टैश्च समुपाचरेत्॥७७३॥

हितकारक तथा मन को प्रिय लगने वाले सुन्दर भोजन कराने के द्वारा बहुत दिन के सन्तत तथा सतत आदिक विषम ज्वरों के रोगियों का उपचार करना चाहिये ॥ ७७३ ॥

*सन्ततादिविपर्ययाणां विषमज्वराणां चिकित्सा सन्ततादीनामिव कर्तव्या ॥ ७७३ ॥

यहा पर यह और समझना चाहिये कि—जिस प्रकार सन्ततादिक विषमज्वरों की चिकित्सा होती है उसी प्रकार से उसके विपर्ययस्वरूप सन्ततादिविपर्यय विषमज्वरों की भी चिकित्सा करनी चाहिये ७७३

शीताभिभूते पुरुषे कुर्य्याच्छीतहरीं क्रियाम् । दाहाभिभूते तु विधिं विदध्याद्दाहनाशनम्॥७७४॥

शीत से पीड़ित ज्वररोगी के लिये शीत को दूर करने वाली चिकित्सा (उपाय) करनी चाहिये । और दाह से पीडित के लिये तो दाह को दूर करने वाली चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ७७४ ॥

आच्छादनैर्बहुतरै-र्गुरुभिः कम्बलादिभिः । तूलवत्या महाशीतं शीतादिज्वरिणो हरेत् ॥७७५॥

जिस ज्वररोगी को प्रथम शीत लगाकर ज्वर चढता हो तो उसे अधिक शीत लगने पर भारी कम्बल आदिक बहुत से ओढने के वस्त्रों से अथवा रजाई से ओढाकर शीत दूर करना चाहिये ॥७७५॥

*तूलवती तु "रजाई" इति लोके ॥ ७७५ ॥

यहाँ पर "तूलवत्या" पद का "लोक प्रसिद्ध रजाई से" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ७७५ ॥

स्तनाभ्यां सुपीनाभ्यां पीवरोरुर्नितम्बिनी । युवतिर्गाढमालिङ्गेत् तेन शीतं प्रशाम्यति ॥७७६॥
कान्ताऽङ्गसङ्गसञ्जाते तद्वच्छीते निवारिते । प्रह्लादं चास्य विज्ञाय पृथक्तां कारयेत्स्त्रियम् ॥७७७॥
ततो दाहे तु सञ्जाते पत्रैरेरण्डसम्भवैः । शीतलैर्धारितैरङ्गे दाहं तस्यापनोदयेत् ॥ ७७८ ॥

और शीतपीडित ज्वररोगी को मोटे जङ्घों वाली तथा प्रशस्त नितम्बवाली युवती स्त्री यदि अपने मोटे तथा दृढ स्तनों से गाढ आलिङ्गन करे तो उसका शीत दूर हो जाता है । और जब उक्त स्त्री का अङ्गसङ्ग (गाढ आलिङ्गन) हो जाने पर तथा उससे शीत की निवृत्ति भी हो जाने पर रोगी के मन में काम का उदय हुआ जाने तब तत्काल उक्त स्त्री को अलग कर देवे । उसके बाद जब रोगी को दाह हो तब एरण्ड के शीतल पत्ते उसके अङ्गों पर जहाँ २ दाह प्रतीत होता हो वहाँ २ पर रखने से दाह दूर करना चाहिये ॥ ७७६–७७७ ॥

अथ शीतज्वरे भूतभैरवचूर्णमाह—

तालकं शुक्तिकाचूर्णं दत्तं तत्रोभयोरपि । नवमांशञ्च तुत्थं स्यान्मर्दयेत्कन्यकाद्रवैः ॥ ७७९ ॥
तत्तु संशुष्कमुपलैर्वन्यैर्गजपुटे पचेत् । शीतं तच्चूर्णयेच्चूर्णं गुञ्जामात्रं सितायुतम् ॥ ७८० ॥
प्रभाते भक्षयेत्तेन याति शीतज्वरः क्षयम् । वान्तिर्भवति कस्यापि कस्यचिन्न भवत्यपि ॥७८१॥
एकेन दिवसेनैव शीतज्वरहरं परम् । मध्याह्नसमये पथ्यं शिखरिण्योदनं तथा ॥ ७८२ ॥

शीतज्वर में भूतभैरव चूर्ण—शुद्ध हरताल तथा सीप का चूना इन दोनों को समान भाग में लेकर इन दोनों के नवें भाग के बराबर शुद्ध तूतिया लेकर सबों को एकत्र कर घीकुवार के रस के साथ भलीभाँति मर्दन करे, पश्चात् सूख जाने पर जङ्गली उपलों (बिनुआ कण्डों) के साथ यथाविधि गजपुट

की आंच में रखकर पकावे, और पकजाने के बाद स्वाङ्गशीतल (अपने आप शीतल) हो जाने पर अन्दर से उक्त औषध द्रव्यों को निकाल कर चूर्ण कर डाले । और जब आवश्यकता हो तब एक रत्ती चूर्ण मिश्री के साथ मिलाकर प्रातः काल सेवन करने से शीतज्वर नष्ट हो जाता है । और उसके सेवन करने पर किसी को वमन होता है और किसी को नहीं भी होता है । यह भूतभैरव चूर्ण एक दिन के सेवन करने से ही शीतज्वर को भली भांति दूर करने वाला है। इसके सेवन करने के बाद दो पहर के समय रोगी को सिखरन तथा भात खिलाना पथ्य है ॥ ७७९–७८२ ॥

अथ कायस्थाऽऽदिधूपलेपतैलान्याह—

कायस्थानाकुलीतिक्ता-वयःस्थापुरचोरकैः । सहदेवावचाकुष्ठैः शीतघ्नैर्धूपलेपनैः ॥ ७८३ ॥
साम्लैर्विपाचितं तैल-मभ्यङ्गाच्छीतनाशनम् ॥ ७८४ ॥

कायस्थाऽऽदि धूप–लेप तथा तैल—हरड, नाई, कुटकी, गिलोय, शुद्ध गूगल, भटेउर, सहदेई, वच, कूठ इन सबों को कूट कर धूप देने से अथवा पीसकर लेप करने से शीत दूर होता है । एवम् इन्हीं पूर्वोक्त औषधियों को पीसकर उसमें सेंधा निमक तथा जवाखार मिलाकर सबों के कल्क को अम्लद्रव्य काँजी आदिक के साथ तैल में डालकर यथाविधि पकाकर तैल बना लेवे । यह तैल(१) मालिश करने से शीत को दूर करने वाला होता है ॥ ७८३–७८४ ॥

*कायस्था = हरीतकी । नाकुली = रास्नाभेदः "नाई" इति लोके । वयस्था = गुडूची । पुरो = गुग्गुलुः । चोरकः = "भटेउर" तदलाभे "गठिवन" । सहदेवा = वृहद्बला । क्षारो = यवक्षारः । इति कायस्थाऽऽदिधूपलेपनतैलानि ॥ ७८३–७८४ ॥

यहां पर "कायस्था" पद का "हरड"। "नाकुली" पद का रास्ना का भेद लोकप्रसिद्ध "नाई"। "वयःस्था" का "गिलोय"। "पुर" का "गूगल"। "चोरक" का "भटेउर" अर्थ समझना चाहिये तथा भटेउर के अभाव में "गठिवन" लेना चाहिये। "सहदेवा" का "बडी बला (बरियारा) अर्थात् "सहदेई"। "क्षार" का "जवाखार" अर्थ समझना चाहिये ॥ ७८३–७८४ ॥

अथ दाहस्य चिकित्सामाह—

एरण्डस्य तु पत्राणि लिप्तभूमौ निधापयेत् । दाहादिज्वरिणो देहे तानि पत्राणि धारयेत् ॥७८५॥
तेन नश्यति दाहोऽस्य ज्वरश्चैवोपशाम्यति । दाहे शान्ते यदा शैत्यं तच्च युक्त्या निवारयेत् ७८६

दाह की चिकित्सा—एरण्ड के पत्तों को लाकर तत्काल मिट्टी से लिपी हुई भूमि पर रख देवे पश्चात् पत्तों के पूर्ण शीतल होजाने पर उन्हें दाहयुक्त ज्वररोगी के अङ्गों पर उठाकर रख देवे । ऐसा करने से रोगी का दाह नष्ट हो जाता है तथा ज्वर भी शान्त हो जाता है । और दाह के शान्त होने पर रोगी को जिस समय शीत लगने लगे उस समय युक्तिपूर्वक उसका भी निवारण करे ॥ ७८५–७८६ ॥

जघनचक्रचलन्मणिमेखला सरसचन्दनचन्द्रविलेपना ।
वनलतेव तनुं परिवेष्टयेत् प्रबलदाहनिपीडितमङ्गना ॥ ७८७ ॥

जिसके नितम्बचक्र के ऊपर कांचनी में लगी हुई मणियां हिल रही हों और जिसके अङ्गों पर सरस चन्दन तथा कपूर का लेप लगा हुआ हो ऐसी सुन्दर अङ्गों वाली युवती स्त्री जंगली लता की भांति यदि दाह पीडित रोगी के शरीर का आलिङ्गन करे तो दाह नष्ट हो जाता है ॥ ७८७ ॥

*चन्द्रः = कर्पूरः ॥ ७८७ ॥

यहां पर "चन्द्र" पद का "कपूर" अर्थ समझना चाहिये ॥ ७८७ ॥

तदङ्गसङ्गसञ्जाते शैत्ये दाहे निवारिते । प्रह्लादञ्चास्य विज्ञाय तां स्त्रीमपनयेत्पुनः ॥ ७८८ ॥

इस भांति से उक्त स्त्री का अङ्गसङ्ग (गाढ आलिङ्गन) हो जाने पर जब शीत मालूम होने लगे और दाह की निवृत्ति हो जाय एवम् रोगी के हृदय में काम का उदय प्रतीत होने लगे तब उक्त स्त्री को रोगी के पास से अलग कर देवे ॥ ७८८ ॥

अथ षड्गुणतक्रतैलमाह—

सुवर्चिकानागरकुष्ठमूर्वा–लाक्षानिशालोहितयष्टिकाभिः ।
सिद्धं हरेत्षड्गुणतक्रपक्वं तैलं ज्वरं दाहसमन्वितं च ॥ ७८९ ॥

---

(१) कल्क द्रव्य १ सेर, मूर्च्छित तिलतैल ४ सेर, काञ्जी ८ सेर, जल १६ सेर, लेकर तैल पाक करना चाहिये ।

षट्गुणतक्रतैल—सज्जीखार, सोंठ, कूठ, मूर्वा, लाख; हल्दी और मंजीठ इन सबों के कल्क को तेल से छगुने तक्र के साथ तेल (तिल का तेल) में डाल कर यथाविधि पकाकर तेल सिद्ध कर लेवें। यह षट्गुणतक्रतैल मर्दन करने से दाहयुक्त ज्वर दूर होता है ॥ ७८९ ॥

अथ महाषट्गुणतक्रतैलमाह—

रास्नानागरकुष्ठचन्दननिशायष्टयाह्वकृष्णाबला-लाक्षासैन्धवसारिवामधुरसादेवाह्वरोहीतकैः ॥
सोशीराम्बुधिफेनरोहिषजलैस्तैलं पचेत्षड्गुणे तक्रे तच्च जयेज्ज्वरं दृढतरं दाहादिशीतादिकम् ७९०

महाषट्गुणतक्रतैल—रास्ना, सोंठ; कूठ, सफेद चन्दन, हल्दी, मुलेठी, पीपल, खिरैटी, लाख, सेंधा निमक, अनन्तमूल, मूर्वा, देवदारु; रोहिणी (कटेढा), खस, समुद्रफेन, रोहिष तृण और सुगन्धवाला इन सबों के कल्क को तेल में डालकर तेल से छगुने तक्र के साथ यथाविधि पकावें। पश्चात् जब सिद्ध हो जाय तब उतार कर छान लेवें। यह महाषट्गुणतक्र तेल मर्दन करने से भयङ्कर दाह तथा शीतयुक्त ज्वर को दूर कर देता है ॥ ७९० ॥

*चन्दनमत्र श्वेतम्। मधुरसा=मूर्वा। रोहीतक,="रोहिणी"ति लोके। "रोहिषे"ति रोहिततृणविशेषः। जल=वालम् ॥ ७९० ॥

यहां पर "चन्दन" पद का "सफेद चन्दन"। "मधुरसा" का "मूर्वा"। "रोहीतक" का लोक प्रसिद्ध "रोहिनी" "रोहिष" का "रोहिष तृण विशेष"। "जल" का "सुगन्धवाला" अर्थ समझना चाहिये ॥ ७९० ॥

अथ पद्मकादितैलमाह—

पद्मकोत्पलकह्लार-मृणालबिसपौष्करैः। कुमुदोशीरमञ्जिष्ठा-पद्मगैरिककट्फलैः ॥ ७९१ ॥
सारिवाद्वयलोध्राह्वक्षीरीखर्जूरमस्तकैः। धात्रीशतावरीयुक्तैः क्वाथे कल्के प्रयोजितैः ॥ ७९२ ॥
लाक्षारसपयःशुक्त-मस्तुभिः सह काञ्जिकैः ॥ पक्वं तैलमिदं त्वच्यं दाहज्वरहरं परम् ॥ ७९३ ॥

पद्मकादितैल—पद्माख; नीलकमल, कल्हार (लाल कमल), कमल का मूल, कमल का कोमल नाल, पुष्करमूल, कुमुद, खस, मजीठ, कमल, गेरू, कायफल, सफेद तथा काला अनन्तमूल, लोध; दुद्धी, खजूर का मस्तक, आमला और शतावर इन सबों का क्वाथ और कल्क दोनों बनाकर लाख का रस, दूध, शुक्त (सिरका), दही का जल और काञ्जी के साथ सबों को यथाविधि तिल के तैल में डाल कर पकावें, जब सिद्ध हो जाय तब उतार कर छान लेवें। यह पद्मकादि तैल मर्दन करने से त्वचा के लिये हितकर तथा दाहपूर्वक ज्वर को दूर करने में उत्तम है (१) ॥ ७९१-७९३ ॥

*लाक्षारसादि पृथक् तैलतुल्यम् ॥ ७९१-७९३ ॥

यहा पर यह और समझ लेना चाहिये कि—लाख का रस, दूध, शुक्त, दही का जल, और काञ्जी ये सब पृथक् पृथक् तैल के बराबर ही लेना चाहिये ॥ ७९१-७९३ ॥

अथ प्रलेपकस्य चिकित्सामाह—

प्रलेपके प्रयुञ्जीत श्लेष्मज्वरहरीं क्रियाम् ॥ ७९४ ॥

प्रलेपक ज्वर की चिकित्सा—प्रलेपक ज्वर में कफज्वर को दूर करने वाली पूर्वोक्त (कफज्वर में कही जा चुकी) क्रियाओं को करना चाहिये ॥ ७९४ ॥

अथ माहेश्वरधूपमाह—

रुद्रजटा गोशृङ्गं विडालविष्टोरगस्य निर्मोकः। मदनफलमृतकेश्यौ वंशत्वग्रुद्रनिर्माल्यम् ॥७९५॥
घृतयवमयूरपुच्छच्छगलकलोमानि सर्षपाः सवचाः।
हिङ्गुगवास्थिमरीचाः समभागाश्छागमूत्रसंपिष्टाः ॥ ७९६ ॥
धूपनविधिना शमयन्त्येते सर्वाञ्ज्वरान्नियतम्। ग्रहडाकिनीपिशाचप्रेतविकारानयं धूपः ॥७९७॥

माहेश्वर धूप—जटाधारी, गौका सींग, बिलार की विष्ठा, सांप की केंचुली, मैनफल, जटामांसी, बांस की छाल, शिवजी का निर्माल्य (चढा हुआ) पुष्पादिक (बेलपत्रादिक), गौ का घी, जौ, मोर की पूंछ (जिसमें चन्द्राकार बना हुआ रहता है), बकरे के रोएँ, सरसों, वच, हींग, गौ की हड्डी और मरिच इन सबों को समान भाग में लेकर बकरे के मूत्र के साथ पीस कर धूप देने से सर्व प्रकार के ज्वर निश्चित रूप से शान्त हो जाते हैं। और इस माहेश्वर धूप के प्रयोग से ग्रह-डाकिनी-पिशाच तथा प्रेत इन सबों की बाधा दूर हो जाती है ॥ ७९५-७९७ ॥

(१) पद्माख आदि कल्क द्रव्य मिलित १ सेर, तिलतैल ४ सेर, लाख का रस ४ सेर, दूध ४ सेर, शुक्त (सिरका) ४ सेर, दही का पानी ४ सेर, काञ्जी ४ सेर, जल ४ सेर, लेकर विधिपूर्वक तैल सिद्धकरें।

*रुद्रजटा = जटाधारी । भूतकेशी = जटामांसी । रुद्रनिर्माल्यम् = पुष्पादि । मयूरपुच्छं = चन्द्रकम् ॥ ७९६-७९७ ॥

यहां पर "रुद्रजटा" पद का "जटाधारी"। "भूतकेशी" का "जटामांसी"। "रुद्रनिर्माल्य" का "शिवजी का चढा हुआ पुष्पादिक (बेलपत्रादि)" और "मयूरपुच्छ" का "मोर की पूंछ (जिसमें चन्द्राकार बना हुआ रहता है)" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ७९५-७९७ ॥

अथ देवस्तुतिपूजने आह—

सोमं सानुचरं देवं समातृगणमीश्वरम् । पूजयन्प्रयतः शीघ्रं मुच्यते विषमज्वरात् ॥ ७९८ ॥

देवताओं की स्तुति तथा पूजन—पवित्र होकर उमा (पार्वतीजी) के सहित, नन्दी आदिक गणों से युक्त, मातृगण के साथ विराजमान श्री महादेवजी का पूजन करने से मनुष्य विषमज्वर से शीघ्र मुक्त हो जाता है ॥ ७९८ ॥

*सोमम् = उमया सहितम् । सानुचरं = नन्द्यादिगणसहितम् । प्रयतः = पवित्रः ॥७९८॥

यहा पर "सोमम्" पद का "उमा (पार्वतीजी) के सहित"। "सानुचरम्" का "नन्दी आदिक गणों से युक्त"। "प्रयत." का "पवित्र होकर" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ७९८ ॥

विष्णुं सहस्रमूर्द्धानं चराचरपतिं विभुम् । स्तुवन्नामसहस्रेण ज्वरान्सर्वान्व्यपोहति ॥ ७९९ ॥

और "सहस्रशीर्षा" इत्यादिक वेदमन्त्रों द्वारा कहे हुये; चर-अचर (स्थावर, जङ्गम) सपूर्ण जगत् के स्वामी, सर्वत्र व्यापक श्रीविष्णु भगवान् की महाभारत मे कहे हुये विष्णु के सहस्र नामों से (विष्णु सहस्र नाम मे) स्तुति करने मे सपूर्ण ज्वर दूर हो जाते हैं ॥ ७९९ ॥

*सहस्रमूर्द्धानमिति = सहस्रशीर्षेत्यादिवेदाभिहितम् । नामसहस्रेण = भारतोक्तेनेत्यर्थः॥७९९॥

यहा पर "सहस्रमूर्द्धानम्" पद का "सहस्रशीर्षा" इत्यादिक वेदमन्त्रों द्वारा कहे हुये"। "नाम सहस्रेण" का "महाभारत में कहे हुये विष्णु के सहस्र (१०००)नामों से" यह अर्थ समझना चाहिये।

तीर्थायतनदेवाग्नि-गुरुवृद्धोपसर्पणैः । श्रद्धया पूजनैश्चापि सहसा शाम्यति ज्वरः ॥ ८०० ॥

ऋषियों के द्वारा सेवित अतएव तीर्थस्वरूप जल का सेवन, देवताओं से अधिष्ठित स्थान (देवताओं के निवास स्थान) पुरुषोत्तम क्षेत्र (जगन्नाथ पुरी), श्रीशैलादिक स्थानों का सेवन, और देवता, अग्नि, गुरु तथा वृद्धजनों का पूजन करना इन सब कार्यों से तथा श्रद्धापूर्वक ज्वर का पूजन करने से भी ज्वर सहसा शान्त हो जाता है ॥ ८०० ॥

*ज्वरस्यापि देवत्वात्पूजा कार्या। यत आह विदेह—तीर्थेति। तीर्थम् = ऋषिजुष्टं-जलम् । आयतनं = देवाधिष्ठितं पुरुषोत्तमक्षेत्र—श्रीशैलादि ॥ ८०० ॥

यहा पर यह और भी समझना चाहिये कि—यह श्लोक "विदेह" का कहा हुआ है । तथा ज्वर भी देवस्वरूपी है अतः उसकी पूजा करने के लिये इस श्लोक में कहा गया है। "तीर्थ" पद का "ऋषियों के द्वारा सेवित अत एव तीर्थस्वरूप जल"। "आयतन" का "देवताओं से अधिष्ठित स्थान (देवताओं के निवास स्थान) पुरुषोत्तमक्षेत्र, श्रीशैलादिक स्थान" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ८०० ॥

इति विषमज्वराधिकार. समाप्त ।

अथ रसादिधातुगतज्वरलक्षणचिकित्से ।

तत्र रसगतज्वरस्य लक्षणमाह—

गुरुता हृदयोत्क्लेशः सदनं छर्द्यरोचकौ । रसस्थे तु ज्वरे लिङ्गं दैन्यं चास्योपजायते ॥ ८०१ ॥

रसादि धातुगत ज्वरों के लक्षण तथा चिकित्सा में प्रथम रसगत ज्वर के लक्षण—जब ज्वर विशेषरूप से रसधातुगत होता है तब रोगी के शरीर मे गुरुता (भारीपन), हृदय में रहने वाले दोषों के बढ जाने से वमन होने के समान प्रतीत होना, ग्लानि, वमन, अरुचि तथा चित्त में दीनता ये सब लक्षण प्रगट होते हैं ॥ ८०१ ॥

*गुरुता गात्राणाम् । हृदयोत्क्लेशः = हृदयस्थस्य दोषस्योपचितत्वाद्वमनमिव । दैन्यं = क्लीबचित्तता । रसस्थे = रसधातुगते ज्वरे । यद्यपि रसैकधातु प्राप्य सन्ततश्चाय तथाऽप्यनुक्रमधातुगतकथनार्थं एवात्र निर्देशः ॥ ८०१ ॥

यहां पर "गुरुता" पद का "अङ्गों में गुरुता"। "हृदयोत्क्लेश" का "हृदय में रहने वाले दोष के बढ जाने से वमन होने के समान प्रतीत होना"। "दैन्य" पद का "चित्त में दीनता" तथा 'रसस्थे" पद का "जब ज्वर विशेष रूप से रसधातुगत होता है तब" यह अर्थ समझना चाहिये। और यह

भी समझना चाहिये कि-यद्यपि एक मात्र रस धातु को प्राप्त होकर यह ज्वर उत्पन्न होता है अत एव पूर्वोक्त सन्तत ज्वर ही है तथापि पुनः जो यहां पर कहा गया है वह अनुक्रम से धातुगत ज्वरों को कहने के लिये ही समझना चाहिये ॥ ८०१ ॥

अथ रसगतज्वरस्य चिकित्सामाह—

रसस्थे तु ज्वरे तस्मिन् कुर्याद्वमनलङ्घने ॥ ८०२ ॥

रसगतज्वर की चिकित्सा—रसधातुगत ज्वर में रोगी को वमन तथा लङ्घन कराना चाहिये॥८०२॥

अथ रक्तगतज्वरस्य लक्षणमाह—

रक्तनिष्ठीवनं दाहो मोहश्छर्दनविभ्रमौ । प्रलापः पिडिका तृष्णा रक्तप्राप्ते ज्वरे नृणाम्॥८०३॥

रक्तगत ज्वर के लक्षण—रक्तगत ज्वर होने पर रोगी के थूक के साथ रक्त निकलता है और दाह, चित्त में व्यग्रता; वमन; विशेष भ्रम, प्रलाप; शरीर में फुडिया निकलना तथा प्यास अधिक लगना ये सब लक्षण प्रगट होते हैं ॥ ८०३ ॥

***मोहो = व्यग्रचित्तता ॥ ८०३ ॥**

यहां पर "मोह" पद का "चित्त में व्यग्रता" अर्थ समझना चाहिये ॥ ८०३ ॥

अथ रक्तगतज्वरस्य चिकित्सामाह—

सेकः संशमनो लेपो रक्तमोक्षमसृग्गते ॥ ८०४ ॥

रक्तगत ज्वर की चिकित्सा—रक्तगत ज्वर में जलादि से शरीर पर सेचन करना; संशमन लेप करना तथा रक्त निकलवाना (फस्त खुलवाना आदिक) हितकर होता है ॥ ८०४ ॥

अथ मांसगतज्वरस्य लक्षणमाह—

पिण्डकोद्वेष्टनं तृष्णा सृष्टमूत्रपुरीषता । ऊष्माऽन्तर्दाहविक्षेपौ ग्लानिः स्यान्मांसगे ज्वरे॥८०५॥

मांसगत ज्वर के लक्षण—मांसगत ज्वर होने पर रोगी के पिंडलियों में डण्डे से मारने के समान पीडा होना, अधिक प्यास लगना, मूत्र तथा मल का वारम्वार होना, शरीर के बाहर गर्म रहना तथा भीतर दाह होना, हाथ-पैरों का इधर उधर वारम्वार फेंकना और ग्लानि होना ये सब लक्षण प्रकट होते हैं॥८०५॥

***"ऊष्माऽन्तर्मोहविक्षेपावि"ति के चित्पठन्ति। तत्रोष्मा—अन्तः। विक्षेपः = हस्तपादादिचालनम् ॥ ८०५ ॥**

यहां पर "ऊष्माऽन्तर्दाहविक्षेपौ" इसके स्थान में कोई २ "ऊष्माऽन्तर्मोहविक्षेपौ" ऐसा पाठ पढ़ते हैं। इस पाठ में "ऊष्मान्त." पद का "शरीर के अन्दर गर्मी प्रतीत होना" तथा "विक्षेप" पद का "हाथ-पैरों को इधर उधर वारम्वार फेंकना" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ८०५ ॥

अथ मांसगतज्वरस्य चिकित्सामाह—

तीक्ष्णं विरेकञ्च तथा कुर्यान्मांसगते ज्वरे ॥ ८०६ ॥

मांसगत ज्वर की चिकित्सा—मांसगत ज्वर में रोगी को तीक्ष्ण औषधियों के द्वारा विरेचन (दस्त) कराना उचित होता है ॥ ८०६ ॥

अथ मेदोगतज्वरस्य लक्षणमाह—

भृशं स्वेदस्तृषा मूर्च्छा प्रलापश्छर्दिरेव च । दौर्गन्ध्यारोचकौ ग्लानि र्मेदःस्थे चासहिष्णुता॥८०७॥

मेदोगत ज्वर के लक्षण—मेदोगत ज्वर में रोगी को अधिक पसीना निकलना, अधिक प्यास लगना और मूर्च्छा—प्रलाप—तथा वमन होना एवम् शरीर से दुर्गन्ध आना तथा अरुचि होना ये सब लक्षण प्रगट होते हैं ॥ ८०७ ॥

***भृशं स्वेदो मेदोमलत्वात् ॥ ८०७ ॥**

यहां पर यह और समझ लेना चाहिये कि—पसीना मेदा धातु का मल है अत एव इस (मेदोगत) ज्वर में "अधिक पसीना निकलना" यह लक्षण भी कहा गया है ८०७ ॥

अथ मेदोगतज्वरस्य चिकित्सामाह—

मेदःस्थे मेदसो नाशं विदधीत चिकित्सकः ॥ ८०८ ॥

मेदोगत ज्वर की चिकित्सा—वैद्य को उचित है कि-मेदोगत ज्वर में जिनसे मेदा का नाश हो ऐसी औषधियों तथा उपायों द्वारा रोगी की चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ८०८ ॥

अथास्थिगतज्वरस्य लक्षणमाह—

भेदोऽस्थ्नां कूजनं श्वासो विरेकश्छर्दिरेव च । विक्षेपणञ्च गात्राणां विद्यादस्थिगते ज्वरे॥८०९॥

अस्थिगत ज्वर के लक्षण—अस्थिगत ज्वर में रोगियों के हड्डियों में टूटने के समान पीडा, कूंथना, श्वास, दस्त, वमन और हाथ-पैर आदिक अंगों को इधर उधर फेंकना ये सब लक्षण होते हैं ॥८०९॥

अथास्थिगतज्वरस्य चिकित्सामाह—

अस्थिस्थे तु ज्वरे कुर्याद् वातनाशनकं विधिम्। वस्तिकर्म प्रयोक्तव्यमभ्यङ्गोन्मर्दनं तथा॥८१०॥

अस्थिगत ज्वर की चिकित्सा—अस्थिगत ज्वर में वात को दूर करने वाली चिकित्सा करनी चाहिये तथा वस्तिकर्म, वातहर तेलों की मालिश और शरीर मर्दन भी कराना चाहिये ॥ ८१० ॥

अथ मज्जगतज्वरस्य लक्षणमाह—

तमःप्रवेशनं हिक्का कासः शैत्यं वमिस्तथा। अन्तर्दाहो महाश्वासो मर्मच्छेदश्च मज्जगे ॥ ८११ ॥

मज्जागत ज्वर के लक्षण—मज्जागत ज्वर में रोगी को अन्धकार में प्रवेश करने के समान प्रतीत होना, हिचकी, खांसी, शीत (सर्दी) लगना, वमन, शरीर के अन्दर दाह, महाश्वास तथा मर्मस्थानों में छेदने के समान पीडा होना ये सब लक्षण प्रगट होते हैं ॥ ८११ ॥

***असाध्यत्वान्नात्र चिकित्सा ॥ ८११ ॥**

यहां पर यह और समझना चाहिये कि—असाध्य होने से मज्जागत ज्वर की चिकित्सा शास्त्रकारों ने नहीं बताई है ॥ ८११ ॥

अथ शुक्रगतज्वरस्य लक्षणमाह—

मरणं प्राप्नुयात्तत्र शुक्रस्थानगते ज्वरे। शेफसः स्तब्धता मोक्षः शुक्रस्य तु विशेषतः ॥ ८१२ ॥

शुक्रगत ज्वर के लक्षण—शुक्रस्थानगत ज्वर में रोगी की मूत्रेन्द्रिय (लिङ्ग) में जडता होना तथा विशेषरूप से शुक्र का बारबार निकलते रहना ये सब लक्षण प्रगट होते हैं। और इन लक्षणों के प्रगट होने पर रोगी मृत्यु को प्राप्त हो जाता है ॥ ८१२ ॥

***ननु "शुक्रस्थानगते मरणमि"त्युक्तं तच्च शुक्रं सर्वदेहगं? नैवं स्वाश्रयस्थशुक्रगे मरणम् ॥८१२॥**

यहां पर यह शङ्का होती है कि—"शुक्रस्थान गत ज्वर में मरण होना है" ऐसा जो यहां पर कहा गया है वह कैसे सगत हो सकता है? क्योंकि शुक्र सपूर्ण शरीर मे रहता है अत एव उसका कोई स्थान निश्चित नहीं है। इसके उत्तर में यह कहते हैं कि—"शुक्रस्थान गत ज्वर में मरण होता है" इसका अर्थ "शुक्र का आशय जो शुक्राशय है उसमें स्थित शुक्रगत ज्वर में मरण होता है" ऐसा समझना चाहिये। अत एव ऐसा कहने से शुक्र का स्थान (शुक्राशय) निर्दिष्ट हो गया, जिससे शङ्का करने का स्थल नहीं रह गया यह और समझ लेना चाहिये ॥ ८१२ ॥

इति सप्तधातुगतज्वराधिकारः समाप्तः।

अथ जीर्णज्वराधिकारः।

तत्र जीर्णज्वरस्य सामान्यलक्षणमाह—

यो द्वादशेभ्यो दिवसेभ्य ऊर्ध्वं दोषत्रयेभ्यो द्विगुणेभ्य ऊर्ध्वम् ॥
नृणां तनौ तिष्ठति मन्दवेगो भिषग्भिरुक्तो ज्वर एष जीर्णः ॥ ८१३ ॥

जीर्णज्वराधिकार मे जीर्णज्वर के सामान्य लक्षण—जो ज्वर बारह दिन के बाद तथा तीनों दोषों के अवधि के दुगुने दिनों के बाद भी मनुष्यों के शरीर में मन्द वेग से बना रहता है। उसको वैद्य लोग जीर्णज्वर (पुराना ज्वर) कहते हैं ॥ ८१३ ॥

अथ जीर्णज्वरविशेषस्य वातबलासकस्य लक्षणमाह—

नित्यं मन्दज्वरो रूक्षः शूनः कृच्छ्रेण सिद्ध्यति। स्तब्धाङ्गः श्लेष्मभूयिष्ठो नरो वातबलासकी॥८१४

जीर्णज्वर के भेद वातबलासकज्वर के लक्षण—वातबलासकज्वर नामक जीर्णज्वर वाला रोगी नित्य मन्दवेग से युक्त ज्वर वाला, रूक्ष-शोथयुक्त, जकड़े अङ्गों वाला तथा अधिक कफ से युक्त होता है। और यह कृच्छ्रसाध्य होना है; अर्थात् बडी कठिन चिकित्सा करने से यह दूर होता है ॥ ८१४ ॥

***वातबलासकी नर ईदृग् भवेत्। शूनः=शोथी। श्लेष्मभूयिष्ठो=बहुश्लेष्मकः ॥ ८१४ ॥**

यहां पर यह और भी समझना चाहिये कि—वातबलासक नामक जीर्णज्वर वाला रोगी ऐसा होता है अर्थात् उक्त लक्षणों से युक्त होता है। और "शूनः" पद का "शोथयुक्त" तथा "श्लेष्मभूयिष्ठ." पद का "अधिक कफ से युक्त" अर्थ समझना चाहिये ॥ ८१४ ॥

अथ जीर्णज्वरस्य सामान्यचिकित्सामाह—

जीर्णज्वरी नरः कुर्यान्नोपवासं कदाचन। लङ्घनात्स भवेत्क्षीणो ज्वरस्तु स्याद्बली यतः ॥

पुराणेऽपि ज्वरे दोषा यद्यपथ्यैः पुनस्तथा । लङ्घयेत्तत्र तत्पश्चात् पूर्वमेवापरेऽक्रियाम् ॥८१५॥

जीर्णज्वर की सामान्य चिकित्सा—जीर्णज्वर वाले रोगी को कभी भी उपवास नहीं करना चाहिये । क्योंकि-उस समय उपवास करने से रोगी क्षीण होता है किन्तु ज्वर बलवान् हो जाता है ।

और पुराने (जीर्ण) ज्वर में यदि अपथ्य आहार-विहारादि करने से पुनः दोष पूर्ववत् कुपित हो गये हों तो वहां पर उपवास कराना ही चाहिये और उसके बाद पूर्वोक्त नवज्वर की भांति सभी चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ८१५ ॥

तथा = पूर्ववत् ॥ ८१५ ॥

यहां पर "तथा" पद का "पूर्ववत्" अर्थ समझना चाहिये ॥ ८१५ ॥

अथ त्रिकण्टककाथमाह—

निदिग्धकानागरकामृतानां क्वाथं पिबेन्मिश्रितपिप्पलीकम् ।
जीर्णज्वरारोचककासशूल-श्वासाग्निमान्द्यार्दितपीनसेषु ॥ ८१६ ॥
हन्त्यूर्ध्वजत्रुगमयं प्रायः सायन्तेनोपयुज्यते ॥ ८१७ ॥

त्रिकण्टक क्वाथ—कटेरी; सोंठ तथा गिलोय इन सबों के क्वाथ में पीपल के चूर्ण का प्रक्षेप करके पीने से जीर्णज्वर, अरुचि, खांसी, शूल, श्वास; अग्नि की मन्दता, अर्दित (वातरोग) तथा पीनस रोग नष्ट होता है(१) । और यह प्रायः करके ऊर्ध्वजत्रुगत (कण्ठ के ऊपर के) रोगों को नष्ट करने वाला होता है अत एव सायंकाल में इसका प्रयोग करना चाहिये ॥ ८१६—८१७ ॥

अथ छिन्नोद्भवाऽऽदिक्वाथादिकानाह—

पिप्पलीमधुसंयुक्तः क्वायश्छिन्नोद्भवोद्भवः । जीर्णज्वरकफध्वंसी पञ्चमूलकृतोऽथ वा ॥
अमृतायाः कषायन्तु शीतलीकृतमीरितम् । मधुपादयुतं पीतं जीर्णज्वरहरं परम् ॥
पिप्पलीमधुसम्मिश्रं गुडूचीस्वरसं पिबेत् । जीर्णज्वरकफप्लीह कासारोचकनाशनम् ॥ ८१८ ॥

छिन्नोद्भवाऽऽदि क्वाथादिकों में प्रथम छिन्नोद्भवाऽऽदिक्वाथ—गिलोय अथवा पञ्चमूल (बृहत्पञ्चमूल-बेल, अरणी; गम्भारी, सोनापाठा, पाढल इन सबों की छाल) का क्वाथ बनाकर उसमें पीपल का चूर्ण तथा मधु डालकर पिलाने से जीर्णज्वर तथा कफ नष्ट हो जाता है ।

अमृताकषाय—गिलोय का क्वाथ बनाकर अत्यन्त शीतल हो जाने पर उसमें क्वाथ का चतुर्थांश मधु डाल कर पीने से जीर्णज्वर का नाश अवश्य होता है(२) ।

गुडूचीस्वरस—गिलोय के स्वरस में पीपल का चूर्ण तथा मधु मिलाकर पीने से जीर्णज्वर; कफ; प्लीहा, कास और अरुचि ये सब नष्ट हो जाते हैं (३) ॥ ८१८ ॥

अथ गुडपिप्पलीप्रयोगमाह—

जीर्णज्वरेऽग्निमान्द्ये च शस्यते गुडपिप्पली । कासाजीर्णारुचिश्वास-हृत्पाण्डुकृमिरोगनुत् ॥
द्विगुणः पिप्पलीचूर्णाद् गुडोऽत्र भिषजां मतः ॥ ८१९ ॥

गुडपिप्पली का प्रयोग—गुडपिप्पली (गुड तथा पीपल का चूर्ण) का प्रयोग जीर्णज्वर तथा अग्नि की मन्दता में उत्तम होता है । और खांसी, अजीर्ण; अरुचि, श्वास (दमा), हृद्रोग, पाण्डुरोग तथा कृमिरोगनाशक होता है । और गुडपिप्पली-प्रयोग में पीपल के चूर्ण से गुड दुगुना लेना चाहिये । ऐसा वैद्यों का मत है ॥ ८१९ ॥

अथ पिप्पलीमधुप्रयोगमाह—

पिप्पली मधुसंयुक्ता मेदःकफविनाशिनी । श्वासकासज्वरहरी पाण्डुप्लीहोदरापहा ॥ ८२० ॥

मधुपिप्पली का प्रयोग—पीपल का चूर्ण मधु के साथ खाने से मेदा, कफ, श्वास, खांसी, ज्वर,

---

(१) कटेरी आदि द्रव्यों को मिलाकर ४ तोले लेकर दुरकुच करके आध सेर जल में पकाकर एक छटाक रह जाने पर उतार छानकर पिलाना चाहिये ।

(२) ताजी नीम के वृक्षपर लगी हुई (अभाव में कहीं भी लगी हुई जो नवीन तथा कृमियों से खाई न हो) गुरुच ४ तोले लेकर आध सेर जल में विधिवत् क्वाथ करें । एक छटाक रह जाने पर १$\frac{1}{2}$ तोला मधु मिलाकर सेवन करें ।

(३) ४ तोला गुडूची के स्वरस में मधु एक तोला तथा पिप्पली का चूर्ण १ माशा मिलाना चाहिये ।

पाण्डुरोग; प्लीहा।तथा उदररोग ये सब नष्ट हो जाते हैं ॥ ८२० ॥

अथामलकादिचूर्णमाह—

आमलं चित्रक पथ्या पिप्पली सैन्धव तथा ॥ ८२१ ॥

चूर्णितोऽयं गणो ज्ञेयः सर्वज्वरहरः परः । भेदी रुचिकरः श्लेष्महन्ता दीपनपाचनः ॥८२२॥

आमलकादि चूर्ण—आँवला, चीता की जड़ की छाल, हरड, पीपल; सेंधानमक इन सबों के चूर्ण को एकत्र कर सेवन करने से सर्वप्रकार के ज्वर दूर हो जाते हैं । और यह चूर्ण मल का भेदन करने वाला, रुचिकारक; कफनाशक, अग्निदीपक तथा पाचक होता है(१)॥ ८२१—८२२ ॥

अथ द्राक्षाऽऽष्टादशाङ्गक्वाथमाह—

द्राक्षाऽमृता शटी शृङ्गी मुस्तक रक्तचन्दनम् । नागर कटुका पाठा भूनिम्बः सदुरालभः ॥८२३॥
उशीर धान्यक पद्म वालकं कण्टकारिका । पुष्कर पिचुमन्दश्च दशाष्टाङ्गमिद स्मृतम् ।
जीर्णज्वरारुचिश्वास-कासश्वयथुनाशनम् ॥ ८२४ ॥

द्राक्षाऽऽष्टादशाङ्ग क्वाथ—दाख, गिलोय, कचूर, काकडाशिंगी, नागरमोथा, लाल चन्दन, सोंठ, कुटकी; पाढ; चिरायता, धमासा, खस, धनिया; कमल, सुगन्धबाला; कटेरी (छोटी), पुरकरमूल और नीम की छाल इन १८ ओषधियों को समान भाग में लेकर क्वाथ बनाकर पीने से जीर्णज्वर, अरुचि; श्वास; खांसी तथा शोथ ये सब नष्ट हो जाते हैं (२) ॥ ८२३—८२४ ॥

अथ वर्द्धमानपिप्पलीमाह—

त्रिवृद्ध्या पञ्चवृद्ध्या वा सप्तवृद्ध्याऽथवाऽपि वा । गव्यक्षीरेण सम्पिष्टाः पिबेद्दशदिनानि हि ८२५
तथैवापनयेदेता एव विंशतिवासरान् । पिबतां ज्वरशान्तिःस्यात् पाण्डुरोगश्च शाम्यति ॥८२६॥
कासः श्वासोऽग्निमान्द्यञ्च कफाधिक्यञ्च नश्यति ॥ ८२७ ॥

वर्द्धमान पिप्पली—तीन २ अथवा पाच २ किंवा सात २ प्रतिदिन बढाते हुए पीपलों को गाय के दूध में पीस कर दश दिन तक पीवै उसके बाद ११ वें दिन से क्रमतः उत्तरोत्तर घटाता जावै अन्त में बीसवें दिन तक पुन: पूर्ववत् आरम्भ वाले दिन की भाति ३, ५, या ७ पीपलों को दूध में पीस कर पीवै । इस भांति से २० दिन तक जो लोग पीपल का सेवन करते हैं उनका ज्वर शान्त हो जाता है तथा पाण्डुरोग, खासी, श्वास, अग्नि की मन्दता तथा कफ की अधिकता ये सब दूर हो जाते हैं ॥८२५-८२७॥

क्षत्र्यावृद्धिर्यथा-कफवृद्धिर्दुग्धवृद्धिर्यथाऽग्निवृद्धिः ॥ ८२५—८२७ ॥

यहा पर—"तीन, पांच या सात पीपलों को प्रतिदिन बढ़ाने के लिये जो कहा गया है वह कफ तथा अग्नि की वृद्धि के अनुसार ही समझना चाहिये । और जैसे २ पीपलों को बढाया जाय वैसे ही वैसे दूध भी बढाना उचित है । इसी बढाने के कारण से इसे वर्द्धमान पिप्पली कहते हैं" यह और समझना चाहिये ॥ ८२५—८२७ ॥

वातश्लेष्मज्वरोक्ता स्यात् क्रिया वातबलासके । जीर्णज्वरे कफे क्षीणे दाहे तृष्णासमन्विते॥८२८॥
पयः पीयूपसदृश तन्नवे तु विषोपमम् । चन्दनाद्य हित तैल शोषाधिकारकीर्त्तितम् ।
तथा नारायण तैल जीर्णज्वरहर परम् ॥ ८२९ ॥

वातकफज्वर में कही हुई जो चिकित्सा है उसी को वातबलासक ज्वर में भी करना चाहिये ।

और जीर्णज्वर में तथा कफ के क्षीण होने पर एवम् तृष्णा (प्यास) से युक्त दाह में दूध अमृत के समान हितकारी होता है, किन्तु यदि नवीन ज्वर हो तो वही दूध विष के समान हानिकारक भी होता

और शोषाधिकार में कहा हुआ चन्दनादि तेल भी जीर्णज्वर मे हितकर होता है । एवम् नारायण तेल भी जीर्णज्वर नाश करने में उत्तम होता है ॥ ८२८—८२९ ॥

इति जीर्णज्वराधिकारः सम्पूर्णः ।

अथ दुर्जलजनितज्वरचिकित्सा ।

तत्र हरीतक्यादिचूर्णमाह—

हरीतकी निम्बपत्रं नागरं सैन्धवोऽनलः । एषां चूर्णं सदा खादेद् दुर्जलज्वरशान्तये ॥८३०॥

---

(१) इस चूर्ण को ६ मासे की मात्रा में सेवन कराना चाहिये ।

(२) दाख आदि क्वाथ्य द्रव्य ४ तोला, जल आध सेर पाक करके अष्टमांशावशेष उतारे । इसे छान कर शीतल होने पर पिलावें ।

दूषित जल से उत्पन्न ज्वर की चिकित्सा में प्रथम हरीतक्यादि चूर्ण—हरड, नीम की पत्ती; सोंठ, सेंधा निमक, चीते की छाल इन सबों के चूर्ण को सदा दूषित जल से उत्पन्न ज्वर की शान्ति के लिये खाना चाहिये ॥ ८३० ॥

अथ शुण्ठीक्वाथमाह—

अरुचिमनलमान्द्यं पीनसश्वासकासा-नुदरमुदकदोषानाशु हन्यादशेषान् ।
जनयति तनुकान्तिं चित्तनेत्रप्रसादं पलपरिमितशुण्ठीक्षौद्रसिद्धः कषायः ॥ ८३१ ॥

शुण्ठी क्वाथ— ४ तोले सोंठ का क्वाथ बना कर उसमें शहद डाल कर पीने से अरुचि; अग्नि की मन्दता; पीनस रोग, श्वास (दमा), खांसी, उदररोग और दूषित जल से उत्पन्न होने वाले सभी ज्वरादिक दोष शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। तथा इससे शरीर में कान्ति, चित्त में प्रसन्नता और नेत्रों में निर्मलता उत्पन्न होती है ॥ ८३१ ॥

अथ दुर्जलजेतृरसमाह—

विषं भागद्वयं दग्धं कपर्दं पञ्चभागकम् । मरिचं नागरञ्चैव चूर्णं वस्त्रेण शोधयेत् ॥ ८३२ ॥
आर्द्रकस्य रसेनास्य कुर्यान्मुद्गनिभां वटीम् । वारिणा वटिकायुग्मं प्रातः सायञ्च भक्षयेत् ॥ ८३३ ॥
अयं रसो ज्वरे योज्यः सामे दुर्जलजेऽपि च । अजीर्णाध्मानविष्टम्भ-शूलेषु श्वासकासयोः ॥ ८३४ ॥

दुर्जलजेतृरस—शुद्ध वत्सनाभ विष २ भाग, कौडी की भस्म ५ भाग, मरिच ५ भाग सोंठ ५ भाग इन सबोंका यथायोग्य कपड़छान सूक्ष्म चूर्ण लेकर अदरख के रस के साथ खरल करके मूंग के बराबर २ गोली बना लेवे, पश्चात् आवश्यकता पड़ने पर प्रातः तथा साय काल जल के साथ दो २ गोली खाना चाहिये । और इस रस का प्रयोग आमदोष-युक्त ज्वर, दूषित जल से उत्पन्न ज्वर; अजीर्ण; आध्मान (अफारा); विष्टम्भ; शूल, श्वास तथा कास इन सब रोगों में करना उत्तम होता है (१) ॥ ८३२-८३४ ॥

अथ पटोलादिक्वाथमाह—

पटोलमुस्ताऽमृतवल्लिवासकं सनागरं धान्यकिराततिक्तकम् ।
कषायमेषां मधुना पिबेन्नरो निवारयेद् दुर्जलदोषमुल्बणम् ॥ ८३५ ॥

पटोलादि क्वाथ—परवल के पत्ते, नागरमोथा; गिलोय, अडूसा, सोंठ, धनिया और चिरायता इन सबोंके क्वाथ में मधु डाल कर पीने से भयङ्कर दूषितजलजन्य ज्वरादिक दोष दूर हो जाते हैं (२) ॥ ८३५ ॥

अथ किराततिक्ताऽऽदिचूर्णमाह—

किराततिक्तात्रिवृदम्बुपिप्पली-विडङ्गविश्वाकटुरोहिणीरजः ।
निहन्ति लीढं मधुनाऽतिसत्वरं सुदुस्तरं दुर्जलदोषजं ज्वरम् ॥ ८३६ ॥

किराततिक्ताऽऽदि चूर्ण—चिरायता, निसोथ, सुगन्धवाला; पीपल, बायविडङ्ग, सोंठ और कुटकी इन सब का चूर्ण मधु के साथ चटने से दुःसाध्य दूषित जल से उत्पन्न होने वाला ज्वर शीघ्र नष्ट हो जाता है (३) ॥ ८३६ ॥

अथ शुण्ठ्यादिकल्कमाह—

भोजनाग्रे नरैर्भुक्तं शुण्ठ्यजाज्यभयोत्थितम् । कल्कन्तु सेवितं नित्यं नानादेशोद्भवं जलम् ॥ ८३७ ॥

शुण्ठ्यादि कल्क—सोंठ, जीरा तथा हरड इन सबों का कल्क (चटनी) बनाकर भोजन के पहले नित्य खाने से अनेक देशों के जल पीने से उत्पन्न होने वाले ज्वरादिक दोष उत्पन्न नहीं होते हैं। यदि हों तो नष्ट हो जाते हैं ॥ ८३७ ॥

अथार्द्रकादिकल्कमाह—

सहार्द्रकयवक्षारौ पीत्वा कोष्णेन वारिणा । नानादेशसमुद्भूतं वारिदोषमपोहति ॥ ८३८ ॥

आर्द्रकादि कल्क—अदरख तथा जवाखार इन दोनों का कल्क (चटनी) बनाकर किञ्चिद् गर्म जल के साथ खाने से अनेक देशों के जल से उत्पन्न होने वाले ज्वरादि दोष नष्ट हो जाते हैं ॥ ८३८ ॥

अथ साध्यज्वरलक्षणमाह—

बलवत्स्वल्पदोषेषु ज्वरः साध्योऽनुपद्रवः ॥ ८३९ ॥

---

(१) इसकी मात्रा १ रत्ती से २ रत्ती तक देनी चाहिये ।

(२) परवल आदि क्वाथ्य द्रव्य १ पल, पाकार्थ जल आध सेर, अवशेष १ छटाक, छानकर शीतल करके इसमें कुछ मधु मिलाकर देना चाहिये ।

(३) चिरायता प्रभृति ओषधियों को मिलाकर १ पल लेकर विधिवत् क्वाथ करना चाहिये ।

साध्यज्वर के लक्षण—ज्वर रोगी यदि बलवान् हो तथा उसके दोष स्वल्प बलशाली हों तथा उपद्रव रहित हों तो उसका ज्वर साध्य होता है अर्थात् चिकित्सा करने से शान्त होने वाला होता है॥८३९॥

अथ ज्वरोपद्रवानाह—

श्वासो मूर्च्छाऽरुचिश्छर्दिस्तृष्णाऽतीसारविड्ग्रहाः। हिक्काकासाङ्गदाहाश्च ज्वरस्योपद्रवा दश॥८४०॥

ज्वर के उपद्रव—१ श्वास, २ मूर्च्छा; ३ अरुचि, ४ वमन, ५ प्यास, ६ अतीसार, ७ मलबन्ध, ८ हिचकी; ९ खासी, १० शरीर में दाह ये दश ज्वर के उपद्रव हैं॥ ८४०॥

अथ प्रसङ्गाज्ज्वरोपद्रवाणां चिकित्सामाह—

सञ्जातोपद्रवो व्याधि-स्त्याज्यो न स्याच्चिकित्सकैः।
व्याधौ शान्ते प्रणश्यन्ति सद्यः सर्वेऽप्युपद्रवाः॥ ८४१॥
अतो व्याधिं जयेद्यत्नात् पूर्वं पश्चादुपद्रवान्। भिषग् यः कुशलः सोऽत्र जयेत्पूर्वमुपद्रवम्॥८४२॥
तेष्वपि प्रचुरेषु प्राङ् नाशयेदाशुकारिणम्। मूलव्याधिं जयेत्पूर्वं यत्र यो वा भवेद्बली।
अविरोधेन कार्या त-दुभयोरपि च क्रिया॥ ८४३॥

प्रसङ्गवश पूर्वोक्त ज्वर के उपद्रवों की किचित्सा—जिन रोगों में उसके उपद्रव स्वरूप रोग उत्पन्न हो गये हों तो वैद्य को घवडाकर उन रोगों की चिकित्सा करना नहीं छोड देना चाहिये, क्योंकि—मूल रोग के दूर होने पर उसके उपद्रव स्वरूप रोग तत्काल नष्ट हो जाते हैं। अतः यत्नपूर्वक प्रथम मूल रोग की चिकित्सा करनी चाहिये पश्चात् उसके उपद्रव स्वरूप रोगों की चिकित्सा करना उचित है। किन्तु जो चतुर वैद्य हैं वे आवश्यकताऽनुसार प्रथम उपद्रव स्वरूप रोगों की चिकित्सा करते हैं, और उन उपद्रवों में भी जो अधिक बलशाली होने से शीघ्र अपने कार्य को करने वाले अर्थात् दुःखदायी होते हैं उनकी सर्वप्रथम चिकित्सा करते हैं। अस्तु प्रथम मूल रोग की चिकित्सा करनी चाहिये अथवा मूल रोग तथा उपद्रव स्वरूप रोग इन दोनों में जो अधिक बलवान् हो उसकी चिकित्सा करनी चाहिये। और यदि मूल रोग तथा उपद्रव स्वरूप रोग इन दोनों की साथ २ चिकित्सा करनी हो तो जिसमें एक दूसरे की चिकित्सा परस्पर विरुद्ध न हो ऐसी चिकित्सा करनी चाहिये॥ ८४१–८४३॥

तत्र ज्वरे श्वासस्य चिकित्सामाह।

अथ दशाङ्गक्वाथमाह—

सिंही व्याघ्री ताम्रमूली पटोली शृङ्गी पद्मा पुष्करं रोहिणी च।
शाकं शट्याः शैलमल्ल्याश्च बीजं श्वासं हन्यात्सन्निपातं दशाङ्गः॥ ८४४॥

ज्वर में उपद्रव स्वरूप श्वास रोग की चिकित्सा में दशाङ्ग क्वाथ—बडी कटैया (कटेरी), छोटी कटेरी; धमासा; परवल के पत्ते, काकडाशिंगी, पद्मा (स्थलपद्म), पुष्करमूल, कुटकी, कचूर, कोरैया का बीज इन १० ओषधियों के क्वाथ को दशाङ्ग क्वाथ कहते हैं(१) इस क्वाथ के सेवन करने से सन्निपात तथा श्वास दोनों नष्ट हो जाते हैं॥ ८४४॥

सिंही=[बड़ी कटैया]। व्याघ्री=लघुकण्टकारी। ताम्रमूली=दुरालभा। रोहिणी=[कटुकी]। शैलमल्ली=[कोरैआ]॥ ८४४॥

यहां पर "सिंही" पद का "बडी कटैया"। "व्याघ्री" पद का "छोटी कटेरी"। "ताम्रमूली" पद का "धमासा"। "रोहिणी" का "कुटकी"। शैलमल्ली" का "कोरैआ" अर्थ समझना चाहिये॥८४४॥

अथ द्वात्रिंशत्क्वाथमाह—

भार्गीनिम्बघनाभयाऽमृतलताभूनिम्बवासाविषात्रायन्तीकटुकावचात्रिकटुकरयोनाशकद्रुमैः।
रास्नायासपटोलपाटलशटीदार्वीविशालात्रिवृद्ब्राह्मीपुष्करसिंहिकाद्वयनिशाधान्यचदेवद्रुमैः॥
क्वाथोऽयं खलु सन्निपातनिवहान्द्वात्रिंशतां पानतो
दुर्द्धर्षान्निजतेजसा विजयते सर्पान्गरुत्मानिव।
किञ्च श्वासबलासकासगुदरुग्धृद्रोगहिक्कामरुन्-
मन्यास्तम्भगलामयार्दितमलावष्टम्भमन्थानपि॥ ८४६॥

द्वात्रिंशत्क्वाथ—भारंगी, नीम की छाल, नागरमोथा, हरड, गिलोय, चिरायता; अडूसा; अतीस; त्रायमाणा, कुटकी, वच, त्रिकटु (सोंठ, पीपल, मिरच), सोनापाठा, मौलसिरी की छाल; रास्ना;

(१) बडी कण्टकारी आदि द्रव्य मिलित १ पल लेकर विधिपूर्वक क्वाथ करना चाहिये।

जवासा; परवल के पत्ते, पाढल, कपूर, दारुहल्दी, इन्द्रायण, निसोथ; ब्राह्मी; पुष्करमूल, छोटी कटेरी; बड़ी कटेरी; हल्दी; आंवला, बहेड़ा, देवदारु इन ३२ औषधियों का बना हुआ काथ पीने से गरुड़ जिस भांति अपने तेज से भयङ्कर सर्पों को नष्ट कर देता है उसी भांति संपूर्ण सन्निपात ज्वरों को नष्ट कर देता है। और श्वास, कफ; खांसी, गुदा के रोग (बवासीर आदि); हृद्रोग; हिचकी, कानरोग, मन्यास्तम्भ (नाड़ का जकड़ जाना), गले का रोग, अग्निरोग, मलावष्टम्भ (मल की विष्टब्धता) और वर्त्मरोग (ववरोग) इन सबों को भी दूर करता है(१) ॥ ८४५-८४६ ॥

छविषा = अतिविषा। शक्रद्रुमः="बकुल" इति लोके। देवद्रुमः = देवदारु ॥८४५-८४६॥

यहां पर "विषा" पद का "अतीस"। "शक्रद्रुम" का "बकुल अर्थात् लोक प्रसिद्ध "मौलसिरी" तथा "देवद्रुम" का "देवदारु" अर्थ समझना चाहिये ॥ ८४५-८४६ ॥

अथ पिप्पल्यादिचूर्णमाह—

मधुना कृष्णाकट्फल-कर्कटशृङ्गीभव चूर्णम्। श्वासामये महोग्रे लीढ्वा लोकः सुखी भवति॥८४७॥

पिप्पल्यादि चूर्ण—पीपल, कायफल और काकड़ासिंगी इन सबों का चूर्ण भयङ्कर श्वास रोग में भी मधु के साथ चाट कर रोगी सुखी होता है ॥ ८४७ ॥

अथ श्वासे दाहप्रयोगमाह—

वन्योपलाग्नितापित-दात्रस्याग्रेण पञ्जरे दाहः। अपहरति श्वासामय-मसंशयं भाषितं मुनिभिः॥८४८

श्वास में दाहप्रयोग—जंगली उपलों की आग में तपाये हुए दात्र (दाव) नामक अस्त्र विशेष के अग्रभाग से रोगी के पञ्जर में दाग देने से भयङ्कर भी श्वास रोग निःसन्देह नष्ट हो जाता है ऐसा मुनियों ने कहा है ॥ ८४८ ॥

अथ ज्वरे मूर्च्छाद्याश्चिकित्सामाह—

आर्द्रकस्य रसैर्नस्य मूर्च्छायामाचरेन्नरः। अञ्जनञ्च प्रयुञ्जीत मधुसिन्धुशिलोषणैः ॥ ८४९ ॥

शीताम्भसाऽभिषेकः सुरभिर्धूपः सुगन्धिपुष्पञ्च। मृदुतालवृन्तवातः कोमलकदलीदलस्पर्शः॥८५०

ज्वर में मूर्च्छा की चिकित्सा—ज्वर में मूर्च्छा का उपद्रव होने पर रोगी को अदरख के रस का नास देना चाहिये। अथवा सेंधा नमक, मैनसिल और काली मिरच इन सबों के सूक्ष्म चूर्ण को शहद के साथ मिलाकर अञ्जन की भांति बना कर नेत्रों में आंजना चाहिये। और शीतल जल से नेत्रों को सींचना, सुगन्धित धूप देना; सुगन्धित पुष्पादिक सुंघाना, कोमल ताड़ के पत्तों से बने हुए पङ्खे से हवा करना और कोमल केले के पत्तों का शरीर में स्पर्श करना ये सब उपचार करना उचित है॥८४९ ८५०॥

अथ ज्वरेऽरुचेश्चिकित्सामाह—

अरुचौ तु शृङ्गवेरज-रसकैः सोष्णैः ससिन्धुजः कवलः ॥

सिन्धूत्थमातुलुङ्गी-फलकेसरधारणं वक्त्रे ॥ ८५१ ॥

ज्वर में अरुचि की चिकित्सा—ज्वर में अरुचि का उपद्रव होने पर अदरख के रस में सेंधा निमक डाल कर गर्म करके मुख में कवल धारण कराना चाहिये। अथवा बिजौरे नीबू के केसर (जीरा) में सेंधा निमक का चूर्ण मिला कर मुख में धारण करना चाहिये ॥ ८५१ ॥

अथ ज्वरे वमनस्य चिकित्सामाह—

क्वाथो गुडूच्याः समधुः सुशीतः पीतः प्रशान्तिं वमनस्य कुर्यात्।

विण्मक्षिकाणां मधुनाऽवलीढा सचन्दना शर्करयाऽन्विता वा ॥ ८५२ ॥

ज्वर में वमन की चिकित्सा—ज्वर में वमन का उपद्रव होने पर रोगी को गिलोय का काथ बनाकर शीतल हो जाने पर शहद डाल कर पिलाने से वमन शान्त हो जाता है। अथवा मक्खियों की विष्ठा और सफेद चन्दन को मधु के साथ मिलाकर चटाने से भी वमन शान्त हो जाता है ॥८५२॥

अथ ज्वरे तृषाद्याश्चिकित्सामाह—

कुन्तलशल्वीजपूरक-दाडिमबदरैः सचुक्रकैर्वदने। लेपो जयति पिपासा-मथ रजतगुटी मुखान्तःस्था॥

शीतं पयः क्षौद्रयुतं निपीत-माकण्ठमाशु वमेच्च।

तर्षं महान्तं शमयेद्धि वक्त्रे धृत्वाऽथ वा क्षौद्रघटाग्रलाजान् ॥ ८५४ ॥

---

(१) उपर्युक्त भाङ्गी आदि औषधियां मिलित २ तोला लेकर जवकुट करके आध सेर जल में विधिवत् क्वाथ करके पिलाना चाहिये।

ज्वर में तृषा (प्यास) की चिकित्सा—ज्वर में विशेष तृषा का उपद्रव होने पर रोगी को जमीरी नीबू, बिजौरा नीबू इन दोनों का केशर, अनारदाना, बेर और अमलवेंत इन सबों को एकत्र पीसकर मुख में भीतर लेप करने से भयङ्कर प्यास दूर हो जाती है। अथवा—चांदी की गोली भी मुख में रखने से प्यास दूर हो जाती है। या शीतल दूध में मधु डाल कर आकण्ठ (गले तक) पीकर तत्काल वमन करने से किंवा—मधु, वट का अग्रभाग (जटा का अग्रभाग जो लटकता रहता है) तथा धान का खील इन सबों को एकत्र पीस कर मुख में रखने से भी भयङ्कर प्यास शान्त हो जाती है ॥८५३-८५४॥

अथ ज्वरेऽतीसारस्य चिकित्सामाह—

लङ्घनमेकं मुक्त्वा न चान्यदस्तीह भेषजं बलिनः। समुदीर्णदोषनिचयं शमयति तत्पाचयेदपि च ॥८५५॥

ज्वर में अतीसार की चिकित्सा—ज्वर में अतिसार का उपद्रव होने पर रोगी यदि बलवान् हो तो उसके लिये लङ्घन (उपवास) को छोड़कर कोई उस समय उत्तम औषध नहीं है। क्योंकि लङ्घन करने से बढ़े हुये दोषों का शमन तथा पाचन भी होता है ॥ ८५५ ॥

वत्सादनीवत्सकवारिवाह-विश्वम्भरानिम्बविषाः सविश्वाः।
ज्वरेऽतिसारं त्वरितं जयन्ति विश्वाऽमृतावत्सकवारिवाहाः ॥ ८५६ ॥

और गिलोय, इन्द्रजौ, नागरमोथा, चिरायता, नीम की छाल, अतीस और सोंठ इन सबों का क्वाथ, अथवा—सोंठ, गिलोय, इन्द्रजौ तथा नागरमोथा इन सबों का क्वाथ बनाकर पिलाने से ज्वर में उत्पन्न हुआ अतीसार शीघ्र नष्ट हो जाता है(१) ॥ ८५६ ॥

*विश्वम्भरा = भूनिम्बः ॥ ८५६ ॥

यहां पर "विश्वम्भरा" पद का "चिरायता" अर्थ समझना चाहिये ॥ ८५६ ॥

पाठाऽमृतापर्पटमुस्तविश्वा-किराततिक्तेन्द्रयवान्विपाच्य।
पिबन्हरत्येव हठेन सर्वाञ्ज्वरातिसारानपि दुर्निवारान् ॥ ८५७ ॥

पाढ, गिलोय, पित्तपापडा, नागरमोथा, सोंठ, चिरायता और इन्द्रजौ इन सबों का क्वाथ बनाकर पीने वाला रोगी ज्वर में उत्पन्न होने वाले कठिन से कठिन अतीसार को बलपूर्वक दूर कर देता है। यह निःसन्देह है॥ ८५७ ॥

अथ ज्वरे विड्ग्रहस्य चिकित्सामाह—

विड्ग्रहे वातजित्कर्म कुर्याद्वातानुलोमनम्। मलं प्रवर्त्तयेदाशु तीक्ष्णाभिः फलवर्त्तिभिः ॥८५८॥
पथ्याऽऽरग्वधतिक्तात्रिवृदामलकैः शृतं तोयम्। जीर्णज्वरे विबन्धे दद्यादाश्वेव विड्ग्रहः शाम्येत् ॥

ज्वर में विड्ग्रह (मलबन्ध) की चिकित्सा—ज्वर में मलबन्ध का उपद्रव हो जाने पर रोगी के लिये वायु को शान्त करने वाली तथा वायु का अनुलोमन करने वाली क्रिया (चिकित्सा) करनी चाहिये। और तीक्ष्ण ओषधियों के द्वारा बनी हुई फलवर्त्ती का गुदा में प्रयोग कराकर मल को बाहर निकालना चाहिये।

और यदि जीर्णज्वर में मलबन्ध हुआ हो तो रोगी को हरड, अमलतास का गूदा, कुटकी, निसोथ तथा आंवला इन सबों का क्वाथ बनाकर पिलाने से तत्काल मलबन्ध रोग दूर हो जाता है ॥८५८-८५९॥

अथ ज्वरे हिक्कायाश्चिकित्सामाह—

नीरेण सिन्धूत्थरजोऽतिसूक्ष्मं नस्येन नूनं विनिहन्ति हिक्काम्।
शुण्ठी हठाद्वा सितया समेता धूपोऽथ वा हिङ्गुसमुद्भवश्च ॥ ८६० ॥

ज्वर में हिचकी की चिकित्सा—ज्वर में हिचकी का उपद्रव होने पर रोगी को सेंधा निमक का अत्यन्त सूक्ष्म चूर्ण जल में घोल कर नास देने से निश्चय हिचकी दूर हो जाती है। अथवा सोंठ का सूक्ष्म चूर्ण शक्कर के साथ मिलाकर जल में घोल कर नास देने से किंवा हींग का धूप सुलगा कर नाक से भलीभांति सूंघने से हिचकी बलपूर्वक नष्ट हो जाती है ॥ ८६० ॥

अथ ज्वरे कासस्य चिकित्सामाह—

कासे कणा कणामूलं कलिङ्गफलं रजः। सविश्वभेषजं लिह्यान्मधुना वा घृपाद्रसम् ॥८६१॥

ज्वर में खांसी की चिकित्सा—ज्वर में खांसी का उपद्रव होने पर रोगी को पीपल, पिपरामूल, इन्द्रजौ, पित्तपापडा तथा सोंठ इन सबों का चूर्ण शहद के साथ चाटना चाहिये।

---

(१) गिलोय आदि क्वाथ्य द्रव्य १ पल, जल आध सेर पकाकर १ छटाक रहने पर उतार कर प्रयोग करें।

अथवा—अडूसे का रस शहद के साथ चाटना चाहिये। इन दोनों प्रयोगों से ही खाँसी दूर हो जाती है॥ ८६१॥

क्षरजः=पर्पटकम्॥ ८६१॥

यहाँ पर "रज." पद का "पित्तपापड़ा" अर्थ समझना चाहिये॥ ८६१॥

पुष्करमूलकटुत्रिकशृङ्गी-कट्फलयासककारविकाभिः।
मधुललितांभस्य खलु लेहः कासरिपुः कफरोगहरश्च॥ ८६२॥

पुष्करमूल, त्रिकटु (सोंठ, पीपल, मिरच), काकड़ासिंगी, कायफल, जवासा तथा कलोंजी (मगरैला) इन सबों का चूर्ण मधु के साथ मिलाकर चाटना चाहिये, क्योंकि यह अवलेह खाँसी तथा कफ को दूर करने वाला है॥ ८६२॥

अथ ज्वर दाहस्य चिकित्सामाह—

दाहाधिकारे लिखितं दाहे कुर्याच्चिकित्सितम्। परं ज्वरे विरुद्धं यत्-त्वोचितं तच्चिकित्सितम्॥८६३॥

ज्वर में दाह की चिकित्सा—ज्वर में दाह का उपद्रव होने पर दाहाधिकार में कही जाने वाली चिकित्सा(१) करनी चाहिये। किन्तु उनमें जो चिकित्सा ज्वर के लिये विरुद्ध पड़ती हो उसे छोड़ देना चाहिये। क्योंकि अनुचित है॥ ८६३॥

---

(१) ज्वर में दाह उत्पन्न होने पर सहस्रधौत घृत का अभ्यङ्गार्थ प्रयोग करना चाहिये अथवा चन्दनादितैल का अभ्यङ्ग करना चाहिये। चरक में भी लिखा है—

"सहस्रधौतं सर्पिर्वा तैलं वा चन्दनादिकम्। दाहज्वरप्रशमनं दद्यादभ्यञ्जनं हितम्। चरक चि० अ० ३।

चन्दनादि तैल के निर्माण की विधि चरक से ही उद्धृत करते हैं—

"चन्दन-शैलेय-भद्रश्रिय-कालानुसार्य-कालीयक-पद्मा-पद्मको-शीर-सारिवा मधुक प्रपौण्डरीक-नागपुष्पो-दीच्य-वन-पद्मो-त्पल-नलिन-कुमुद-सौगन्धिक-पुण्डरीक-शतपत्र-बिस-मृणाल-शालूक-शैवाल-कशेरुका-नन्ता-कुश-काशे-क्षु-दर्भ-शर-नल-शालिमूल-जम्बु-वेत्र-वेतस-वानीर-गुन्द्रा-ककुभा-सना-श्वकर्ण-स्यन्दन-वातपोथ-शाल-ताल-धव-तिनिश-खदिर-कदर-कदम्ब-काश्मर्यफल-सर्ज-प्लक्ष-वट-कपीतनो-दुम्बरा-श्वत्थ-न्यग्रोध-धातकी-दूर्वा-इत्कट-शृङ्गाटक-मञ्जिष्ठा ज्योतिष्मती-पुष्करबीज-क्रौञ्चादन-बदरी-कोविदार-कदली-संवर्तका-रिष्ट शतपर्वा-श्वेतकुम्भिका-शतावरी-श्रीपर्णी-श्रावणी-महाश्रावणी-रोहिणी-शीतपाक्यो-दनपाकी-काला बला-पयस्या-विदारी-जीवक-र्षभक-क्षुद्रसहा-मेदा-महामेदा-मधुर-र्ष्यप्रोक्ता-तृणशून्य-मोचरसा-टरूषक-बकुल-कुटज-पटोल-निम्ब-शाल्मली-नारिकेल-खर्जूर-मृद्वीका-प्रियाल-प्रियङ्गु-धन्वना-त्मगुप्ता-मधुकानामन्येषां च शीतवीर्याणां यथालाभमौषधानां कषाय कारयेत्। तेन कषायेण द्विगुणितपयसा, तेषामेव च कल्केन कषायार्द्धमात्रं-मृद्वग्निना साधयेत्तैलम्, एतत्तैलं सद्यो दाहज्वरमपनयति, एतैरेव चौषधैः सुश्लक्ष्णपिष्टैः सुशीतैः प्रदेहं-कारयेत्। एतैरेव च शृतशीतं सलिलमवगाहपरिषेकार्थं प्रयुञ्जीत। इति। चरक-ज्वर-चिकित्सा।

अर्थात्—चन्दन, छारछरीला, श्वेतचन्दन, तगर, कालीयक (चन्दन भेद पीतवर्णका होता है), भार्गी, पद्माख, खश, अनन्तमूल, मुलहठी, पुण्डरिया काष्ठ, नागकेशर, नेत्रवाला, मोथा, पद्म (छोटा कमल), नीला कमल, लाल कमल, कुमुद, सौगन्धिक (कमलभेद), पुण्डरीक (श्वेत कमल), शतपत्र (लाल कमल), बिस (कमल का नाल), मृणाल (कमल का डंठल), शालूक (कमल की जड़), शैवाल (सेवार), कसेरू, अनन्ता (दुरालभा), कुश की जड़, कास तथा ईख की जड़, दर्भ की जड़, शरकण्डे की जड़, नलमूल (नरकट या नरसल की जड़), शालि की जड़, जामुन की गुठली, बेंत, वेतस, जलबेंत, गुन्द्रा (तृणभेद), ककुभ (अर्जुन), असन (असना), अश्वकर्ण (शाल भेद), तिन्दुक, पलाश, शाल (साखू), ताड़, धव, तिनिश, खैर, कदर, (विट्खदिर), कदम्ब, खम्भार का फल, राल, पिलखन, वट (बरगद), शिरीष अथवा आम्रातक, उदुम्बर (गूलर), पीपल, बरगद (जिससे प्ररोह निकल रहे हों), धाय के फूल, दूब, उत्कट (तृणविशेष), सिंघाड़ा, मंजीठ, मालकांगुनी, पुष्कर-बीज, खिरनी, बेर, श्वेतकचनार, केला, बहेड़ा, नीम, सफेद बड़ी दूब, श्वेतकुम्भिका, शतावर श्रीपर्णी (खम्भार की छाल), श्रावणी (मुण्डी), महाश्रावणी (मुण्डीभेद), कुटकी, शीतपाकी, (गन्धदूर्वा अथवा बला की एक जाति); ओदनपाकी (नीलझिण्टी), काला (सुगन्ध द्रव्य), खिरेटी का मूल, पयस्या (क्षीरकाकोली), विदारीकन्द, जीवक, ऋषभक, मुद्गपर्णी, मेदा, महामेदा, काकोली, अतिबला

अथ सुखसाध्यज्वरलक्षणमाह—

सन्तापोऽभ्यधिको बाह्यस्तृष्णाऽऽदीनाञ्च मार्दवम्। बहिर्वेगस्य लिङ्गानि सुखसाध्यत्वमेव च॥८६४॥

सुखसाध्य ज्वर के लक्षण—शरीर के बाहर अधिक सन्ताप होना तथा प्यास आदिकों की कमी (कम होना) ये सब लक्षण बहिर्वेग ज्वर के होते हैं। एवम् इन लक्षणों से ज्वर सुखसाध्य भी समझा जाता है अर्थात् थोड़ी चिकित्सा करने से ही दूर होने वाला होता है॥ ८६४॥

*तृष्णाऽऽदीत्यादिशब्देनान्तर्दाहसन्ध्यस्थिव्यथाश्वासा गृह्यन्ते, तेषां मार्दवम्=अल्पता। बहिर्वेगस्य ज्वरस्येति शेषः॥ ८६४॥

यहां पर "तृष्णाऽऽदीनाम्" इस पद में "आदि" शब्द से "अन्तर्दाह, सन्धिस्थलों तथा अस्थियों में पीड़ा और श्वास" इन सबों का भी ग्रहण करना चाहिये। अतः "तृष्णाऽऽदीना च मार्दवम्" इन पदों का "प्यास, अन्तर्दाह, सन्धिस्थलों तथा अस्थियों में पीड़ा और श्वास की कमी" यह अर्थ समझना चाहिये। "बहिर्वेगस्य" पद का "बहिर्वेग ज्वर के" यह अर्थ समझना चाहिये॥ ८६४॥

वर्षाशरद्वसन्तेषु वाताद्यैः प्राकृतः क्रमात्। प्राकृतः सुखसाध्यस्तु ज्वरः सुरभिसम्भवः॥८६५॥

वर्षा आदिक ऋतुओं में क्रम से वातादिकों से उत्पन्न होने वाला अर्थात् वर्षा ऋतु में वायु से उत्पन्न होने वाला, शरद् ऋतु में पित्त से तथा वसन्त ऋतु में कफ से उत्पन्न होने वाला ज्वर प्राकृत (स्वभावानुसार उत्पन्न हुआ) कहलाता है। इनमें वसन्त ऋतु में उत्पन्न हुआ प्राकृत ज्वर सुखसाध्य होता है। अर्थात् चिकित्सा से शीघ्र दूर हो जाता है॥ ८६५॥

*सुरभिर्वसन्तः॥ ८६५॥

यहां पर "सुरभि" पद का "वसन्त" ऋतु अर्थ समझना चाहिये॥ ८६५॥

केवड़ा, मोचरस (सेमल की गोंद), मधूक, मौलसिरी की छाल, कुटज (कुरैया), परवल के पत्ते, नीम, सेमल की मूसली, नारियल, खजूर, मुनक्का, चिरौंजी, प्रियङ्गु, धन्वन, आत्मगुप्ता (कौंच) तथा मुलेठी इन से अन्य भी जो शीतल औषधियां प्राप्त हो सकें उन्हें लेकर विधिपूर्वक क्वाथ करना चाहिये। यदि क्वाथ्य द्रव्य २ सेर हों तो उन्हें १६ गुने पानी में पकाकर चतुर्थांशावशेष (८ सेर रह जाने पर) उतार कर छान लें। फिर उसमें ४ सेर तिल का तेल, दूध ८ सेर तथा जल ८ सेर और उपर्युक्त औषधियों का कल्क १ सेर लेकर तैल सिद्ध करें। इसका शरीर में अभ्यङ्ग करते ही दाह शान्त हो जाता है।

इन्हीं औषधियों को पीसकर शरीर पर प्रलेप भी लगाया जाता है तथा इनका कषाय बनाकर शीतल करके स्नान तथा परिषेचन करना चाहिये।

दाह के दूर करने के अन्य यत्न—मद्य, आरनाल, दूध सौवीर (दुग्ध अथवा गेहूं से सिद्ध कांजी), दही, घी (शतधौत) तथा शीतल जल (Sood water) इनको परिषेक तथा अवगाहन के लिये प्रयुक्त करना चाहिये।

इस प्रकरण में चरक ने अत्यन्त सुन्दर चिकित्सा दी है यथा—

पौष्करेषु सुशीतेषु पद्मोत्पलदलेषु च। कदलीनां च पत्रेषु क्षौमेषु विमलेषु च॥
चन्दनोदकशीतेषु सुप्याद्दाहार्दितः सुखम्। हिमाम्बुसिक्ते सदने शीते धारागृहेऽपि वा॥ चरक चि० अ० ३।

दाह से सन्तप्त पुरुष को बर्फ या अन्य प्रकार के शीतल जल से सींचे गये कमरे में रखना चाहिये। सोने के बिस्तर पर कमल, नील कमल आदि के शीतल पत्तों को बिछाकर रोगी को सुलाना चाहिये। अथवा निर्मल क्षौमवस्त्र (महीन वस्त्र) पर शीतल चन्दन जल का छिड़काव करके उस पर रोगी को सुलावे। कमरे में शीतल जल के फौव्वारे आदि का भी प्रबन्ध होना चाहिये।

तथा च—हेमशङ्खप्रवालानां मणीनां मौक्तिकस्य च। चन्दनोदकशीतानां संस्पर्शानुरसान् स्पृशेत्॥
स्रग्भिर्नीलोत्पलैः पद्मैर्व्यजनैर्विविधैरपि। शीतवातावहैर्व्यज्येच्चन्दनोदकवर्षिभिः॥
चरक चि० अ० ३।

स्वर्ण, शङ्ख, मूंगा तथा अन्य प्रकार के मणि, मोती इनको चन्दनमिश्रित जल से शीतल करके धारण कराना चाहिये। कमल, नील कमल आदि की माला भी चन्दन जल से शीतल कर के देना चाहिये। विविध प्रकार के पंखों को चन्दनोदक से शीतल करके रोगी के समीप व्यजन (पंखा) करना चाहिये जिससे शीतल सूक्ष्म कण रोगी के शरीर पर पड़ते रहें। इस प्रकार चिकित्सा करने से रोगी दाह से अवश्य मुक्त होता है। बुद्धिमान् चिकित्सक को आवश्यकतानुसार उपर्युक्त एक वा अनेक योग दोष के बलाबल का विवेचन करके प्रयोग करना चाहिये।

अथ कष्टसाध्यज्वरलक्षणमाह—

वैकृतोऽन्यः स दुःसाध्यः प्राकृतश्चानिलोद्भवः ॥ ८६६ ॥

कष्टसाध्य ज्वर के लक्षण—उपर्युक्त प्राकृत ज्वर से अन्य वैकृतज्वर "अर्थात् वर्षा, शरद्, वसन्त ये ऋतुयें क्रम से वात, पित्त तथा कफ के कुपित होने की हैं। अतः अपने २ ऋतुओं में कुपित होने से उत्पन्न होने वाले ज्वर दु साध्य अर्थात् विशेष यत्नपूर्वक चिकित्सा करने से आराम होने वाले होते हैं। और वायु से उत्पन्न होने वाला प्राकृत ज्वर भी दुःसाध्य होता है ॥ ८६६ ॥

अन्यः=प्राकृतादन्यो वैकृतः ॥ ८६६ ॥

यहां "अन्य" पद का "प्राकृत ज्वर से अन्य" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ८६६ ॥

अथ वर्षाऽऽदौ दोषप्रधानतामाह—

वर्षासु मारुतो दुष्टः पित्तश्लेष्मान्वितो ज्वरम् । कुर्यात्पित्तञ्च शरदि तस्य चानुबलः कफः ॥८६७॥
तत्प्रकृत्या विसर्गाच्च तत्र नानशनाद्भयम् । कफो वसन्ते तमपि वातपित्तं भवेदनु ॥ ८६८ ॥

वर्षादिक ऋतुओं में दोषों की प्रधानता—वर्षा ऋतु में जब प्रधान रूप से वायु कुपित होकर ज्वर को उत्पन्न करता है तब उस समय पित्त तथा कफ उसके सहायक होते हुये अप्रधान रहते हैं। और शरद् ऋतु में जब प्रधान रूप से पित्त कुपित होकर ज्वर को उत्पन्न करता है तब उस समय कफ उसका सहायक होता हुआ अप्रधान रहता है। और पित्त का स्वभाव होने से तथा शरद् ऋतु विसर्ग का काल होने से उसमें अर्थात् शरद् ऋतु में पित्त ज्वर होने पर उपवास करने से किसी प्रकार का भय नहीं होता है। और वसन्त ऋतु में जब प्रधान रूप से कफ कुपित होकर ज्वर को उत्पन्न करता है तब उस समय वायु तथा पित्त ये दोनों उसके सहायक होते हुये अप्रधान रहते हैं ॥ ८६७-८६८ ॥

वर्षाऽऽदिषु जातानां चिकित्साविशेषार्थं प्राधान्यमाह—वर्षास्विति। तत्प्रकृत्या=तस्य पित्तस्य प्रकृत्या=स्वभावेन। यत उक्तम्—

"कफपित्ते द्रवे धातू सहेते लङ्घनं बहु"। इति।

विसर्गाच्च=शरदो विसर्गकालत्वाच्च। यत उक्तम्—

"वर्षाशरद्धेमन्ता विसर्गकालास्तत्रोपचितबलाः प्राणिनो भवन्ति सोमस्य बलवत्त्वा-दि"ति। तत्र=शरदि पित्तज्वरेऽनशनाद्भय न, वसन्ते कफज्वरेऽपि कफप्रकृत्या लङ्घनाद्भयं न भवति। किन्तु वसन्तस्यादानकालत्वान्निःशङ्कं न कर्त्तव्यम्। यत उक्तम्—

"शिशिरवसन्तग्रीष्मास्त्वादानकालास्तत्रापचितबलाः प्राणिनो भवन्ति सूर्यस्य बलवत्त्वादि"ति।

एतेनेदमुक्तं—वर्षासु वायुः प्रधानः, पित्तश्लेष्माणावप्रधानौ। शरदि पित्तं प्रधानं कफोऽप्रधानः। वसन्ते श्लेष्मा प्रधानो वातपित्ते अप्रधाने। तत्र प्रधानस्य प्राधान्येन चिकित्सा कर्त्तव्या, सा चाप्रधाने निषिद्धा न विधेया। एवं वैकृतेष्वपि प्रधानस्य प्राधान्येन चिकित्सा कर्त्तव्या। तथा चोक्तम्—

संसर्गे यो गरीयान्स्यादुपक्रम्यः स वै भवेत्। शेषदोषाविरोधेन सन्निपाते तथैव च ॥१११॥इति॥

संसर्गे=दोषद्वयसंसर्गे। गरीयान्=प्रधानः (१११) ॥ ८६७-८६८ ॥

यहां पर यह और समझना चाहिये कि—यह श्लोक "वर्षास्वि"त्यादिक जो कहा गया है वह "वर्षादिक ऋतुओं में उत्पन्न हुये ज्वरों के विशेषरूप से चिकित्सा करने के लिये वातादिक दोषों की प्रधानता बताने के लिये" और "तत्प्रकृत्या" पद का "पित्त का स्वभाव होने से" यह अर्थ समझना चाहिये। क्योंकि कहा हुआ है कि—"कफ तथा पित्त द्रव धातु हैं, अत ये दोनों अधिक उपवास करना सहन करते हैं"।

और "विसर्गाच्च" पद का "शरद् ऋतु विसर्ग का काल होने से" यह अर्थ समझना चाहिये। क्योंकि कहा हुआ है कि—"वर्षा शरद् तथा हेमन्तऋतु ये सब विसर्ग के काल हैं, इनमें प्राणियों के बल की वृद्धि होती है क्यों कि इन में चन्द्र का बल अधिक रहता है।

और "तत्र" पद का "शरद् ऋतु में पित्त ज्वर होने पर" यह अर्थ समझना चाहिये।

और इसी भांति से यद्यपि वसन्त ऋतु में कफज्वर होने पर भी उपवास सहन करना कफ का स्वभाव होने से उपवास से कोई भय नहीं होना चाहिये, तथापि वसन्त ऋतु आदान का काल है अतः इसमें पित्त की भांति निःशङ्क होकर उपवास नहीं करना चाहिये। क्योंकि कहा हुआ है कि—

"शिशिर, वसन्त तथा ग्रीष्म ऋतु ये सब आदान के काल हैं अतः इसमें प्राणियों के बल की हानि होती है क्योंकि इस समय सूर्य बलवान् रहते हैं"

अस्तु—उपर्युक्त इन सब विषयों के कहने से यह सिद्ध हुआ कि वर्षाऋतु मे वायु प्रधान रहता है तथा पित्त और कफ अप्रधान रहते हैं। शरद् ऋतु में पित्त प्रधान रहता है तथा कफ अप्रधान रहता है। वसन्त ऋतु में कफ प्रधान रहता है तथा वात और पित्त अप्रधान रहते हैं। अतः इनमें जो प्रधान दोष है उसकी प्रधान रूप से चिकित्सा करनी चाहिये, किन्तु इतना अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि जो अप्रधान दोषों के लिये निषिद्ध हो अर्थात् विरुद्ध पडे ऐसी चिकित्सा न करनी चाहिये। और वैकृत ज्वरों में भी प्रधान की चिकित्सा प्रधान रूप से करनी चाहिये। और कहा हुआ भी है कि—

जहा पर दो दोषों का सबन्ध हो वहा पर जो दोष प्रधान हो उसी को चिकित्सा "शेष (अप्रधान) दोष के विरुद्ध न हो" इस विषय को बचाते हुये करनी चाहिये। इसी भांति से जहा पर तीनों दोषों का सबन्ध हो वहा पर भी प्रधान की ही प्रथम चिकित्सा करनी चाहिये॥ १११॥

यहां पर "समर्गे" पदका "जहां पर दो दोषों का संबन्ध हो वहां पर" तथा "गरीयान्" पद का "प्रधान" अर्थ समझना चाहिये (१११) ॥ ८६७-८६८॥

अथान्तर्वेगस्य लिङ्गानि कष्टसाध्यत्व चाह—

अन्तर्दाहोऽधिका तृष्णा प्रलापः श्वसनं भ्रमः। सन्ध्यस्थिशूलमस्वेदो दोषवर्चोविनिग्रहः॥
अन्तर्वेगस्य लिङ्गानि कष्टसाध्यत्वमेव च॥ ८६९॥

अन्तर्वेगज्वर के लक्षण तथा उनकी कष्टसाध्यता—शरीर के अन्दर दाह होना, अधिक प्यास लगना, प्रलाप, श्वास, भ्रम, सन्धिस्थलों तथा अस्थियों में शूल, पसीना न निकलना, वातादिक दोषों की स्तब्धता तथा मल का विबन्ध होना ये सब लक्षण अन्तर्वेगवाले ज्वर के होते हैं। और यह ज्वर कष्टसाध्य अर्थात् बड़ी कठिनता से यत्नपूर्वक चिकित्सा करने से दूर होने वाला होता है॥ ८६९॥

***वर्चोविनिग्रहः=पुरीषाप्रवृत्तिः॥ ८६९॥**

यहां पर "वर्चोविनिग्रह" पद का "मल का विबन्ध होना" यह अर्थ समझना चाहिये॥८६९॥

अथासाध्यज्वरलक्षणमाह—

ज्वरः क्षीणस्य शूनस्य गम्भीरो दीर्घरात्रिकः। असाध्यो बलवान्यश्च केशसीमन्तकृज्ज्वरः॥८७०॥

असाध्यज्वर के लक्षण—जो ज्वर क्षीण तथा शोथयुक्त पुरुष को होता है, या जो गम्भीर सज्ञक अथवा बहुत दिनों से आने वाला या बलवान् किं वा अपने प्रभाव से बालों में विना कघी के सीमन्त (माग) कर देने वाला ज्वर होता है वह असाध्य कहलाता है॥ ८७०॥

***दीर्घरात्रिकः=बहुरात्रानुबन्धी, केशसीमन्तकृत्=प्रभावात्केशेषु सीमन्तं यः करोति८७०**

यहां पर "दीर्घरात्रिक" पद का "बहुत दिनों से आने वाला" तथा "केशसीमन्तकृत्" पदका "अपने प्रभाव से विना कघी के सीमन्त (माग) कर देने वाला" यह अर्थ समझना चाहिये॥८७०॥

अथ गम्भीरज्वरलक्षणमाह—

गम्भीरस्तु ज्वरो ज्ञेयो ह्यन्तर्दाहेन तृष्णया। आनद्धत्वेन चात्यर्थं कासश्वासोद्गमेन च॥८७१॥

गम्भीर ज्वर के लक्षण—जिस ज्वर मे अन्तर्दाह, अधिक प्यास, मल का विबन्ध (मल का न उतरना), खासी तथा श्वासका अधिक होना ये सब लक्षण होते हैं, उसे गम्भीर ज्वर समझना चाहिये॥८७१॥

***आनद्धत्वेन=विबद्धमलत्वेन॥ ८७१॥**

यहां पर "आनद्धत्व" पद का "मल का विबन्ध" यह अर्थ समझना चाहिये॥ ८७१॥

अथ सामान्यज्वरे कर्णमूलशोथस्य सुखसाध्यत्वादिकमाह—

ज्वरस्य पूर्वं ज्वरमध्यतो वा ज्वरान्ततो वा श्रुतिमूलशोथः।
क्रमादसाध्यः खलु कृच्छ्रसाध्यः सुखेन साध्यो मुनिभिः प्रदिष्टः॥ ८७२॥

सामान्य ज्वर में कर्णके मूल भाग में उत्पन्न हुये शोथ (सूजन) की सुखसाध्यता आदिक—१ सामान्य ज्वर के पहले, २ ज्वर के मध्य में तथा ३ ज्वर के अन्त मे कर्ण के मूलभाग मे उत्पन्न हुआ शोथ क्रम से १ असाध्य, २ कृच्छ्र (कष्ट) साध्य, तथा ३ सुखसाध्य होता है ऐसा मुनियों ने कहा है॥ ८७२॥

अथारिष्टमाह—

रोगिणो मरणं यस्मा-दवश्यम्भावि लक्ष्यते। तल्लक्षणमरिष्टं स्याद् रिष्टमप्यभिधीयते॥८७३॥

अरिष्ट का लक्षण—जिन लक्षणों के द्वारा "रोगी की मृत्यु अवश्य होगी" यह जाना जाता है, उन लक्षणों को "अरिष्ट" अथवा "रिष्ट" कहते हैं ॥ ८७३ ॥

हेतुभिर्बहुभिर्जातो बलिभिर्बहुलक्षणः। ज्वरः प्राणान्तकृद्यश्च शीघ्रमिन्द्रियनाशनः ॥ ७४ ॥

जैसे कि—जो ज्वर बहुत से बलवान् कारणों से उत्पन्न हुआ हो और बहुत से अर्थात् अपने सम्पूर्ण लक्षणों से युक्त हो तो वह प्राणनाशक ही (अरिष्टकारक) होता है। एवम् जो ज्वर उत्पन्न होते ही शीघ्र इन्द्रियों को नष्ट करने वाला होता है वह भी प्राणनाशक ही होता है ॥ ८७४ ॥

***शीघ्रमिन्द्रियनाशनः=उत्पन्नमात्र एव चिकित्स्यमानोऽपीन्द्रियाणां चक्षुरादीनां शक्तियो नाशयति ॥ ८७४ ॥**

यहां पर "शीघ्रमिन्द्रियनाशनः—अर्थात् शीघ्र इन्द्रियों को नष्ट करने वाला होता है" इसका स्पष्ट अर्थ यह समझना चाहिये कि—जो ज्वर उत्पन्न होते ही चिकित्सा किये जाने पर भी आंख आदिक इन्द्रियों की देखने आदिक शक्तियों को नष्ट करने वाला होता है ॥ ८७४ ॥

अन्यच्चारिष्टमाह—

विसंज्ञस्ताम्यते यस्तु शेते निपतितोऽपि वा। शीतार्दितोऽन्तरुष्णश्च ज्वरेण म्रियते नरः॥८७५॥

दूसरे अरिष्टसूचक लक्षण—जिस ज्वर में जो रोगी सज्ञाहीन होकर सदा हर्ष से रहित होता है अर्थात् एकदम से बेहोश पडा रहता है। अथवा एक बार का गिरा हुआ सोता ही रहता है अर्थात् जब से शय्या पर गिरता है तब से बराबर पडा हुआ ही रहता है न कि उठने के लिये समर्थ रहता है, अथवा पडा हुआ सोता रहता है। किं वा जिस ज्वर में जो रोगी बाहर शीत से पीडित रहता है और भीतर दाह से युक्त रहता है उस ज्वर में उस रोगी की अवश्य मृत्यु हो जाती है ॥ ८७५ ॥

***विसंज्ञः=विगतज्ञानः। ताम्यते=नष्टहर्षः। "शेते निपतितोऽपि वा" अत्र "अपि वा"-शब्द एवार्थः। निपतित एव तिष्ठति न चोत्थातुं समर्थः। तथा सन् शेते वा। शीतार्दितः—बहिः। अन्तरुष्णः=अन्तर्दाहवान् ॥ ८७५ ॥**

यहा पर "विसंज्ञ." पद का "संज्ञाहीन होकर"। "ताम्यते" पद का "हर्ष से रहित होता है"। यह अर्थ समझना चाहिये। और "शेते निपतितोऽपि वा" यहा पर "अपि वा" शब्द का "एव" अर्थ होने से "पडा हुआ ही रहता है न कि उठने के लिये समर्थ रहता है। अथवा पडा हुआ सोता रहता है" यह अर्थ समझना चाहिये। और "शीतार्दित." पद का "बाहर शीत से पीडित रहता है" तथा "अन्तरुष्ण" पद का "भीतर दाहसे युक्त रहता है" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ८७५ ॥

अन्यच्च—

यो हृष्टरोमा रक्ताक्षो हृदि संघातशूलवान्। वक्त्रेण चैवोच्छ्वसिति तं ज्वरो हन्ति मानवम्॥८७६॥

अन्य अरिष्टसूचक लक्षण—जिस ज्वर में रोगी का शरीर रोमाञ्च से युक्त होता है और नेत्र रक्तवर्ण के हो जाते हैं, तथा हृदय में सन्निपात (त्रिदोष) जन्य शूल के समान पीडा होती है एवम् वह केवल मुख से श्वास लेता है, तो उस ज्वर में रोगी की अवश्य मृत्यु हो जाती है ॥ ८७६ ॥

***हृष्टरोमा=रोमाञ्चवान्। हृदि संघातशूलवान्=सान्निपातिकशूलवान्। वक्त्रेण चैवोच्छ्वसिति—न तु नासिकया ॥ ८७६ ॥**

यहां पर "हृष्टरोमा" पद का "रोमाञ्च से युक्त होता है"। "हृदि संघातशूलवान्" पदों का "हृदय में सन्निपातजन्य शूल के समान पीडा होती है" और "वक्त्रेण चैवोच्छ्वसिति" पदों का "केवल मुख से श्वास लेता है किन्तु नाक से नहीं लेता है" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ८७६ ॥

अन्यच्च—

हिक्काश्वासतृषायुक्तं मूढं विभ्रान्तलोचनम्। सन्ततोच्छ्वासिनं क्षीणं नरं क्षपयति ज्वरः॥८७७॥

अन्य अरिष्टसूचक लक्षण—जिस ज्वर में रोगी हिचकी, श्वास तथा प्यास से युक्त होता है एवम् मूढ हो जाता है और उसके नेत्र की पुतलिया इधर उधर घूमने लगती हैं। तथा बल क्षीण हो जाता है और निरन्तर मुख से जोर २ से श्वास लिया करता है। तो ऐसे रोगी को वह ज्वर समाप्त कर देता है अर्थात् मार डालता है ॥ ८७७ ॥

***क्षपयति=समापयतीत्यर्थः ॥ ८७७ ॥**

यहां पर "क्षपयति" पद का "समाप्त कर देता है अर्थात् मार डालता है" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ८७७ ॥

अन्यच्च—

हतप्रभेन्द्रियं क्षाम-मरोचकनिपीडितम् । गम्भीरतीक्ष्णवेगार्त्त ज्वरितं परिवर्जयेत् ॥ ८७८ ॥

अन्य अरिष्टसूचक लक्षण—जिस ज्वरयुक्त रोगी की देह की कान्ति तथा इन्द्रियों की शक्ति नष्ट हो गई हो अथवा इन्द्रियों को अपने २ विषयों को ग्रहण करनेकी शक्ति नष्ट हो गई हो और बल तथा मांस क्षीण हो गया हो और वह अरूचि से युक्त हो एवम् पूर्वोक्त गम्भीर ज्वर के लक्षण प्रगट होने से तथा ज्वर का अत्यन्त दुःसह वेग होने से दुखित होता हो तो ऐसे ज्वररोगी की चिकित्सा करना छोड देना चाहिये क्योंकि ये सब लक्षण मृत्युसूचक हैं ॥ ८७८॥

***हतप्रभेन्द्रियम्—हता प्रभा दीप्तिर्येषाम्, अथ वा—हता प्रभा=प्रतिभा विषयग्रहण-शक्तिर्येषां, तथाविधानीन्द्रियाणि यस्य त हतप्रभेन्द्रियम् । क्षामं=क्षीणम् । गम्भीरतीक्ष्ण-वेगार्त्तं=गम्भीर उक्तलक्षणकस्तीक्ष्णवेगोऽतिदुःसहवेगस्ताभ्यामार्त्तं=दुःखितम् ॥ ८७८ ॥**

यहा पर "हतप्रभेन्द्रिय" पद का "जिस ज्वरयुक्त रोगी की देह की कान्ति तथा इन्द्रियां नष्ट हो गई हों अथवा इन्द्रियों की अपने २ विषयों को ग्रहण करने की शक्ति नष्ट हो गई हो"। "क्षाम" पद का "बल तथा मांस क्षीण हो गया हो"। "गम्भीरतीक्ष्णवेगार्त्त" पद का "पूर्वोक्त गम्भीर ज्वर के लक्षण प्रगट होने से तथा ज्वर का अत्यन्त दुःसह वेग होने से दुःखित हो" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ८७८ ॥

अन्यच्च—

मरणं प्राप्नुयात्तत्र शुक्रस्थानगते ज्वरे । शेफसः स्तब्धता मोक्षः शुक्रस्य तु विशेषतः ॥८७९॥

अन्य अरिष्टसूचक लक्षण—शुक्रस्थान गत ज्वर होने पर रोगी मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। और इसमें रोगी का लिङ्ग स्तब्ध हो जाता है तथा शुक्र का स्राव विशेषरूप से होता रहता है ॥ ८७९ ॥

***व्याख्यातोऽयं श्लोकः ॥ ८७९ ॥**

यहा पर यह और भी समझ लेना चाहिये कि—इस श्लोक की विशेष व्याख्या पूर्व मे की जा चुकी है, अतः यहा सक्षेप म अर्थ कर दिया गया है ॥ ८७९ ॥

अथ विषमज्वरारिष्टमाह—

आरम्भाद्विषमो यस्य यस्य वा दीर्घरात्रिकः। क्षीणस्य चातिरूक्षस्य गम्भीरो यस्य हन्ति तम् ८८०

विषमज्वर के अरिष्टसूचक लक्षण—जिस रोगी का ज्वर आरम्भ से ही विषम हो गया है या जिस का ज्वर बहुत दिनों से आ रहा हो अथवा जिसका ज्वर गम्भीरसज्ञक हो तथा वह स्वय क्षीण और अत्यन्त रूक्ष हो तो ऐसे ज्वर रोगी को मार डालते हैं ॥ ८८० ॥

***यस्यारम्भाद्विषमः=प्रथममेव विषमो, न तु ज्वरोत्सृष्टस्य । यस्य दीर्घरात्रिकः, यस्य क्षीणस्यातिरूक्षस्य च गम्भीरो भवति, त विषमो दीर्घरात्रिको गम्भीरश्च हन्तीत्यर्थः ॥ ८८० ॥**

इति प्रथमो ज्वराधिकार. समाप्त. ॥ १ ॥

यहा पर "यस्यारम्भाद्विषम"-अर्थात् जिस रोगी का ज्वर आरम्भ से ही विषम हो गया है" इस का यह स्पष्ट अर्थ समझना चाहिये कि—"जिस रोगी का पहले से ही ज्वर विषम हो गया है न कि एक बार ज्वर आकर छूट जाने के बाद विषम ज्वर हुआ हो" और "हन्तितम्" इन पदों का "आरम्भ से होने वाला विषमज्वर, दीर्घराचिक (बहुत दिनों से आने वाला) ज्वर और क्षीणता तथा अत्यन्त रूक्षता से युक्त गम्भीर ज्वर रोगी को मार डालता है" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ८८० ॥

इति श्रीमन्मध्वसम्प्रदायाचार्यदार्शनिकसार्वभौमसाहित्यदर्शनाद्याचार्यन्यायरत्नतर्करत्नगोस्वामि-श्रीलश्रीदामोदरशास्त्रिचरणानामन्तेवासिना "वस्ती" मण्डलान्तर्गत "मिश्रौलिया" ग्रामवासिना-सरयूपारीण "पङ्क्तिपावन" न्ववायावतसविविधकलाकोविदश्रौतस्मार्त्तकर्मनिष्ठ-"गौतम" गोत्रोद्भवश्रीलश्रीव्रजमोहनशर्मणां सूनुना स्वनामधन्यपरमादर्शपुरुषशिरोमणि-श्रीलश्रीरामचरित्रमणित्रिपाठिना "पौष्यपुत्र" पदवीधारिणाभिषग्रत्न-श्रीब्रह्मशङ्करशास्त्रिणा विरचितायां भावप्रकाश "भावप्रकाश-करिकायां विद्योतिनीनामिकायां भाषाटीकाया मध्यखण्डेऽष्टमे चिकित्साप्रकरणे प्रथमो ज्वराधिकारः समाप्तः ॥ १ ॥

श्रीगणेशाय नमः ।

भावप्रकाशस्य मध्यखण्डे चिकित्साप्रकरणे

ज्वराधिकार—परिशिष्टम् ।



चिकित्सा दो विभागों में विभाजित की जाती है। एक विभाग में स्वस्थ को रोगों के समूह से किस प्रकार से बचाया जा सकता है। इसको **स्वस्थवृत्त या Hygeine (हायजीन)** कहा जाता है। इसका वर्णन अन्यत्र (वाजीकरण तथा रसायन का वर्णन करते समय) किया गया है। इसको preventive treatment भी कहा जा सकता है। क्योंकि इन नियमों के पालन तथा इस विभाग की ओषधियों के सेवन से रोग उत्पन्न नहीं हो सकते।

चिकित्सा की दूसरी और प्रधान शाखा है—**उत्पन्न हुये रोग की चिकित्सा।** इससे बढकर पुण्य का कार्य और कोई दूसरा नहीं है। चिकित्सा द्वारा मृत्यु के मुख में पहुचा हुआ व्यक्ति काल के कराल गाल से खींचा जाता है। ससार में बहुत से दान प्रचलित हैं किन्तु जीवनदान उन सबसे विशेषता रखता है। इसी लिये कहा जाता है—

"चिकित्सितात् *पुण्यतम न किञ्चित्" ।

किन्तु चिकित्सा की पूर्ण सफलता के लिये उस रोग का निश्चित निदान मालूम होना चाहिये जिस की चिकित्सा में प्रवृत्त होना है।

"रोगमादौ परीक्षेत ततोऽनन्तरमौषधम्" ।

रोग की परीक्षा—**निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय,** तथा **सम्प्राप्ति** इनके द्वारा की जाती है। **सुश्रुत** ने जो कहा है—

"षड्विधो हि रोगविज्ञानोपायः। पञ्चभिः श्रोत्रादिभिः प्रश्नेन च" ॥

वह रोगी की परीक्षा के विषय में हैं। **वाग्भट** ने स्पष्टतया प्रतिपादन किया है:—

"दर्शनस्पर्शनप्रश्नः परीक्षेताथ रोगिणम्। रोग निदानप्राग्रूप *लक्षणोपशयादिभिः ॥

---

* सामान्य चिकित्सा के दो भेद होते हैं—(१) शारीरिक और (२) मानसिक।

वह चिकित्सा दो भेदों से की जाती है। (१) Prophylactic—(स्वास्थ्य संरक्षण), (२) Curative—(रोग निवारण)

स्वास्थ्य संरक्षण के भेदः—(१) सात्म्येन्द्रियार्थसंयोग, (२) विवेकपूर्वक कर्म, (३) देशकालादि विपरीत सेवन।

रोग निवारण के भेद—(१) दैवव्यपाश्रय (जप होमादि), (२) युक्ति व्यपाश्रय (Medical Treatment), (३) सत्वावजय (Sycalogical Treatment)।

युक्तिव्यपाश्रय के भेद (Medical Treatment के भेद—)—(१) निदान परिवर्जन, (२) प्रकृतिविघात (शरीर की रोगानुकूल परिस्थिति का परिवर्तन करना), (३) रोगापहरण (Symphtmetic Treatment)।

रोगापहरण के भेदः—(१) अन्तःपरिमार्जन, (२) वहिःपरिमार्जन, (३) शस्त्रकर्म।

अन्तःपरिमार्जन के भेदः (पंच कर्म)—(१) वमन-विरेचन, (२) वस्ति-उत्तर वस्ति, (३) शिरोविरेचन, (४) स्नेहन, (५) स्वेदन (ये पूर्व कर्म हैं,)

वहिःपरिमार्जन के भेद—(१) आलेप, (२) अभ्यंग, (३) स्नान, (४) उद्वर्तन, (५) अवगाहन, (६) शस्त्रकर्म, (७) छेदन, (८) भेदन, (९) लेखन, (१०) आहरण, (११) सीवन, (१२) उत्पाटन, (१३) एषण, (१४) चूषण।

शस्त्रकर्म के उपभेदः—क्षारकर्म, अग्निकर्म, जलौका का प्रयोग या रक्त मोक्षण करवाना।

प्रकृतिविघात के उपभेदः—लंघन, बृंहण, स्वेदन, स्तंभन, रूक्षण और स्नेहन—इसके बाद ज्वर की सामान्य चिकित्सा।

* निदान और प्राग्रूपः—चिकित्सा में सफलता प्राप्त करने के लिये प्रथम निदना

दर्शन (Inspection इन्स्पेक्शन), स्पर्शन (Palpation पल्पेशन।) तथा प्रश्न (Questioning क्वेश्चनिंग) द्वारा रोगी की परीक्षा करनी चाहिये। रोग को निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय, तथा आदि पद से सम्प्राप्ति द्वारा जानना चाहिये। वास्तव में ये दर्शन आदि निदान आदि के

पश्चात् चिकित्सा, यह नियम अनौपसर्गिक रोगों के लिये जितना उपयोगी और आवश्यक है उससे अधिक उपयोगी और आवश्यक औपसर्गिक रोगों के लिये होता है, क्योंकि इन रोगों की खास (Specific) औषधि चिकित्सा होती है जिसका उपयोग अचूक निदान करने के पूर्व करना एक प्रकार की धृष्टता है। इसलिये वैद्य को चाहिये कि वह प्रथम रोग का अचूक निदान करके पश्चात् चिकित्सा प्रारंभ करे।

अचूक निदान निम्न पद्धतियों द्वारा किया जाता है :—

(१) पूर्व वृत्त और भवान्तर इतिहास—(Circumstantial Evidance) इसमें रोग और रोगी का पूर्व वृत्त, व्यवसाय तथा स्थानान्तर, प्रवास, अन्य रोगियों के साथ संबंध, संबंध के साथ विचार होने की अवधि इत्यादि भवान्तर विषयों का विचार करना पड़ता है।

(२) लाक्षणिक—(Clinical) प्रत्येक रोग अनेक लक्षणों का समूह होता है—जैसे (नतु रूपेण व्याधिर्ज्ञायते, नच रूपव्यतिरेकेण व्याधिरुपलभ्यते। यतो मिलिता रुच्यादय एव ज्वर. कासाद्येकादशरूपाण्येव राजयक्ष्मा। मधुकोश व्याख्या) उस समूह में से एक एक लक्षण अनेक रोगों में मिल सकता है, परन्तु सम्पूर्ण लक्षणों का समूह उस रोग के सिवाय अन्य रोग में नहीं मिल सकता। जैसे ज्वर, रक्तपित्त, खांसी इत्यादि लक्षण अनेक रोगों में मिल सकते हैं, परन्तु ज्वर युक्त एकादश या छः या तीन लक्षणों का समूह राजयक्ष्मा के सिवाय अन्य रोगों मे नहीं मिल सकता। इसलिये रोगों के प्रारम मे रोगी को प्रथम देखने के समय तक तथा उसके पश्चात् प्रतिदिन प्रश्न और दर्शन-स्पर्शनादि विज्ञानोपायों द्वारा रोग के सम्पूर्ण लक्षणों (Symptoms) तथा बाह्य चिह्नों (Physical signs) का निरीक्षण करके उनके आधार पर रोग का निदान करने की कोशिश करनी चाहिये। निदान करने का यही प्रधान उपाय है।

आप्ततश्चोपदेशेन प्रत्यक्षकरणेन च। अनुमानेन च व्याधीन् सम्यग्विद्याद्विचक्षणाः।

(३) सापेक्ष निदान—(Diffrencial diagnasis)—रोग का अन्तिम निदान करने के पूर्व उस रोग के साथ मिलने जुलने वाले अनेक रोगों के व्यवच्छेदक लक्षणों का विचार कर रोग अमुक है। अमुक नहीं है इस प्रकार का जो निर्णय किया जाता है उसे सापेक्ष निदान कहते हैं।

(४) प्रायोगिक विधियाँ:—(Laboratory Methods) प्रायोगिक पद्धतियों में रोगी के मल, मूत्र, थूक, रक्त, मस्तिष्क सुषुम्ना जल (Cerebrospinal fluid) तथा शरीर के अन्य स्रावों की परीक्षा की जाती है।

प्राज्ञानः—(Prognosis)—इसमें रोग की साध्यासाध्यता का विचार होता है। इसमें केवल रोगी बचेगा या नहीं बचेगा इसका विचार होता है। प्राज्ञान दो प्रकार का होता है।

(१) सन्निकृष्ट (Immediate)

(२) विप्रकृष्ट (Remote)—यदि रोगी के बचने की आशा हो तो रुग्णावस्था की काल मर्यादा कितनी होगी, रुग्णावस्था में कौन २ उपद्रव पैदा होंगे, रोगी पूर्व स्वास्थ्य को कब प्राप्त करेगा, रोग से कोई ऐब पैदा होगा या नहीं, यदि कोई ऐब पैदा होगा तो वह स्थायी या अस्थायी होगा इत्यादि कई बातों का इसमें विचार होता है:—

प्राज्ञान बनाने के लिये उपर्युक्त सूचनाएं—रोग की साध्यासाध्यता के सम्बन्ध में अपना मत बनाने के पूर्व रोग और रोगी का अनेक पहलुओं से विचार करना पड़ता है। तब जाकर उसमें सफलता मिलने की कुछ आशा होती है।

निम्नलिखित कुछ पहलुओं का विचार करना परमावश्यक होता है:—

(१) रोग का निदान—यह अत्यन्त आवश्यक होता है।

(२) रोग की प्रकृति—कुछ रोग स्वभाव से ही सुखसाध्य कुछ कष्ट साध्य और कुछ असाध्य होते हैं। जैसे कर्णफेर, लघुमसूरिका, परिवर्तित ज्वर इत्यादि विकारों से रोगी के मरने की सम्भावना प्रायः नहीं होती है।

साधन भूत तथा उन्हीं के अन्दर आ जाते हैं। यथा—पाण्डुरोग के रूप का निश्चय करते समय रोगी के नेत्र आदि का निरीक्षण करना ही पड़ेगा। कुछ आचार्य पूर्वोक्त **निदान-पञ्चक** के स्थान में **नाडी आदि आठ** स्थानों को देखकर रोग का निश्चय करते हैं। जैसे कहा भी है—

"रोगाक्रान्तशरीरस्य स्थानान्यष्टौ परीक्षयेत्। नाडीं मूत्रं मलं जिह्वां शब्दं स्पर्शं दृगाकृती॥"

अर्थात्—**नाडी, मूत्र, मल, जिह्वा, शब्द, स्पर्श नेत्र** तथा आकृति इनके द्वारा रोगाक्रान्त व्यक्ति की परीक्षा करनी चाहिये। यह भी निदानपञ्चक के अन्तर्गत आता है। यथा—**नाडी की गति की परीक्षा करने पर** वह मन्द प्रतीत होती है तो मन्दाग्नि वा धातुक्षीणता का अनुमान होगा। क्योंकि कहा है—

"मन्दाग्नौ क्षीणधातौ च नाडी मन्दतरा भवेत्।"

इसके द्वारा मन्दाग्नि और धातुक्षीणता रोग के रूप (लक्षण) का ही बोध होता है। एवं **मूत्र परीक्षा करने पर** वह ईख के रस के समान मधुर हो तो इक्षुमेह का निश्चय होता है। यह भी रोग (इक्षुमेह) के रूप का ही परिचायक है। इक्षुमेह के लक्षण में कहा गया है—

"इक्षो रस इवात्यर्थं मधुरं चेक्षुमेहतः।"

इस प्रकार यह निश्चित होता है कि-ये रोगनिदान के आठ साधन भी निदान-पञ्चक में ही अन्तर्भूत हैं। अतः **निदान-पञ्चक** ही रोग के निश्चय करने का साधन है।

यहां पर **निदान** आदि का संक्षेप में वर्णन किया जा रहा है।

१-निदानः—विविध प्रकार के अहितकर पदार्थों के सेवन से रोगों की उत्पत्ति होती है। यथा—मृत्तिका-भक्षण से पाण्डुरोग उत्पन्न होता है। किसी रोगी की परीक्षा करने पर यदि हाथ, पैर, मुख आदि का शोथ तथा वर्ण का पीलापन और रक्तहीनता मिल जाय तो उस रोगी से पूछना चाहिये कि इस समय के पूर्व तुम्हें मिट्टी (या खर्पर) खाने की आदत तो नहीं थी? यदि वह कहे कि हाँ, तो मृत्तिका-भक्षण जनित पाण्डुरोग का निश्चय हो जाता है। इस प्रकार जो (अहितकर आहार तथा विहार या इनसे पृथक् भूतावेश अभिघात आदि) दोषों को प्रकुपित करके व्याधि को उत्पन्न करता है उसको **"निदान"** कहते हैं। यथा-मृत्तिका भक्षण पाण्डु रोग का या मक्षिका को निगलना छर्दि का निदान है। कभी२ कुछ रोग रोगों को उत्पन्न करते हैं। यथा-रक्तपित्त से ज्वर और ज्वर तथा रक्तपित्त से यक्ष्मा रोग उत्पन्न होता है। इस स्थिति में रक्तपित्त को ज्वर का तथा ज्वर और रक्तपित्त को राजयक्ष्मा का निदान कहते हैं।

यह निदान कई तरह से विभाजित किया गया है—

प्रथम **सन्निकृष्ट** तथा **विप्रकृष्ट, व्यभिचारी** तथा **प्राधानिक** भेद से निदान चार प्रकार का है।

न्यूमोनिया जैसे कुछ रोग स्वयं मर्यादित (Selflimited) होते हैं। उनकी कालमर्यादा तक कष्ट से यदि रोगी की रक्षा की जाय तो रोगी के मरने की संभावना नहीं होती। प्लेग, गर्दन तोड़ बुखार, सघन मस्तिष्कावरणशोथ, पीतज्वर इत्यादि कुछ रोग ऐसे होते हैं, जिन में कितनी भी कोशिश क्यों न की जाय रोगी के बचने की संभावना नहीं होती है।

(३) रोगी की आयुः—प्रायः युवावस्था में रोग अधिक साध्य होते हैं, बाल्य और वृद्धावस्था में कष्ट साध्य या असाध्य होते हैं।

(४) हृदय तथा अन्य मर्माङ्गों का स्वास्थ्यः—इनका स्वास्थ्य ठीक रहना बहुत जरूरी होता है क्योंकि दिल और दिमाग दोई चीजें हैं—

हृदय के कमजोर होने से मूर्च्छा और उसकी गति बन्द होने से मृत्यु होती है।

हृदयं चेतनास्थानमुक्तं सुश्रुत देहिनाम्।
तत्परस्यौजसः स्थानं तत्र चैतन्यसंग्रहः॥
तस्योपघातान्मूर्च्छायं भेदान्मरणमृच्छति। (सुश्रुत)

(५) रोगी का सामान्यबलः—साधारण बलवान् रोगियों में रोग साध्य होता है कमजोर रोगियों में असाध्य होता है।

राजयक्ष्मा कुष्ठ तथा अन्य चिरकालीन रोगों के साधान के विषय में उपर्युक्त सब बातों में से रोगी के बला बल का विचार अधिक महत्त्व रखता है।

रात, दिन, ऋतु तथा भोजन के पृथक् पृथक् अंश दोष का प्रकोप करते हैं। यथा—रात या दिन के प्रथम भाग में **कफ** द्वितीय भाग में **पित्त** तथा तृतीय भाग में **वात** का प्रकोप स्वाभाविकतया होता है। इसी प्रकार ऋतु तथा भोजन को भी समझ लेना चाहिये। इस प्रकार रात तथा दिन आदि के **आदि मध्य** तथा अन्त में जो **वात-पित्त** तथा **कफ** का प्रकोप होता है, इनके लिये पूर्व के सञ्चित दोष की अपेक्षा नहीं रहती, अतः इनको **सन्निकृष्ट कारण** कहते हैं। **माधवनिदान** की **मधुकोष** नाम्नी व्याख्या में भी लिखा है।

"सन्निकृष्टो यथा-नक्तंदिनर्तुभुक्तांशा दोषप्रकोपस्य हेतवः, न ते चयादिकमोपेक्षन्ते।

विप्रकृष्ट निदानः—हेमन्त ऋतु में कफ का सञ्चय होकर वसन्त ऋतु मे उसका प्रकोप होता है तथा कफजन्य ज्वर आदि व्याधियां उत्पन्न होती हैं। यहां पर वसन्त ऋतु में कफ का सञ्चय न होकर उसके पूर्व स्थित हेमन्त ऋतु में कफ बढ़कर सञ्चित हो रहा था वसन्त मे सूर्य की गरमी से विलयित (तनु) होकर रोग को उत्पन्न करता है। अतः यह विप्रकृष्ट हेतु का उदाहरण है। **मधुकोशकार** ने भी लिखा है।

"विप्रकृष्टो यथा—"हेमन्ते निचितः श्लेष्मा वसन्ते कफरोगकृत्।

सन्निकृष्ट, विप्रकृष्ट को इस प्रकार भी समझा जा सकता है। यथा—**ज्वर** का **विप्रकृष्ट हेतु** है **रुद्र का कोप**। यथा कहा है—

दक्षापमानसंक्रुद्ध-रुद्रनिश्वाससंभवः। ज्वरोऽष्टधा पृथग्द्वन्द्व-संघातागन्तुजः स्मृतः॥

तथा **सन्निकृष्ट हेतु है-मिथ्या आहार-विहार का सेवन।**

व्यभिचारी—उस निदान को कहते हैं जो अपनी अल्पशक्ति के कारण व्याधि को उत्पन्न करने में असमर्थ होता है। **चरक** ने कहा है—

"निदानदोषदूष्यविशेषेभ्यो विकारविघातभावाभावविशेषा भवन्ति"।

निदान, दोष, दूष्य, इन तीनों की विशेषता के अनुसार रोग की उत्पत्ति या अनुत्पत्ति निर्भर है। यदि निदान इस अंश तक प्रकुपित होवे कि वह वातादि दोषों में से एक अथवा अनेक दोषों को प्रकुपित कर सके तथा दोष भी इस सीमा तक प्रकुपित हो जाय कि वे दूष्य-रस, लसीका आदि को दूषित कर सकें, तभी रोग की उत्पत्ति हो सकती है। अन्यथा नहीं। **चरक ने ही कहा है—**

"अबलीयांसो वाऽनुबध्नन्ति न तदा विकाराभिनिर्वृत्तिः"

अर्थात्—निदान के कारण यदि दोष उस अंश तक नहीं कुपित हुये कि दूष्य को पूर्णतया दूषित कर सकें तो विकार नहीं उत्पन्न होगा। इस विकार उत्पन्न करने मे असमर्थ निदान को **"व्यभिचारी"** कहते हैं।

प्राधानिकः—जो कि अपने विशेष उग्र गुणों के कारण अपने अनुरूप वातादि दोषों तथा दूष्यों को दूषित करके रोग विशेष उत्पन्न करता है उसे **"प्राधानिक"** हेतु कहते हैं। यथा—**विषः*** लघु, रूक्ष, उष्ण आदि उग्र गुणों के कारण शरीर में शीघ्र ही व्याप्त होकर अपने लक्षण (**विष के लक्षण** Taxic symptoms **टाक्सिक् सिम्टम्स**) उत्पन्न करता है। यह **प्राधानिक** निदान का उदाहरण है।

पुनः **निदान** तीन भेदों में विभाजित किया जाता है—

(१) **असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग**, (२) **प्रज्ञाऽपराध**, तथा (३) **परिणाम।**

प्रत्येक का पृथक् पृथक् वर्णन करते हैं—

(१) **असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग**.—इन्द्रियों का अपने विषयों के साथ असात्म्य संयोग अर्थात् **अयोग, मिथ्या** तथा **अतियोग**। यथा—चक्षुरिन्द्रिय का विषय है देखना, तो सर्वथा किसी भी वस्तु को देखना ही नहीं यह **चक्षु का अयोग** हुआ। तथा किसी भी वस्तु को निरन्तर निर्निमेष दृष्टि

---

* विषके १० गुण होते हैं, जैसा कि **चरक** ने लिखा है—

लघु रूक्षमाशु विशदं व्यवायि तीक्ष्ण विकाशि सूक्ष्मं च।
उष्णमनिर्देश्यरसं दशगुणमुक्तं विषं तज्ज्ञैः॥

सुश्रुत ने भी अपने **कल्पस्थान** में वर्णन किया है यथा—

रूक्षमुष्णं तथा तीक्ष्णं सूक्ष्ममाशु व्यवायि च।
विकाशि विशदं चैव लघ्वपाकि च तत् स्मृतम्॥

से देखते ही रहना दृष्टि का अतियोग हुआ और सूर आदि जो अत्यन्त तीव्र प्रकाशयुक्त वस्तु का निरीक्षण करना चक्षु का मिथ्यायोग हुआ। इन अयोग, मिथ्यायोग तथा अतियोग के लिये एक शब्द दिया है असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग। इसी प्रकार श्रवण आदि के भी असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग जान लेना है। यह असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग रोग-जनक होने के कारण निदान कहा जाता है।

(२) प्रज्ञाऽपराधः—इसके विषय में चरक ने लिखा है—

बुद्ध्या विषमविज्ञानं विषमं च प्रवर्त्तनम्। प्रज्ञाऽपराधं जानीयान्मनसो गोचरं हि तत्॥

जिस समय बुद्धि में कार्याकार्य का ज्ञान नहीं रह जाता उस समय मनुष्य कार्य को विषम रूप में (अस्वाभाविक मिथ्या तथा अतियोग और अयोग रूप में) समझना तथा तदनुरूप कार्य करता है। पुनः चरक ने ही सूत्रस्थान में वर्णन किया है—

त्रिविधविकल्पं त्रिविधमेव कर्म "प्रज्ञाऽपराध" इति व्यवस्येत्। चरक-सूत्रस्थान-अध्याय ११

अर्थात्—कायिक, वाचिक तथा मानसिक कार्यों का मिथ्यायोग, अतियोग तथा अयोग जिस स्थिति में किया जाता है उसे प्रज्ञाऽपराध कहते हैं। प्रज्ञाऽपराध तथा तज्जन्य रोगों का दिग्दर्शन कराते हुये चरक अपने शारीर के प्रथम अध्याय में लिखते हैं यथा:—

धीधृतिस्मृतिविभ्रष्टः कर्म यत् कुरुतेऽशुभम्। प्रज्ञाऽपराधं तं विद्यात् सर्वदोषप्रकोपणम्॥
उदीरणं गतिमतामुदीर्णानां च निग्रहः। सेवनं साहसानां च नारीणां चातिसेवनम्॥
कर्मकालातिपातश्च मिथ्याऽऽरम्भश्च कर्मणाम्। विनयाचारलोपश्च पूज्यानां चाभिधर्षणम्॥
ज्ञातानां स्वयमर्थानामहितानां निषेवणम्। परमौन्मादिकानाञ्च प्रत्ययानां निषेवणम्॥
अकालादेशसञ्चारौ मैत्री संक्लिष्टकर्मभिः। इन्द्रियोपक्रमोक्तस्य सद्वृत्तस्य च वर्जनम्॥
ईर्ष्यामानभयक्रोध-लोभमोहमदभ्रमाः। तज्जं वा कर्म यत् क्लिष्टं क्लिष्टं यद्देहकर्म च॥
यच्चान्यदीदृशं कर्म रजोमोहसमुत्थितम्। प्रज्ञाऽपराधं तं शिष्टा ब्रुवते व्याधिकारणम्॥

अर्थात्—धारणाशक्ति, धैर्य तथा स्मरणशक्ति से रहित पुरुष जब अशुभ (शरीर के लिये अहितकर) कार्य को करने में प्रवृत्त होता है उसको प्रज्ञाऽपराध कहते हैं। इससे विविध प्रकार से दोष प्रकुपित होते तथा विविध रोगों को उत्पन्न करते हैं।

प्रज्ञाऽपराध के उदाहरण देते हैं—गतिमान् वेगों को उदीर्ण करना अर्थात् और प्रवर्त्तित होने के लिये शक्ति लगाना तथा प्राप्तवेगों को रोकना, दुःसाहसपूर्ण कार्य यथा—बड़ी नदी को बाहु से तैर कर पार करना अथवा अपने से अधिक शक्तिशाली पुरुष से मल्लयुद्ध करना, अत्यधिक मैथुन, कार्य करने के समय को व्यर्थ अधिक नष्ट करना, कार्य को अनुचित मार्ग से करना, विनय (नम्रता) तथा आचार को दूर कर देना, पूज्य व्यक्तियों (ऋषि, मातापिता आदि) को डाटना या उनके सामने अन्य धार्ष्ट्यपूर्ण व्यवहार करना जानबूझ कर अहितकर कार्यों को करना, उन्माद उत्पन्न करने वाले कारणों (विरुद्ध, दुष्ट, अशुचि भोजनादि) का सेवन, असमय में तथा अदेश (श्मशान आदि) में गमन, नीचकार्य करने वालों से वार्त्तालाप या मैत्री करना, इन्द्रियों के उपयोग के विषय में कहे हुये सद्वृत्त (शिष्टाचार, देवार्चन आदि) को न करना, ईर्ष्या मान, (घमंड), भय, क्रोध, लोभ मोह, मद तथा भ्रम आदि से युक्त होना अथवा इन ईर्ष्यादि से अभिभूत होकर अन्य कार्य जो शारीरिक अथवा मानसिक हो उनको करना अथवा रज तथा तम से उत्पन्न अन्य इस प्रकार के कार्य करना प्रज्ञाऽपराध कहा जाता है। ऐसी शिष्टों (आचार्यों) की सम्मति है। इस प्रकार प्रज्ञाऽपराध से विविध विकार उत्पन्न होते हैं।

(३) परिणाम—ऋतुओं के अपने स्वभाव से होने वाली शीतता आदि का अयोग, मिथ्या तथा अतियोग परिणाम कहा जाता है। यथा मधुकोशकार भी लिखते हैं—

परिणामो यथा—अयोगादियुक्ता ऋतुस्वभावजाः शीतादयः।

परिणाम शब्द से काल समझना चाहिये। चरक ने भी सूत्रस्थान अध्याय १ में लिखा है—

"कालः पुनः परिणाम उच्यते"।

अर्थात्—ऋतुओं के अपने स्वभाव के अनुसार होने वाली उष्णता तथा शैत्य आदि के अयोग, मिथ्या तथा अतियोग से जो व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं उन्हें परिणामजन्य व्याधियाँ कहते हैं। अधर्म भी कालान्तर में दुःख उत्पन्न करता है अतः उसका भी परिणाम में अन्तर्भाव कुछ आचार्य करते

है। किन्तु चक्रदत्त इसका प्रज्ञाऽपराध में अन्तर्भाव करते हैं। क्योंकि प्रज्ञाऽपराध से ही अधर्म होगा और वह अधर्म दुःख समूह को पैदा करेगा। यही मत उचित भी प्रतीत होता है। इस प्रकार असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग, प्रज्ञाऽपराध तथा परिणाम भेद से निदान के ये तीन प्रकार कहे गये। प्रकारान्तर से अन्य भी कई तरह के भेद निदान के किये गये हैं। इनके विशेष ज्ञान के लिये माधवनिदान के पञ्चलक्षण के सम्बन्ध में की गयी मधुकोश व्याख्या देखनी चाहिये। इस प्रकार व्याधि के ज्ञान कराने वाले निदान पञ्चक में से निदान का वर्णन समाप्त हुआ।

पूर्वरूपः—अहितकर आहार तथा विहार आदि के सेवन से शरीर में दोष वैषम्य को प्राप्त होकर रोग उत्पन्न करते हैं। रोग के लक्षण प्रगट होने के पूर्व कुछ ऐसे लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं जिनसे कि उत्पन्न होने वाले रोग की सूचना मिलती है। उस सूचना को हम **पूर्वरूप** कहते हैं। अर्थात् रोग के वास्तविक लक्षण प्रगट होने के पूर्व जो आगे प्रगट होने वाले रोग को बताने वाले लक्षण या लक्षण-समूह उत्पन्न होते हैं उनको **पूर्वरूप** (Prodrom प्रोड्रोम) कहते हैं।

ये पूर्वरूप दो प्रकार के होते हैं। **१ सामान्य पूर्वरूप** तथा **२ विशिष्ट पूर्वरूप।**

सामान्य पूर्वरूप वह है जिससे दोष तथा दूष्यों के मिलने से उत्पन्न होने वाले लक्षणों का ही पता चलता है। मधुकोशकार ने भी कहा है—

"तत्र सामान्य येन दोषदूष्यसम्मूर्च्छनावस्थाजनितेन भाविज्वरादिव्याधिमात्र प्रतीयते, न तु वातादिजनितत्वादिर्विशेषः"

अर्थात्—**सामान्य पूर्वरूप** वह कहा जाता है जिसके द्वारा दोष (वातादि) और दूष्य (त्वचा, मांस, शोणित तथा लसीका) के समिश्रण (सम्बन्ध) से होने वाले ज्वर आदि व्याधियों का ही स्थूल रूप से परिज्ञान होता है। इसके द्वारा यह पता नहीं चल सकता कि अमुक व्याधि अमुक दोषप्रधान होगा। यथा—**श्रम, आलस्य** आदि भावी ज्वर की ही उत्पत्ति बताते हैं। ज्वर में किन दोषों की प्रधानता तथा किनकी न्यूनता होगी इसको नहीं जाना जा सकता।

विशिष्ट पूर्वरूप वह है जिसमें भावी रोग के लक्षण ही अस्पष्ट रूप में होते हैं। यथा—**उरःक्षत रोग** में वातादि के अव्यक्त लक्षण ही वातादिजन्य उरःक्षत के **विशिष्ट पूर्वरूप** होते हैं। **वाग्भट** ने भी लिखा है— **"प्राग्रूप येन लक्ष्यते"।**

उत्पित्सुरामयो दोष-विशेषेणानधिष्ठितः। लिङ्गमव्यक्तमल्पत्वाद् व्याधीनां तद्यथातथम्॥"

अर्थात्—सामान्य पूर्वरूप का वर्णन करते हुये वे लिखते हैं—"जिसके द्वारा श्रम आदि से उत्पन्न होने वाला रोग किसी दोष विशेष से असम्बद्ध दृष्टिगोचर होता है वह (सामान्य) पूर्वरूप कहा जाता है। इसका उदाहरण यह है। ज्वर के पूर्वरूप में—

"श्रमोऽरतिविवर्णत्वं वैरस्यं नयनप्लवः। इच्छा द्वेषो मुहुश्चापि शीतवातातपादिषु"॥

इत्यादि लक्षणों से केवल यह जाना जाता है कि अब ज्वर आने वाला है। किन्तु यह ज्वर वातज होगा कि पित्तज या कफज इसका अनुमान इससे नहीं होता तथा **विशिष्ट-पूर्वरूप** वह **है,** जिसमें उत्पन्न होने वाले व्याधि के ही लक्षण अस्पष्ट (किञ्चित् व्यक्त) रूप में होते हैं। उदाहरण के लिये ज्वर के पूर्वरूप में ही आगे कहा गया है—

"विशेषात्तु, जृम्भाऽत्यर्थं समीरणात्। पित्तान्नयनयोर्दाहः कफादन्नारुचिर्भवेत्" इत्यादि।

जब ज्वर के पूर्वरूप के साथ जभाई अधिक आती हो तो भावी ज्वर **वातज** होगा, यदि नेत्रों में जलन अधिक मालूम हो तो **पैत्तिक ज्वर** उत्पन्न होगा, यदि उस समय में अन्न में विशेष अरुचि मालूम हो तो **श्लैष्मिक ज्वर** की सभावना है। इस प्रकार भावी ज्वर के विषय में **वातज, पित्तज, कफज** ज्वर होगा, इसकी सूचना जिसके द्वारा मालूम हो उसे **विशिष्ट पूर्वरूप** कहते हैं। इस प्रकार दोषों की अभिव्यक्ति तथा अव्यक्ति का विचार करके पूर्वरूप के **सामान्य** तथा **विशिष्ट** ये दो अवान्तर भेद कहे गये।

रूपः—पूर्ववर्णित अव्यक्त पूर्वरूप जब पूर्णतया प्रकट होता है तब उसे **रूप** या **लक्षण** कहते हैं। यह रोग का वास्तविक स्वरूप होता है। यथा—**ज्वर** में स्वेद का अवरोध (पसीना न आना), ताप की अधिकता तथा सर्वाङ्ग में वेदना ये तीनों लक्षण जिस व्यक्ति में एकत्र पाये जाय उसे **ज्वर रोग** से आक्रान्त समझना चाहिये। तो उपर्युक्त ये तीनों लक्षण ज्वर के **रूप** वा **लक्षण** हुये। इसी प्रकार शरीर में मर्दन के समान पीडा, अरुचि, तृष्णा, आलस्य, गुरुता तथा ज्वर, अन्न का न पचना और अंगों में शोथ ये **आमवात** के **रूप** (लक्षण) हैं।

उपशय—हेतु (निदान) विपरीत, व्याधिविपरीत तथा हेतु और व्याधि उभयविपरीत औषध अन्न और विहार का जो सुखप्रद (सुख का अनुबन्ध जिससे रहता है) उपयोग होता है, उसको **उपशय** कहते हैं। अर्थात्-हेतुविपरीत औषध, हेतुविपरीत अन्न तथा हेतुविपरीत विहार, व्याधिविपरीत औषध, व्याधिविपरीत अन्न तथा व्याधिविपरीत विहार, हेतुव्याधि-उभयविपरीत औषध, अन्न तथा विहार और हेतुविपरीतार्थकारी, व्याधिविपरीतार्थकारी, हेतुव्याधि-उभयविपरीतार्थकारी औषध, अन्न तथा विहार का जो सुखानुबन्ध (सुखजनक) उपयोग है, उसे **उपशय** कहते हैं। इसी का नाम **सात्म्य** भी है। पाश्चात्य चिकित्सक भी कुछ व्याधियों के सन्देह होनेपर **उपशयात्मक निदान** (Thiraputic test **थिरेप्युटिक् टेस्ट**) करते हैं। यथा आमवात के सन्देह होने पर यदि **सैलीसिलिक एसिड** (Salysylic acid) से लक्षणों में सुधार होवे तो वह व्याधि आमवात ही है इसका निदान हो जाता है। आचार्य **चरक** ने भी कहा है—

"गूढलिङ्गं व्याधिमुपशयानुपशयाभ्याम्" ऐसी व्याधियां जिनके लक्षण स्पष्ट न हों उनकी **उपशय** तथा **अनुपशय** से परीक्षा कर जानना चाहिये। **उपशय** से व्याधि के लक्षण प्रकट होने के पूर्व भी निदान किया जा सकता है। पित्तप्रधान रोगविशेष के पूर्वरूप प्रकट होने पर जब पित्तविपरीत औषधों के उपयोग से पूर्वरूप के लक्षणों की तीव्रता या स्वयं लक्षण कम हों उन्हें पित्तप्रधान रोग समझ सकते हैं। इसको व्याधि के स्वरूप (लक्षण) व्यक्त होने पर यदि प्रयोग किया जाय तो लक्षणों की तीव्रता दूर होकर सुख की प्राप्ति होती है। तथा वह सुख स्थायी (चिरकालानुबन्धी) होता है। दाह और तृष्णायुक्त नवज्वर में शीतल जल देने से रोगी को तत्काल सुख होता है पर वह सुखानुबन्धी नहीं होता। उससे व्याधि की उग्रता और भी बढ़ती है वह **उपशय** नहीं हो सकता। **वाग्भट** ने भी लिखा है:—

हेतुव्याधिविपर्यस्त-विपर्यस्तार्थकारिणाम्। औषधान्नविहाराणा-मुपयोगं सुखावहम्।
विद्यादुपशयं व्याधेः स हि सात्म्यमिति स्मृतः॥

(वाग्भट-निदानस्थान-अ० १—सूत्र-६)

उपशय के हेतुविपरीतादि के अनुसार उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं—

हेतुविपरीत औषध—यथा शीतजन्य ज्वर में शुण्ठी आदि उष्ण औषधि।

हेतुविपरीत अन्न—यथा श्रमजन्य वातवृद्धि से उत्पन्न हुये ज्वर में रसौदन (मांसरस तथा भात) का प्रयोग।

हेतुविपरीत विहार—यथा दिवास्वप्न से उत्पन्न हुए ज्वर में रात का जागना।

व्याधिविपरीत औषध—यथा अतीसार में पाठ आदि स्तम्भक औषधि, कुष्ठ में खदिर (खैर कत्था) का प्रयोग। ये औषधियां प्रभाव से व्याधि को नष्ट करतीं तथा व्याधि को उत्पन्न करने वाले दोष को भी नष्ट करती हैं। अन्यथा इधर व्याधि औषधि से नष्ट की जाती उधर दोष पुनः व्याधि को उत्पन्न कर देता। अतः स्पष्ट होता है कि जो औषधि व्याधि को दूर करती हैं वह व्याधि के आरम्भक दोष को भी नष्ट कर देती है।

व्याधिविपरीत अन्न—यथा अतीसार में स्तम्भक मसूर आदि का प्रयोग।

व्याधिविपरीत विहार—यथा उदावर्त्त रोग में प्रवाहण (कुंथन करना, कांखना)।

हेतुव्याधिविपरीत ओषधि—वातज शोथ में दशमूल के क्वाथ का प्रयोग करने से वात भी नष्ट होता है और साथ ही साथ शोथ भी दूर हो जाता है।

हेतुव्याधिविपरीत अन्न—यथा वातकफजन्य ग्रहणी में तक्र का प्रयोग वात तथा कफ को भी शान्त करता है तथा ग्रहणी को भी नष्ट करता है। इसी प्रकार शीत के कारण उत्पन्न हुये वातज्वर में पेया का प्रयोग करने से पेया के उष्णवीर्य होने से वात दूर होता है तथा प्रभाव से ज्वर भी नष्ट होता है। **चरक** ने भी लिखा है—

ज्वरघ्नी ज्वरसात्म्यत्वात्।

हेतुव्याधिविपरीत विहारः—दिन में सोने से बढ़े हुये कफ के कारण उत्पन्न हुई तन्द्रा में रूक्ष तन्द्राविपरीत रात्रिजागरण।

हेतुविपरीतार्थकारी ओषधिः—यथा पित्तप्रधान व्रणशोथ में पित्तवर्द्धक उष्ण सेक करना

(गुण में दोष में समानता होने पर भी जो औषध, अन्न तथा विहार विपरीत कार्य करते हैं उन्हें विपरीतार्थकारी कहा जाता है)।

हेतुविपरीतार्थकारी अन्नः—व्रणशोथ की पच्यमान अवस्था में विदाह उत्पन्न करने वाले अन्न का उपयोग करना।

हेतुविपरीतार्थकारी विहारः—यथा वातज उन्माद में भय दिखाना, भय स्वयं वातवर्धक है पर वातजन्य उन्माद में यह लाभ करता है।

व्याधिविपरीतार्थकारी ओषधिः—यथा वमन की प्रारम्भिक स्थिति में मदनफल (मैनफल) आदिक वामक ओषधियों से वमन कराना (छर्दि में प्रथम ही वमन को रोकने से हानि होती है अतः उसे मदनफल आदि के क्वाथ पिलाकर निकालना ही सर्वोत्तम होता है।)

व्याधिविपरीतार्थकारी अन्न—यथा अतीसार में शरीर के अन्दर के दोषों को निकालने के लिये दुग्ध से विरेचन कराना।

व्याधिविपरीतार्थकारी विहार—यथा वमन मे वमन के पूर्णतया हो जाने के लिये प्रयास (मुखमें अंगुली डाल कर) करना।

हेतुव्याधिविपरीतार्थकारी ओषधिः—यथा अग्नि से झुलस जाने पर अगुरु आदि उष्ण औषधों का लेप करना। अथवा विषका नाश करने के लिये विष का प्रयोग करना।

हेतुव्याधिविपरीतार्थकारी अन्नः—यथा मद्यपानजन्य मदात्यय में पुन. मदकारक मद्य का प्रयोग करना।

हेतुव्याधिविपरीतार्थकारी विहारः—यथा व्यायामजन्य सम्मूढ वात मे जल में तैरने का व्यायाम करना।

कुछ लोग सन्देह करते हैं कि-जो ओषधि हेतु (निदान) को नष्ट करती है उसी से व्याधिका भी विनाश होगा फिर व्याधिविपरीत क्यों वर्णन किया गया ? उनका सन्देह ठीक नहीं क्योंकि जो ओषधि दोष को नष्ट करती है उससे ही व्याधिका भी नाश हो जाय ऐसा नहीं होता। यदि दोषों के विनाश से ही व्याधि का नाश होता तो कफगुल्म में वमन तथा लङ्घन जो कफ को नष्ट करने वाले हैं, उनका क्यों निषेध किया जाता ? जैसा कि अन्यत्र कहा है:—

"कफे लङ्घनसाध्ये तु कर्त्तरि ज्वरगुल्मयोः। तुल्येऽपि देशकालादौ लङ्घनं न च शस्यते"॥

इससे स्पष्ट है कि जो जो ओषधि दोष को नष्ट करती है उसके लिये आवश्यक नहीं कि वह रोग भी नष्ट करे। और जो ओषधि व्याधिविपरीत होती है वह तो दोष को अवश्य नष्ट करती हैं। अन्यथा रोग नष्ट ही नहीं होगा, क्योंकि बचे हुये दोष पुन. व्याधि को उत्पन्न कर देंगे। जब ओषधि दोष को भी शान्त कर देगी तभी व्याधि की निवृत्ति होगी। विपरीत अर्थकारी का अभिप्राय यह है कि–निदान (हेतु, कारण) का समानधर्मी होते हुये भी व्याधि को दूर करने वाला। यथा पित्तज व्रणशोथ मे उपनाह (सेक) करना। यहां पर सेकने से पित्त और भी बढेगा, किन्तु व्रणशोथ में इससे लाभ होगा। पच्यमान व्रणशोथ में विदाही अन्न का सेवन करना भी इसी प्रकार है। इस प्रकार निदान का समानधर्मी होते हुये भी व्याधिका शामक होना **विपरीतार्थकारी** का अर्थ होता है। कुछलोग शका करते हैं कि **विपरीतार्थकारी** के उदाहरण में जो उदाहरण दिये गये हैं वे सभी **दोषप्रत्यनीक** ही हैं क्योंकि यदि श्लेष्मा की अधिकता तथा दोषों का बाहुल्य जिसमे हो ऐसी छर्दि मे वमन न कराया जाय तो रोग दीर्घ काल (Chronic क्रानिक) तक चलता रहता है। अथवा असाध्य हो जाता है। अतः वहां पर वमन कराना ही सर्वोत्तम है। और यह **दोषप्रत्यनीक** ही है। इसी प्रकार अग्नि से झुलसने पर उष्ण सेक से उस स्थान का जमा हुआ रक्त द्रव होकर अन्य स्थान में चला जाता है। यदि शीतोपचार किया जाय तो रक्त वहां जम जायगा और यदि शीतोपचार भी न किया जाय तो दग्ध स्थान का अग्नि द्वारा प्रकुपित रक्त पाक प्रारंभ कर देगा। इस दूषित रक्त को उष्णता द्वारा द्रव करके स्थानान्तर में भेजना भी हेतु**प्रत्यनीक** ही है। जङ्गम विष ऊर्ध्वगामी तथा मूलज विष अधोगामी होता है। तो जगमविष से मूलज विष और मूलज विष से जगम विष जो नष्ट होता है यह **भी हेतुविपरीत** ही है। और मद्यजन्य मदात्यय में जो मद्य आदि दिये जाते हैं वे भी मातुलुङ्ग, चुक्र, आदि मिला कर पिये जाते हैं जो कि केवल मद्य से पृथक् ही हैं। अथवा रूक्ष, मधु आदि से उत्पन्न मदात्यय में स्निग्ध गौड (गुड से बना हुआ) आदि मद्य देना **हेतुप्रत्यनीक** ही है। और **सुश्रुत** ने **उत्तरतन्त्र** में जो लिखा है—

"यथा नरेन्द्रोपहतस्य कस्य चिद् भवेत्प्रसादस्तत एव नान्यतः।
ध्रुव तथा मद्यहतस्य देहिनो भवेत्प्रसादस्तत एव नान्यतः॥

जिस प्रकार नरेन्द्र का कोपभाजन अपना जीवनदान उस राजा ही से प्राप्त कर सकता है। उसी प्रकार मद्य से रुग्ण व्यक्ति मद्य सेवन से ही आरोग्य लाभ कर सकता है। यहां पर दोनों मद्य मद्यजातीयत्वेन सामान्य हैं। किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर रूक्ष मधु आदि मद्य से उन्मत्त व्यक्ति को स्निग्ध गौड आदि मद्य पिलाना हेतुविपरीत ही है। अतः पूर्वोक्त विपरीतार्थकारी शब्द से कुछ लाभ नहीं ऐसा पूर्वपक्षी ने सन्देह उपस्थित किया? तो कहते हैं ठीक है पर फिर भी अवान्तर वैधर्म्यं प्रतिपादनार्थ विपरीतार्थकारी पद रखना चाहिये। अवान्तरवैधर्म्य उसे कहते हैं जो औषध, अन्न तथा विहार निदान के समान गुण धर्म वाला दीखने पर भी व्याधि को नष्ट करता हैं, यथा अग्नि से झुलसने से पित्त बढ़ता है। उसे फिर पित्तकारक सेक देते हैं। इस प्रकार अग्निजन्य उष्मा तथा सेकजन्य उष्मा में उष्मा—सामान्य स्पष्ट है। पर कार्य दोनों का भिन्न है। एक ने चर्म को झुलस दिया है दूसरा पूर्व उष्मा से होने वाले विकार को नष्ट कर देगा। यही अवान्तरवैधर्म्य है। इसी अवान्तरवैधर्म्य का प्रतिपादन करने के लिये विपरीतार्थकारी यह पद दिया गया है।

सम्प्राप्तिः—

"यथा दुष्टेन दोषेण यथा चानुविसर्पता।
निर्वृत्तिरामयस्यासौ सम्प्राप्तिर्जातिरागतिः॥ (वाग्भट—निदान—अ० १)

निदान के द्वारा दूषित दोष जिस प्रकार से शरीर में फैलकर रोग को उत्पन्न करते हैं, उसको **सम्प्राप्ति** कहते हैं। इसी का नाम **जाति** और **आगति** भी है। यथा ज्वर में वातादि दोष प्रथम आमाशय में जाकर वहां उष्मा के स्थान से उष्मा को बाहर निकाल कर ज्वर को उत्पन्न करते हैं। यह ज्वर की सम्प्राप्ति हुई। सम्प्राप्ति के ५ भेद हैं। जैसा कि **वाग्भट ने** लिखा है—

सङ्ख्याविकल्पप्राधान्य—बलकालविशेषतः। सा भिद्यते यथाऽत्रव वक्ष्यन्तेऽष्टौ ज्वरा इति॥
दोषाणां समवेतानां विकल्पोंऽशांशकल्पना। स्वातन्त्र्यपारतन्त्र्याभ्यां व्याधेः प्राधान्यमादिशेत्॥
हेत्वादिकात्स्न्यावयवै—र्बलाबलविशेषणम्। नक्तंदिनर्तुभुक्तांशै—र्व्याधिकालो यथामलम्॥

सङ्ख्या, विकल्प, प्राधान्य बल तथा काल भेद से सम्प्राप्ति ५ प्रकार की है। प्रत्येक की व्याख्या इस प्रकार है—

१ संख्याः—जिससे रोगों की गणना होती है। यथा आठ प्रकार के ज्वर होते हैं।

२ विकल्पः—यह सम्प्राप्ति का वह भेद है जिसके द्वारा एकत्रित दोषों की अंशांश कल्पना की जाय अर्थात् किसी रोग में वात किस अंश तक कुपित है और पित्त किस अंश तक तथा कफ किस अंश तक दूषित हुआ है यह जाना जाय।

३ प्राधान्यः—इसके द्वारा व्याधि की स्वतन्त्रता तथा परतन्त्रता का ज्ञान होता है यथा ज्वरातीसार रोग में अतीसार और ज्वर इनमें कौन **स्वतन्त्र** (अनुबन्ध्य) तथा कौन **परतन्त्र** (अनुबन्ध) है इसका निश्चय करना।

४ बल—हेतु, पूर्वरूप तथा रूप इनका पूर्णतया व्यक्त होना व्याधि की प्रबलता का सूचक है मध्यम राशि में व्यक्त होना रोगी की मध्यम दशा को बताता है और यदि निदान, पूर्वरूप आदि अल्प प्रकट हुये हों तो रोग हीन बल है ऐसा समझना चाहिये।

५ व्याधिकाल—रात, दिन, भोजन, ऋतु इनके आदि मध्य तथा अन्त में रोग की उत्पत्ति या वृद्धि देख कर व्याधि वातज, पित्तज वा कफज है इसका निदान होता है। अर्थात् उपर्युक्त भोजन तथा रात आदि के आदि में रोग की वृद्धि वा रोग की प्रवृत्ति देखकर दोष का निश्चय करते हैं। यथा दिन, रात, भोजन तथा ऋतु के आदि में आने वाली व्याधि कफज, इनके मध्य में आने वाली पित्तज तथा इनके अन्त में उत्पन्न होने वाली व्याधि वातज होती है। यह निश्चय इस **कालरूप सम्प्राप्ति** से होता है।

दोषों की अंशांशकल्पना से कौन दोष किस अंश तक बढ़ा हुआ है तथा उसके लिये औषधि किस अंश तक देनी चाहिये इसका निश्चय किया जाता है। इससे चिकित्सा अव्यर्थ कार्य करनी है।

दोषों का प्राधान्य निश्चित करने पर जो प्रधान होता है उसकि चिकित्सा की जाती है। साथ ही

यह भी ध्यान रक्खा जाता है कि अप्रधान दोष कहीं बढ़ न जाये । यथा वात की अधिकता और कफ की मध्यममात्रा में स्थिति तथा पित्त की न्यूनता में जो चिकित्सा होग वह इस प्रकार की होगी जिससे वात का तो शमन हो पर साथ ही कफ भी न बढ़ने पाये । चिकित्सा के लिये रोग की तीव्रता का भी विचार बहुत आवश्यक है । यदि रोग सम्पूर्ण लक्षणों से युक्त हुआ हो तो वह असाध्य होगा। यदि रोग के बहुत कुछ लक्षण व्यक्त होंगे तो व्याधि तीव्र है उसके लिये उग्र ओषधि की व्यवस्था करनी पड़ेगी । यदि पूर्वरूप तथा रूप कम प्रकट हुये हों तो मृदु ओषधि ही कार्यकर होती है, तीक्ष्ण ओषधि से हानि की सम्भावना रहती है । काल में उत्पन्न होने वाले तृतीयक आदि ज्वरों के आवेग का समय मालूम होने पर उसके प्रतिरोध के लिये पूर्व से ही यत्न करते हैं । इस प्रकार **पञ्चनिदान** का परिज्ञान चिकित्सा की सफलता के लिये अत्यन्त आवश्यक है । पूर्वोक्त निदान के अतिरिक्त कभी २ किसी रोग से आगे चलकर दूसरा रोग उत्पन्न हो जाता है । ऐसा देखा गया है कि कुछ रोग दूसरे रोग को उत्पन्न करके स्वय शान्त हो जाते हैं, तथा कुछ रोग दूसरे रोगों को उत्पन्न करके स्वयं भी बने रहते हैं । रोग से रोगान्तर उत्पन्न होने का उदाहरण है ज्वर के सन्ताप से रक्तपित्त तथा रक्तपित्त से ज्वर का उत्पन्न होना और इन दोनों से यक्ष्मा की उत्पत्ति । प्रतिश्याय (जुखाम) से कास की उत्पत्ति होती है और प्रतिश्याय भी बना ही रहता है । अर्श दूर नहीं होता और गुल्म तथा उदरविकार उत्पन्न हो जाते हैं । इस प्रकार कई प्रकार के रोगसमूह दृष्टिगोचर होते हैं । इनके निदान तथा चिकित्सा प्रस्तुत ग्रन्थ में दी गई है । पञ्चलक्षण की सहायता से निदान और चिकित्सा दोनों का सूक्ष्म विवेचन करके चिकित्सा में प्रवृत्त होना चाहिये । इसी पर चिकित्सा की सफलता निर्भर है ।

विषमज्वरः—

यह रोग जितना सौम्य (साधारण) समझा जाता है, उससे कई गुना अधिक भयानक है । संसार के लक्षाधिक व्यक्ति इसी भयकर रोग द्वारा कालकवलित होते हैं । ससार का कोई कोना इस व्याधि से मुक्त नहीं है । भारत में हिमालय की तराई, बिहार का पूर्वी हिस्सा, बगाल, आसाम, मध्यप्रान्त का जगली प्रदेश, कोचीन, त्रावणकोर आदि स्थानों में अधिक होता है । भारत में यह रोग वर्षा तथा शरद ऋतु में (अगस्त से दिसम्बर तक) अधिक होता है । कभी २ यह महामारी के रूप में कुछ स्थानों में फैलता है । यथा—पंजाब तथा त्रावणकोर में । केवल भारत से दशलक्ष मनुष्य प्रतिवर्ष इस महाव्याधि के शिकार होकर मानवलीला समाप्त करते हैं । यह महामारी घातक विषमज्वर के जीवाणु द्वारा उत्पन्न होती है ।

यह रोग मच्छर के काटने से उत्पन्न होता है । सब प्रकार के मच्छरों से यह रोग नहीं उत्पन्न होता । मच्छरों की **एनाफलीज्** (Anopheles) **जाति** के मच्छर इस रोग को उत्पन्न करते हैं तथा इस रोग का प्रसार एक प्राणी से दूसरे प्राणी में इसी मच्छर द्वारा होता है ।

कारणः—इस रोग को उत्पन्न करने वाला एक जीवाणु है जिसको **प्लाज्मोडियम** (Plasmodium) कहते हैं । इसकी **तीन प्रधान उपजातियां** हैं । और इनसे **तीन तरह का विषमज्वर** उत्पन्न होता है ।

१ **प्लैज्मोडियम वाइवैक्स**, (Plasmodium Vivax) यह तृतीयक ज्वर उत्पन्न करता है ।

२ **प्लैज्मोडियम मैलेरी** (Plasmodium Malariae) यह चातुर्थिक ज्वर को उत्पन्न करता है ।

३ **प्लैज्मोडियम फैलसीपैरम्** (Plasmodium falciparum) इससे घातक विषमज्वर उत्पन्न होता है ।

इसके अतिरिक्त **प्लैज्मोडियम ओवेल** (Plasmodium Ovale) नामका एक चौथे प्रकार के जीवाणु का भी अन्वेषण हुआ है । मच्छर जब मनुष्य को काटता है उसी समय रक्त के अन्दर कुछ जीवाणु विषमज्वर को प्रविष्ट कर देता है । ये जीवाणु मनुष्य के **रक्तकणों** (Red blood Corpuscles–**रेड् ब्लड् कार्पुसल्स्**) को खाकर अपना जीवन निर्वाह करते और बढ़ते रहते हैं । एक जीवाणु एक रक्तकण में प्रविष्ट होता है । रक्तकण को खाता हुआ जीवाणु जैसे २ बढ़ने लगता है वैसे ही उसकी रचना में भी परिवर्त्तन होने लगते हैं अन्त में एक जीवाणु कई छोटे जीवाणुओं में विभक्त हो जाता है । ये छोटे जीवाणु रक्तकण को (जो कि नष्टप्राय रहता है) विदीर्ण कर बाहर निकल आते हैं । और नये सिरे से वृद्धि प्रारम्भ करते हैं । पुनः प्रत्येक जीवाणु एक २ रक्तकण को आक्रान्त कर बढ़ता है । और फिर एक एक जीवाणु से कई जीवाणु बनते हैं एवम् अपने उत्पादक जीवाणु के अनुसार बढ़ते हैं ।

जिस समय रक्तकण को विदीर्ण करके नये छोटे जीवाणु (Merozoites मीरोज़ाइट्स्) बाहर निकलते और नये रक्तकण पर आक्रमण करते हैं। उसी समय शीत के साथ ज्वर चढ़ता है। जीवाणुओं की संख्या इस प्रकार बढ़ती जाती है। अन्त में एक ऐसी स्थिति आती है जब कि जीवाणु का इस प्रकार विभजन द्वारा बढ़ना बन्द होने लगता है। इनकी शक्ति कम होने लगती है उस समय इन जीवाणुओं का कुछ परिवर्त्तन होता है और स्त्री और पुरुष व्यवायक में परिवर्तित होते हैं। इस अवस्था में जब कोई **एनाफलीज़ मच्छर** रोगी को काटता है तो रोगी के रक्त के साथ मच्छर की शुण्डा से होकर वे आमाशय में पहुंचते हैं। वहां उनकी वृद्धि होती है। इस प्रकार रोगोत्पादक जीवाणु की वृद्धि और संसार में स्थिति के लिये **दो प्रकार के माध्यम** की आवश्यकता होती है। इनमें एक तो है **पुरुष** और दूसरा **मच्छर**। मच्छर के काटने के बाद मनुष्य शरीर में जो कुछ परिवर्त्तन होते हैं उनको **असैथुनी चक्र** (Asexual) या **सायज़ोगोनी** (or Schizogony) और **व्यवायक** स्थिति में मच्छर के काटने से जब मच्छर के अन्दर जीवाणु प्रविष्ट होता है और उसके शरीर में जो परिवर्त्तन होते हैं उनको **मैथुनी चक्र** (Sexual) या **स्पोरोगोनी** (or Sprogony) कहते हैं।

असैथुनी चक्र (Asexual or Schizogony) मच्छर दंश के साथ मनुष्य के शरीर में कुछ जीवाणु प्रविष्ट कर देता है। इस प्रविष्ट जीवाणु को **स्पोरोज़ाइट** (Sporozoite) कहते हैं। इस अवस्था में ये पतले तथा सीधे (मलाई के समान) होते हैं। रक्त में प्रविष्ट होने पर इनका आकार गोल हो जाता है और जब ये रक्तकण में प्रविष्ट होते हैं तो इनके मध्य में **रिक्तस्थान** (Vacuom. **वेकुओम्**) होता है अतः इनकी रचना मुद्रिका (अगूठी) के समान (Ringfarm—**रिङ्गफार्म**) गोल होती है। रक्तकण को खाकर ये जीवाणु बढ़ते हैं। जिस समय ये पूर्णतया बढ़ चुकते हैं तब इनको **शायज़ोन्ट** (Schizont) कहते हैं। और कण के भीतर **शायज़ोन्ट** कई भागों में विभाजित होता है। इन कणों को (Merozoites **मीरोज़ाइट**) कहते हैं। ये मीरोजाइट कुछ समय तक रक्तकण के अन्दर रहते हैं, फिर कणको नष्ट कर बाहर निकल आते हैं। और फिर प्रत्येक **मीरो-ज़ाइट** एक २ रक्तकण को आक्रान्त करके अपना जीवनचक्र प्रारम्भ कर देता है। कुछ काल के अनन्तर एक ऐसी स्थिति आती है जब कि जीवाणु की विभजन द्वारा वृद्धि करने की शक्ति नष्ट हो जाती है। और कुछ जीवाणुओं में परिवर्त्तन होता है और वे स्त्री तथा पुरुष व्यवायक का रूप धारण कर लेते हैं। इनको **व्यवायक** या (Gamates-**गैमेटस्**) कहते हैं। **पुरुषव्यवायक** छोटा होता है इसे **अणुव्यवायक** (Machro-gamete-**माइक्रो गैमेट**) कहते हैं। **स्त्रीव्यवायक** बड़ा होता है इसे **मैक्रोगैमेट** (Machro-gamete) कहते हैं। मनुष्य के शरीर में इनकी इससे अधिक वृद्धि नहीं होती। ये व्यवायक कुछ काल तक शरीर में जीवित रह सकते हैं। किन्तु आखीर में शरीर की (रोगों से) रक्षा करने वाली शक्ति द्वारा ये नष्ट कर दिये जाते हैं।

मैथुनी चक्र या **स्पोरोगोनी** (Sporogony)—इसके अन्तर्गत वे परिवर्त्तन आते हैं जो मच्छर के शरीर में होते हैं। मच्छर के दंश के साथ रक्तकण के साथ ही साथ **व्यवायक** (Gametes) भी मच्छर के आमाशय में प्रविष्ट होते हैं। मच्छरों के आमाशयिक रस की क्रिया से व्यवायकों के ऊपर का आवरण गल जाता है। वे रक्तकण से स्वतन्त्र हो जाते हैं और उनमें कुछ विशेष परिवर्त्तन होते हैं। **स्त्रीव्यवायक** के शरीर से केन्द्र निकल जाता है। तथा **पुरुषव्यवायक** के केन्द्र के ५-७ भाग हो जाते हैं। इनका आकार सूत्र के समान होता है। इस समय **स्त्रीव्यवायक** के शरीर में एक **सूक्ष्म छिद्र** बनता है। जिसके द्वारा पुरुषव्यवायकों का केन्द्र भाग जो अब तक **तन्तु** (Call-**सेल**) बन जाता है प्रविष्ट होता है। केवल एक ही व्यवायक के प्रवेश करने के बाद स्त्रीव्यवायक का छिद्र बन्द हो जाता है। इस संयुक्त जीवाणु को **जायगोट** (Zygote) कहते हैं। फिर यह गतिमान् (Ookinet-**ऊवोकाइनेट्**) होता है। प्रथम यह गोल होता है फिर नुकीला बन जाता है और अपनी नोक से आमाशय की कला को विदीर्ण कर श्लेष्मलकला तथा वक्ष की पेशियों के बीच में रहने लगता है। यहां पर इसका पहला नुकीला आकार बदल जाता है और वह गोल हो जाता है। इसको **"ऊसिस्ट"** (Oocyots)। कहते हैं। यह **ऊसिस्ट** भीतर ही भीतर कई सूक्ष्म भागों में विभक्त होता है। इनको **स्पोरोज़ाइट** (Sporozoite) कहते हैं। पूर्ण वृद्धि होने पर इसके ऊपर जो एक आवरण रहता है वह नष्ट होता है और ये **स्पोरोज़ाइट** मच्छर के शरीर में फैलते हैं। जब मच्छर किसी स्वस्थ

मनुष्य को काटता है तब ये (Sporozoite) स्पोरोज़ाइट मनुष्य के भीतर प्रविष्ट होकर रक्तकणों को आक्रान्त करते हैं । (Sporozoite) स्पोरोज़ाइट बनने तक की क्रिया **मैथुनीचक्र** के अन्दर आती है । ये **स्पोरोज़ाइट** रक्तकण को आक्रान्त करके किस प्रकार अपना आगे का जीवनचक्र आरम्भ करते हैं इसे हम **अमैथुनीचक्र** के वर्णन करते समय कह चुके हैं ।

रोग का सङ्क्रमणः—

इसका संक्रमण चार प्रधान मार्गों द्वारा होता है ।

(१) **एनाफलीज** के दंश से रोग के जीवाणु मनुष्य शरीर में प्रविष्ट होकर रोगोत्पत्ति करते हैं ।

(२) कभी २ गर्भवती स्त्री से गर्भ में बच्चे को इस रोग का सङ्क्रमण पहुंच जाता है ।

(३) विषमज्वर से आक्रान्त पुरुष को सुई लगाने के बाद सुई का पूर्णतया विशोधन किये बिना यदि किसी स्वस्थ व्यक्ति को सुई लगाया जाय तो उस व्यक्ति को भी विषमज्वर होता है ।

(४) आत्ययिक अवस्था में जब विषमज्वर से युक्त मनुष्य का रक्त किसी स्वस्थ मनुष्य में प्रविष्ट किया जाता है तो इससे भी विषमज्वर उत्पन्न होता है । इनमें मच्छर द्वारा रोग का प्रसार प्रधान है । तथा अन्य प्रसार के मार्ग गौण हैं ।

सहायक कारणः—

मच्छरों की वृद्धि में सहायता देने वाले कारण । यथा—

(१) **जलसंचयः**—स्थान २ पर पानी एकत्र होना, वर्षा अधिक होना, मन्द प्रवाह वाले जलाशय तालाव, गढ़े आदि की अधिकता, धान की खेती, रेल की लाइन (इसको बनाने के लिये जमीन को कुछ ऊंचा करना पड़ता है इसके लिये अगल बगल की मिट्टी ली जाती है जिससे गढे उत्पन्न हो जाते हैं जिनमें पानी रुका रहता है), वायुमण्डल में रहना तथा वायु के तापमान की अधिकता (६० डिग्री फैरन हाइट से तापका अधिक होना), धान की खेती तथा इसके लिये बनाये गये कुला, नहर इत्यादि । जल के सञ्चय होने से मच्छर जल में अण्डा देता है और इस अण्डे से मच्छर उत्पन्न होते हैं । वर्षा यदि थोड़े समय तक और अधिक वेग से होती रही तो मच्छर के अण्डे वह जाते हैं । इस वर्षा से विषमज्वर के प्रसार का भय नहीं है ।

(२) **आर्द्रता**—वायुमण्डल की आर्द्रता यदि ६३ प्रतिशत से कम हो तो इससे मच्छर की उत्पत्ति नहीं होती । इसी प्रकार ६० फायरन हाइट से कम तापक्रम भी मच्छरों की वृद्धि के लिये अनुपयुक्त है । तथा १०० डिग्री फायरन हाइट से अधिक उष्णता में भी मच्छरों की वृद्धि नहीं होती । १००° से कम तथा ६० डिग्री या इससे ऊपर के तापक्रम में मच्छरों की वृद्धि होती है ।

(३) **दरिद्रताः**—इसके कारण मनुष्य अपनी चिकित्सा नहीं करवा पाता । मशहरी, अच्छा मकान, पौष्टिक आहार आदि से मनुष्य वंचित रहता है।

(४) **चौपायों की कमी**—मच्छर मनुष्य की अपेक्षा चौपायों को ३२ गुना अधिक चाहता है । इस प्रकार मकान के पास चौपायों को रखने से भी विषम ज्वर से रक्षा होती है विदेशों (इगलैण्ड, हालैंड आदि यूरोप के देशों) में विषमज्वर कम होता जा रहा है । उस कमी के जितने कारण हैं उनमें चौपायों की वृद्धि एक प्रधान कारण है । भारत से प्रतिवर्ष लाखों की संख्या में चौपायों का जो नाश होता जा रहा है इससे कृषि, गोदुग्ध, घी, दही आदि में कमी होने के कारण देश की क्षति होती है साथ में विषमज्वर की वृद्धि में भी प्रोत्साहन मिलता है ।

(५) **स्थानपरिवर्त्तन**—रेल, मोटर, वायुयान आदि द्वारा जिस प्रकार सुदूरप्र देश की यात्रा आसान हो रही है उसी प्रकार रोग का भी प्रसार एक स्थान से दूसरे स्थान पर शीघ्रता से हो रहा है । विषमज्वर से आक्रान्त व्यक्ति वायुयान से वा अन्य रेल आदि से सुदूर स्वस्थ स्थान में जाता है । वहां पर यदि परिस्थिति अनुकूल मिली और **एनाफलीज मच्छर** भी वहां मिल गया तब इस रोग का प्रसार वहां भी हो जायगा । विषमज्वर ६००० फुट से अधिक ऊंचाई के स्थानों पर नहीं होता ।

(६) **आयु**—बाल्यावस्था में यह रोग अधिक होता है । बाल्यावस्था में जो शिशु रोग से पीड़ित होता है उसके शरीर में ऐसी क्षमता उत्पन्न हो जाती है जो कि युवावस्था में विषमज्वर से बचाती है । पूर्व में कहा जा चुका है कि विषमज्वर के ३ मुख्य जीवाणु होते हैं । जिनके कारण विषमज्वर के ३ प्रकार साधारणतया मिलते हैं । इन तीनों प्रकारों के जीवाणु मच्छरदंश से मनुष्य में प्रविष्ट होते हैं और एक २ रक्तकण को आक्रान्त कर जीवन-चक्र प्रारंभ करते हैं ।

पहले कह चुके हैं कि—मच्छर के शरीर में **स्पोरोजाइट** बनते रहते हैं तथा दंश के समय प्रविष्ट होकर रोग उत्पन्न करते हैं। रक्त को आक्रान्त करने से लेकर जीवाणु की वृद्धि तथा उनके विभाग तक की अवस्था एक नियत में ही समाप्त होती है। अतः इनके द्वारा उत्पन्न होने वाले ज्वर का समय भी नियत समय ही होना है। यह काल (**स्पोरोज़ाइट से मीरोजाइट** बनने का काल) **तृतीयक ज्वर में ४८ घंटे** का तथा **चतुर्थक ज्वर में ७२ घंटे** का होना है। कणों का नाश करके जब जीवाणु बाहर लसीका में आते हैं तब शीत, कंप तथा ज्वर मालूम होता है। **घातक** (Malignant-मेलिग्नेन्ट) प्रकार में यह काल **२४ से ४८ घंटे** का होता है। किन्तु इस प्रकार में सब **मीरोज़ाइट** एक ही समय में रक्तकण से बाहर नहीं निकलते। समय २ पर इनका समूह निकला करता है। इससे ज्वर प्रायः सदा कुछ न कुछ बना रहता है। इसे प्रतिदिन आने वाला विषम ज्वर (**अर्धविसर्गी विषमज्वर**) कहते हैं। कभी कभी इनका एक चक्र (आवेग) समाप्त होने के पूर्व दूसरा आवेग आ जाता है। इससे ज्वर दिनभर में दो बार आ जाता है। इसे (१)**सतत** प्रकार कहते हैं।

विषमज्वर के दो और भी प्रकार होते हैं। **अन्येद्युष्क** जो तृतीयक जीवाणु के दो स्वतन्त्र **संक्रमण** Infection इन्फेक्शन) लगातार दो दिन होने से उत्पन्न होता है। तथा **चातुर्थिक-विपर्यय** जो चातुर्थिक जीवाणु के दो स्वतंत्र वंशविस्तार (Broods-ब्रूड्स्) दो लगातार दिन होने से उत्पन्न होता है। इन दोनों प्रकारों के लिये कोई पृथक् प्रकार के जीवाणु नहीं होते हैं। शरीर में जीवाणु यद्यपि ज्वरमुक्त होने की स्थिति के पूर्व सर्वदा विद्यमान रहते हैं। पर ज्वर जीवाणुओं के कणों से बाहर आने के समय ही उत्पन्न होता है। इससे प्रकट है कि ज्वरोत्पत्ति जीवाणुओं की उपस्थिति से नहीं होती बल्कि जीवाणु जब रक्तकण का नाश कर लसीका में आते हैं उस समय उनके साथ कुछ विष भी (या **विजातीय प्रोटीनजाति का द्रव्य**) लसीका में मिल जाता है। इसी के कारण ज्वरोत्पत्ति होती है।

लक्षणः—मच्छर के काटने के और विषमज्वर की उत्पत्ति के बीच में कुछ काल होता है। इस अवस्था में जीवाणु ज्वरोत्पत्ति के प्रयत्न में लगे रहते हैं। पर उस समय तक ज्वर उत्पन्न नहीं होता। यह प्रत्येक रोगों के सम्बन्ध में होता है। इस काल को **सञ्चयकाल** कहते हैं। यह सचयकाल विषमज्वर के प्रत्येक प्रकार के लिये भिन्न २ होता है। **तृतीयक सचयकाल-१२-१८ दिन, चतुर्थक १८ से २१ दिन** का तथा **घातक प्रकार के विषम ज्वर में सचय काल २ से १२ दिन** का होता है। ज्वर उत्पन्न होने के पहले आलस्य, जृम्भा अङ्गमर्द, शिरःशूल, क्षुधानाश, वमन ये पूर्वरूप होते हैं। इसके बाद रोगी को ठंढ लगती है इसकी अवधि साधारणतया २ घंटे की होती है। एक घंटे के बाद ज्वर चढता है जो कि एक घंटे से ६ घंटे तक रहता है। इसके बाद पसीना होकर ज्वर उतर जाता है। ज्वर का आवेग प्राय आधी रात से लेकर दोपहर तक आता है, कभी तीसरे पहर भी ज्वर का आवेग आता है। ज्वर ६ से १० घंटे तक रह सकता है।

ज्वर के प्रकार—तीसरे दिन आने वाला ज्वर **तृतीयक** (Tertian-टर्शियन) और चौथे दिन आने वाला ज्वर **चातुर्थिक** (Quartan-क्वार्टन) कहलाता है। **घातक विषम ज्वर** में ज्वर एक बार आकर कई दिन तक वर्त्तमान रहता है। तृतीयक जीवाणु के दो स्वतन्त्र वंशविस्तार लगातार दो दिन चलने से **अन्येद्युष्क ज्वर** तथा **चतुर्थक** ज्वर के दो स्वतन्त्र वंश विस्तार दो लगातार दिन होने से **चातुर्थिकविपर्यय** होता है। इन ज्वरों के उत्पन्न होने के पूर्व जो शीत की अवस्था होती है उसके स्थान पर बच्चों में आक्षेप आते हैं।

तृतीयक ज्वर के प्रारम्भ में जीवाणुओं की मात्रा रक्त में कम होती है अतः रक्तपरीक्षा के समय उनका मिलना कठिन होता है। **तृतीयक ज्वर** में चिकित्सा न की जाय तो ज्वर कुछ समय तक (२-३ सप्ताह तक) आता है। फिर धीरे २ कम होता जाता है अन्त में बन्द हो जाता है। कभी २ इसका पुनरावर्त्तन होता (पुनः ज्वर लौट आता) है। इस समय भी यदि चिकित्सा न की जाय तो दुर्बलता तथा रक्तहीनता बढती है। एवं प्लीहा भी बढती है। मृत्यु इस प्रकार में निमोनिया, अतीसार आदि उपद्रवों से होती है। और सर्दी लगना, पानी में भीगना, शक्ति से अधिक परिश्रम करना तथा मद्यकर्म से इस ज्वर के पुनरावर्त्तन होते हैं।

---

(१) दिवामध्ये सततको द्वौ कालावनुवर्त्तते।

चातुर्थिक ज्वर—ठीक चौथे दिन और नियत समय पर आता है। ज्वरयुक्त अवस्था भी तृतीयक से कम होती है। रोगी ज्वरवेग के अतिरिक्त काल में अपने साधारण कार्य करता रहता है। चिकित्सा न करने पर यह अधिक समय तक जारी रहता है। इस काल की अवधि ६ साल तक हो सकती है। कुनैन देने से रोग की तीव्रता कम होती है पर रोग का निर्मूल इससे नहीं होता। अन्य प्रकारों की अपेक्षा आन्तरिक **वृक्कशोथ** या **पैरेन्काइमेटस नेफ्राइटिस** (Paranchimatus nephritis) अधिक होता है। मृत्यु तृतीयक की अपेक्षा कम होती है।

घातक विषमज्वरः—इसमे ज्वर का कोई निश्चित स्वरूप नहीं होता। प्रारम्भ में ज्वर धीरे २ बढ़ता है। ज्वरवेग का काल इसमें बहुत अधिक (२४ घंटे से भी अधिक) होता है। यह ज्वर प्रायः पूर्ण विसर्गी होता है। प्रति तीसरे दिन ज्वर का आवेग आता है और फिर कुछ समय तक बना रह कर पूर्णतया ज्वर जाता है। इसलिये इसे **घातक तृतीयकज्वर** (Malignant tertian) कहते हैं। ज्वर दिन रात में दो बार चढता है। ज्वर चढने के पूर्व इसमें जाडा तथा कम्प आदि बहुत कम मालूम होता है। प्लीहा रोग के प्रारम्भ में बढी नहीं मालूम होती है। कभी कभी प्लीहा स्पर्श-लभ्य होने के पूर्व ही मृत्यु हो जाती है। इसमें वमन, अन्न में रुचि न होना, कामला, प्रलाप, बेहोशी आदि लक्षण अधिक तथा रोग के प्रारम्भ से ही होते हैं। यदि इसकी चिकित्सा न की जाय तो ज्वर धीरे धीरे कम होता है। ८-१० दिन ज्वर बिलकुल ही नहीं आता इसके बाद ज्वर फिर चढता है। इस प्रकार के पुनरावर्त्तन ४ या ५ तक हो सकते हैं। रक्तकणों का नाश इसमे बहुत अधिक होता है तथा मूत्र कृष्णवर्ण का होता है। इसको **कालमेह ज्वर** (Black-Water fever) कहते हैं। तथा और भी अति तीव्र सन्ताप, आक्षेप आदि उपद्रव अधिक होते हैं। जिससे इस प्रकार भी मृत्यु अधिक होती है। इस प्रकार की महामारी भी फैलती है। उसका समय ग्रीष्म तथा शरद् ऋतु है। यह ज्वर कुनैन से जल्दी शान्त नहीं होता किन्तु जब अच्छा हो जाता है तब इसके पुनरावर्त्तन भी नहीं होते हैं।

संक्षेप में विषमज्वर के निम्न लक्षण होते हैं—

१ शीतः—तृतीयक तथा चातुर्थिक ज्वर में शीत अधिक तीव्र होता है। **घातक विषम ज्वर** में शीत (जूडी) वेग से नहीं मालूम होता।

२ ज्वर-यह कभी २ अत्यधिक होता है। १०७ डिग्री तक ज्वर चढ सकता है। इस स्थिति में इसे उपद्रव कहते हैं। यह उपद्रव तृतीयक तथा चातुर्थिक ज्वरों में अधिक होता है।

३ प्लीहावृद्धिः—प्रारम्भ में प्लीहा बहुत थोडी बढी रहती है। परीक्षा करने पर उसका नीचे का किनारा मालूम पडता है। ज्वर के समय प्लीहा में रक्ताधिक्य होता है इसलिये प्लीहा कुछ बढ जाती है। फिर पूर्ववत् हो जाती है। जब रोग पुराना हो जाता है तब प्लीहा की अधिक वृद्धि होती है। जीर्णज्वर के साथ प्लीहा बढी हुई मिलने पर विषमज्वर का ध्यान रखना चाहिये। विषम-ज्वर में प्लीहा भगुर होती है। कभी कभी थोडे ही आघात से या बिना आघात के ही फट जाती है।

४ यकृत् की वृद्धि और कामलाः—२० प्रतिशत रोगियों में यकृत् बढा हुआ मिलता है। यह दुष्ट प्रकार में और विशेष करके बच्चों में होता है। किन्तु प्लीहा की अपेक्षा यकृत् कम बढता है। कामला विषमज्वर में रोग के उत्पन्न होने के बाद थोडे ही समय में दिखाई पडती है।

५ पाचन-संस्थान के लक्षण—जीभ मैली, मुख में बदबू, मुख का स्वाद कडवा, हल्लास, तथा वमन होता है। ग्रहणी (Deodinum-डीओडिनम्) मे शोथ होने से **कामला** उत्पन्न होता है। **अन्त्र में शोथ** उत्पन्न होने से **अतीसार** या **हैजा** के समान पतले दस्त होते हैं। कभी कभी अन्त्र में रक्तस्राव भी होता है।

६ रक्तवह-संस्थान के लक्षणः—हृदय दुर्बल, नाडी शीघ्रगामिनी, कभी २ मन्द (विषमज्वर के विष का परिणाम वागस नाडी पर पडने से) होती है।

७ मूत्र-ज्वरयुक्त अवस्था में मूत्र कम मात्रा में तथा गहरा होता है। इसकी गुरुता अधिक होती है। ज्वरविरहित अवस्था में मूत्र अधिक मात्रा में तथा स्वच्छ होता है और **मूत्र की गुरुता** (Specific gravity-स्पेसिफिक ग्रेविटी) कम होती है। इसके अतिरिक्त **त्वचा** कृष्ण, पीत या खाकी वर्ण की होती है। ओष्ठ तथा **नासिका** के पास **विस्फोट** (Herpes-हेर्पीज), पैर की अंगुलियों

में बेवाई (Chilblain-चिल्ब्लेन), शरीर पर चकत्ते (Urticaria-आर्टिकेरिआ) ये लक्षण होते हैं। सिरदर्द ज्वर के प्रारम्भ में अवश्य होता है।

घातक विषमज्वर के कुछ परिवर्तित रूप भी दिखाई पड़ते हैं जो कि अत्यन्त भयावह होते हैं। वे निम्नलिखित हैं—

१ मस्तिष्कगत विषमज्वर (Ceribral Malaria-सेरिब्रल मलेरिया)।
इनमें पक्षाघात तथा संन्यास (Coma-कोमा) आदि लक्षण होते हैं।

२ अति तीव्र सन्ताप (Hyper pyrexia-हाइपर पाइरेक्सिया)
इसमें ज्वर शीघ्र ही १०७ डिग्री तक बढ़ता है। और अधिक से अधिक ११२ डिग्री तक जा सकता है।

३ आमाशयिक प्रकारः—(Abdominal-ऐब्डामिनल) इसमें अतीसार वा विसूचिका के लक्षण उत्पन्न होते हैं तथा पित्ताशयशोथ और आन्त्रपुच्छशोथ के समान उदर विभाग में शूल होता है।

४ हृदय तथा रक्तवहसंस्थानगत प्रकार (Cardio--Vascular-कार्डिओ वैस्कुलर)—
इसमें हृदय का कार्य ठीक नहीं होता, उसकी गति की नियमितता में फर्क होता है। हृदय का विस्फार तथा हृत्कार्यावरोध (Syncope-सिन्कोप) होता है।

५ शीताङ्ग विषमज्वर (Sudoral-स्युडोरल)—

इसमें स्वेद बहुत अधिक निकलना तथा अवसाद (Colaps-कोलेप्स्) के लक्षण होते हैं। यथा स्वेद की अधिकता, त्वचा की शीतलता, मन्द दुर्बल नाड़ी, हृल्लास, वमन, उथली तथा तेज सांस। इसके अतिरिक्त कामलायुक्त सन्ततज्वर भी होता है। इसमें कामला के लक्षण होते हैं। शरीर में तथा नेत्रों में पीलिमा होती है। पित्त के लवण (Bile-saltes बाइलसाल्ट्स्) तथा पित्त के रञ्ज द्रव्य (Bile pigments बाइलपिग्मेण्ट्स्) मूत्र के अन्दर पाये जाते हैं। मल का रंग काला होता है।

विषम ज्वर को अन्य ज्वरों से पृथक् करना चाहिये। कुनैन की पूर्णमात्रा (५ रत्ती=१० ग्रेन) दिन में तीन बार सेवन करने से ज्वर ३६ से ७२ घंटे में अवश्य उतरना चाहिये। यदि ज्वर इससे न उतरे तो कहा जा सकता है कि यह विषमज्वर नहीं है। प्रथम सप्ताह में प्लीहा नहीं बढ़ी रहती किन्तु दूसरे सप्ताह में स्पर्शलभ्य होने लगती है। जीर्ण विषमज्वर में तो प्लीहा अवश्य बढ़ी मिलती है। प्लीहा की अपेक्षा यकृत की वृद्धि कम होती है। रक्त की कमी, त्वचा पर पीलिमा आदि लक्षण निदान में सहायक होते हैं। पर इसका निश्चित निदान रक्तपरीक्षा द्वारा होता है। रोगी के रक्त का बूंद काच की पट्टी पर लेकर रञ्जित करके सूक्ष्मदर्शक से परीक्षा करने पर विषमज्वर के जीवाणु दिखाई पड़ते हैं। घातक प्रकार में जीवाणुयुक्त रक्त का कण रक्तकण के समान ही होता है। पर तृतीयक तथा चतुर्थक ज्वर में कण का आकार बढ़ता है। जीवाणुओं की परीक्षा किसी पैथालोजिष्ट (Pathologist) से करवानी चाहिये। रक्त के भीतर विषमज्वर के जीवाणुओं का मिलना विषम ज्वर का सब से विश्वसनीय लक्षण है।

साध्यासाध्यता (Prognosis-प्राग्नोसिस)—कुनैन वा अन्य अन्यर्थ ओषधियों के प्रयोग से यह रोग कभी भी घातक नहीं हो सकता। इस चिकित्सा के न करने पर रोग की तीव्रता तथा जीवाणुओं की घातकता के अनुसार रोग साध्य या असाध्य होता है। चतुर्थक सब से कम घातक होता है। तृतीयक कभी २ तथा घातक तृतीयक विषमज्वर और इसके और घातक भेद (मस्तिष्कगत आदि) प्रायः घातक होते हैं। बालकों और दुर्बलों में तथा अतीसारादि से युक्त होने पर विषम ज्वर असाध्य होता है। इसके निम्न उपद्रव होते हैं—

चिरकालीन प्रकार में और बार बार रोग के पुनरावर्त्तन से शरीर कृश होता जाता है। कामला के लक्षण दिखाई पड़ते हैं। प्लीहा बढ़ती है, वह इतनी भङ्गुर होती है जो कि साधारण आघात से ही विदीर्ण हो जाती है। कमजोरी के कारण निमोनिया, अतीसार आदि उपद्रव स्वरूप में उत्पन्न हो जाते हैं और मृत्यु होती है। प्लैज्मोडियम फैल्सीपैरम के कारण उत्पन्न हुये विषम ज्वर में कालमेह ज्वर (Black-water fever ब्लैक वाटर फीवर) होता है। चातुर्थिक ज्वर में वृक्कशोथ तथा सर्वाङ्गशोथ उत्पन्न होता है। इसके अतिरिक्त मस्तिष्कक्लान्ति (Neurasthenia न्यूरस्थीनिया), उन्माद विषण्णता (Malancholia मैलनकोलिया), स्मृतिनाश-एकाग्रशक्ति का नाश, व्रण शुक्र (Carneal Ulcer कार्नियल अल्सर), तारामण्डल शोथ (Neuralgic

Iritis म्यूरल्जिक् आइराइटिस), वन्ध्यता, गर्भपात की प्रवृत्ति, विविध वातनाडियों के शूल (Neuralgia न्यूरल्जिआ), शोथ तथा अर्धावभेदक आदि विविध प्रकार के शिर:शूल ।

चिकित्सा—पाश्चात्य शास्त्रों के अनुसार विषम ज्वर की ३ प्रचलित ओषधियां हैं—**कुनैन, प्लैज्मोकीन (या प्लाज्मोचीन)** तथा **एटेब्रिन** अन्तिम दोनों ओषधियां जर्मन विद्वानों द्वारा सन्निकट भूत में आविष्कृत हुई हैं। रोगी को शय्यारूढ करना चाहिये। **कैलोमल** ५ ग्रेन अथवा **मैग-सल्फ** (Mag sulph) २ **औंस** गरम पानी में घोलकर उसमे कोष्ठशुद्धि करना चाहिये और विबन्ध दूर करना चाहिये। कुनैन के कई योग बाजार में मिलते हैं। पर उनमें **कुनैन सल्फ** तथा **कुनैन बाई हाईड्रोक्लोराइड** अधिक प्रचलित हैं तथा अन्तिम ओषधि कुनैन के सभी योगों से अधिक प्रभावशाली है।

इसकी मात्रा १० ग्रेन (५ रत्ती) दिन भर में ३ बार देना चाहिये।

सुबह के भोजन के बाद इसे देना प्रारंभ करें तथा शाम तक ३ खुराक दे देवें।

इस प्रकार एक सप्ताह तक चिकित्सा चलानी चाहिये।

फिर दूसरे सप्ताह में १० ग्रेन (५ रत्ती) दिन में दो बार देना चाहिये। इसके बाद एक मास तक १० ग्रेन दिन में एक बार देते रहना चाहिये। इस से रोग निर्मूल हो जाता है। घातक विषम-ज्वर, मस्तिष्कगत प्रकार तथा वमन की अधिकता होने पर **कुनैन बाई हाइड्रो क्लोराइड** का घोल बना कर सुई भी दी जाती है। घोल के लिये परिस्नुत जल लेना चाहिये। द्रव इस प्रकार होवे कि एक सी० सी० जल में १ ग्रेन कुनीन पडे। इस विलयन में से १० सी० सी० लेकर शिरा में सूची द्वारा (By injection—**बाई इन्जेक्शन**) प्रविष्ट करना चाहिये। ओषधि बहुत धीरे २ प्रविष्ट करना चाहिये। यह मात्रा पूर्ण युवा के लिये है। आयु तथा शरीर की दुर्बलता आदि को देख कर मात्रा कम की जा सकती है। बच्चे आयु का ख्याल करने पर युवा पुरुष की अपेक्षा अधिक मात्रा बरदास्त कर सकते हैं। कुनैन से जीवाणु के **शायजोन्ट्स** (Schizonts) पर अधिक कार्य कर नष्ट करते हैं। पर स्त्री और पुरुष व्यवायकों पर इनका कार्य नहीं होता तथा **स्पोरोजाइट** को नष्ट नहीं करता। कुनैन उष्ण ओषधि है। अधिक मात्रा मे तथा आवश्यकता से अधिक काल तक सेवन करने से निम्न लक्षण उत्पन्न होते हैं। इन लक्षणों को (Sinchonism) **सिन्कोनिज्म** के नाम से पुकारते हैं। वे लक्षण ये हैं:—

हृल्लास, वमन, सिरदर्द, कानों में शब्द, बधिरता, चक्कर, अन्धता, नाक तथा गर्भाशय से रक्त स्राव, त्वचा पर कण्डू, शीत-पित्त आदि कुनैन के अतियोग से उत्पन्न होते हैं। अत्यधिक मात्रा से बेहोशी, प्रलाप, आक्षेप, सर्वाङ्गवात, नाडी तथा हृदय की क्षीणता, शीघ्रता तथा अवसाद होकर मृत्यु भी हो सकती है। इन लक्षणों में से यदि कुछ भी प्रारंभ होते दिखाई पड़ें तो कुनैन बन्द कर देना चाहिये। ओषधि बन्द करते ही उक्त लक्षण बन्द हो जाते हैं। इस **कुनैनिज्म** से बचने के लिये कुनैन के साथ **हाइड्रोब्रोमिक एसिड** (१ ग्रेन कुनैन के लिये १ या २ बूंद) मिलाकर प्रयोग करना चाहिये।

कुछ व्यक्ति कुनैन को बिलकुल ही सहन नहीं कर सकते, कुनैन खाते ही वमन हो जाता है। इस स्थिति को **कुनैन असह्यता** (Quinine idio syncrasy **कुनीन इडिओ सिन्क्रैसी**) कहते हैं। इसमें कुनैन खाने पर वमन तो होता ही है साथ में त्वचा पर लाली, चकत्ते, उग्र कण्डू, विस्फोट, ज्वर, वमन, हृल्लास, चक्कर आना, त्वचा, अन्त्र तथा वृक्क में रक्तस्राव वगैरह लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। असह्यता की परीक्षा के लिये त्वचा को सुई आदि से कुछ खरोंच कर उस पर कुनीन का (१-१० से १-१०० का) घोल लगाने से त्वचा पर लाली तथा शोथ उत्पन्न होता है जो कि साधारण मनुष्य में नहीं पाया जाता है। कुनैन के सेवन से **एल्बुमिन मेह** उत्पन्न होता है। रोग के पुनरावर्त्तनों से बचने के लिये रोगी को शिक्षा देनी चाहिये कि वह शीत, ठंढे पानी मे स्नान, शक्ति से अधिक परिश्रम इनका परित्याग करे।

प्लैज्मोकीन से घातक विषमज्वर के स्त्री और पुरुष व्यवायक नष्ट होते हैं। पर इसका **शाय-जोन्ट** पर कुछ कार्य नहीं होता। सामान्य तृतीयक ज्वर में दोनों (व्यवायक तथा शायजोन्ट) इससे नष्ट होते हैं। इसको कुनैन के साथ देना अत्युत्तम है। आज कल **प्लैज्मोकीन को** (Plasmo-Quinine co) नामसे ओषधि आती है जिसके एक वटी (Tablet—**टैबलेट**) में कुनैन सल्फ २ ग्रेन,

तथा प्लेज्मोक्वीन ½ ग्रेन रहता है। इसकी ६ वटियाँ प्रतिदिन के हिसाब से ६ दिन तक देनी चाहिये। बीच में ४ दिन का अन्तर देकर फिर प्रारम्भ करना चाहिये। इस प्रकार ५ बार इस औषधि का प्रयोग ४ दिन का बीच में अन्तर देकर करना चाहिये।

इसके दुर्गुणः—विष तथा आमाशय के लक्षण तथा त्वचा की अस्थायी नीलिमा उत्प होती है। **एटेब्रिन डायजोण्ट** को कुनैन की ही भांति नष्ट करती है। इसकी मात्रा ४½ ग्रेन प्रतिदिन के हिसाब से ५ दिन तक देनी चाहिये। या प्रतिदिन ३ ग्रेन के हिसाब से ९ दिन तक देना चाहिये। इसके लेने के समय त्वचा का वर्ण पीला हो जाता है इसमें विशेषता यह है कि जिन अवस्थाओं में कुनैन को शरीर बरदास्त नहीं कर सकता **एटेब्रिन** उस दशा में भी दी जाती है। तथा कालमेह-ज्वरयुक्त ज्वर में इससे विशेष लाभ होता है। घातक तृतीयक विषमज्वर **एटेब्रिन** को **प्लेज्मोक्वीन** के साथ मिलाकर देना चाहिये। मस्तिष्कगत विषमज्वर के लिये आजकल **एटेब्रिन** का एक घुलनशील योग मिलता है इसे **एटेब्रिनम्यूसोनेट** (Atabrin musonate)कहते हैं। इसकी पूर्णमात्रा मांशपेशीद्वारा इञ्जेक्शन देने के लिये ०३ ग्राम है। सुई बड़ी सतर्कता के साथ देनी चाहिये। चिकित्सक की देख रेख में ही इसकी (Injection) सुई देनी चाहिये।

काला आजार Kala-Azare—

यह एक चिरकालीन ज्वर है चीन, हिन्दुस्तान, आसाम तथा अदन में पाया जाता है। इसमें प्लीहा तथा यकृत् बढते हैं। रक्तहीनता, शरीर की क्षीणता तथा अनियमित ज्वर जो बहुत समय तक चलता रहता है पाया जाता है।

कारण—इसका कारण **लीशमन डोनोवन बाडी** (Leishman Donovan body) है। यह परिभ्रमण करने वाले रक्त तथा **रेटिकुलो एन्डोथीलियल** तन्तु और अस्थिमज्जा के भीतर पाया जाता है। इसका संवहन **फ्लेबोटोमस अर्जेण्टिपिस** नाम्नी मक्षिका द्वारा होता है।

लक्षणः—

संचय काल—यह एक से ६ मास तक हो सकता है। तथा इस रोग का आक्रमण ज्वर के साथ होता है। रोग की निम्न विशेषतायें हैं—

(१) सन्तत या सतत स्वरूप का ज्वर होता है, ज्वर दिन में दो बार चढता है। भोजनोत्तर तथा शाम को ज्वर बढता है।

२ **रक्तहीनता,** यकृत तथा प्लीहावृद्धि, त्वचा का वर्ण काला होना, नासा, मसूडे आदि से तथा त्वचा से रक्तस्राव, उदरवृद्धि, जलोदर, कृशता, उदरभित्ति पर शिराओं का स्पष्ट होना, तथा इनका विस्तृत होना, शरीर में शोथ, खांसी, अतीसार, रात्रिस्वेद, हृदय की धडकन, श्वासकृच्छ्र, रक्तभार में कमी, स्त्रियों में नष्टार्त्तव, बलक्षय आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं।

३ प्लीहा में वृद्धि होती है। प्लीहा प्रथम मुलायम मालूम होती है, पर स्पर्शनाक्षम नहीं होती। इसके बाद वृद्धि अधिक होती जाती है और प्लीहा भी कठिन होती है। तौल में अत्यन्त शीघ्रता से कमी होती है तथा रोगी देखने में अत्यन्त क्षीण होता जाता है।

४ रक्त की कमी होती है। श्वेतकणों की संख्या भी कम होती है। रक्त के अन्दर श्वेत कण ६ से १२ हजार एक **क्यूबिक मिलीमीटर** में साधारणतया होते हैं। इस रोग में इसकी मात्रा घटकर २००० से ५००० तक रह जाती है। तथा अपेक्षाकृत **लिम्फो (१) साइट** और **मानो (२) साइट** बढते हैं। और (३) **न्यूट्रोफिल** कम होते हैं। (४) **इयोसिनोफिल** का पूर्णतया अभाव होता है। **फार्मल्डी हाइड** परीक्षा व्यक्त मिलती है। कृशता के कारण कभी २ **इन्फ्लुयेञ्जा, न्यूमोनिया** आदि रोगों का आक्रमण होता है। तथा रोग के बाद मे त्वचागत **काला आजार** (Dermal Leishmaniasis **डर्मल लीश्मिनियेसिस्**) भी उपद्रव के रूप मे हो सकता है।

इसको **ल्यूकीमिया, सिस्टोसोमियेसिस, चिरकालीन विषमज्वर, आवर्त्तकज्वर** तथा **आन्त्रिक ज्वर** से पृथक् करना पड़ता है।

१-२-३-४ ये रक्त के अन्दर पाये जाने वाले कण हैं इनका विवरण शारीरिक प्रकरण में रक्त का वर्णन करते समय किया है।

रोग का निश्चय करने के लिये पूर्ववर्णित लक्षणों को ध्यान में रखना चाहिये। संशय उपस्थित होने पर रसायनशाला (Laboratory लेबोरेटरी) की शरण लेनी चाहिये। इसके लिये दो प्रकार से परीक्षा की जाती है।

(१) एल्डेहाइड टेस्ट (परिक्षा) (Aldehid test)—

इन्जेक्शन देने वाली पिचकारी से रोगी की शिरा से ४ से ५ सी. सी. तक रक्तनिकाल ले इसे एक परीक्षानलिका में रख छोड़ें। जब पानी की तरह लसीका ऊपर निथर जाय तब इसमें से १ सी. सी. लसीका एक परीक्षानलिका में लेकर उसमें **फार्मेलीन** के दो बूंद छोड़ें। नलिका को खूब हिला लें। काला जार से पीडित होने पर लसीका, श्वेत वर्ण, लसदार, घन बन जाती है। श्वेतवर्ण के साथ में अपारदर्शकता अधिक महत्त्व का है। यह विधि विश्वसनीय तथा सस्ती है। पर यह ज्वर के प्रारंभ होने के ७½ मास के बाद व्यक्त होती है। तथा पूर्ण व्यक्त ८ मास बाद होती है। जब कि चिकित्सा से कुछ भी लाभ की आशा नहीं रह जाती।

(२) **यूरिया स्टेबीमाइन परीक्षा**—एक छोटी नलिका में ½ सी० सी० लसीका लेकर **यूरिया स्टेबीमाइन** का परिस्रुत जल मे बनाया गया ४ प्रतिशत घोल १ सी० सी० वेग से लसीका पर डालें जिसमे दोनों द्रव मिल जावें। परीक्षा व्यक्त होने पर दोनों के मिलने के स्थान पर अपारदर्शक श्वेत अवक्षेप बनता है।

(३) **चोप्रा की विलयन परीक्षा**-यह उपर्युक्त प्रकार से ही होती है, केवल लसीका एक भाग तथा लवण जल ९ भाग मिलाकर इस मिली हुई लसीका के मिश्रण का लसीका के स्थान पर प्रयोग होता है।

(४) **नेपियर की परीक्षा**—(Napier's test **नेपियर्स टेस्ट**)—

इसमें ¾ प्र० श० **यूरिया स्टेबीमाइन** का घोल २ सी० सी० लेकर इसमें लसीका दो बूंद छोड़ते है। परीक्षा व्यक्त होने पर १० मिनट में ज्यादे से ज्यादे दो घंटे में हलका श्वेत अवक्षेप बनता है। वहा से रक्त निकाल कर काच पट्टी पर लेप करके रंजित कर सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से देखने पर इसके जीवाणु दिखाई पड़ते हैं।

चिकित्सा—इसके लिये **यूरिया स्टोबोमनेस्टिवोसन** तथा **नियोस्टिवोसन** बहुतायत से तथा सफलतापूर्वक व्यवहृत होते हैं। इन तीनों की मात्रायें २ ग्राम से ३ ग्राम तक हैं। इसके ८ से १५ इन्जेक्शन दिये जाते हैं। प्लीहा के आकार में कमी तथा अन्य ज्वर आदि लक्षणों की कमी ६ मास तक यदि स्थिर रहे तो रोग-निवृत्ति समझना चाहिये। जहां पर मुख के भीतर शोथ तदन्तर कोथ आदि लक्षण शुरू हों (Cancrum oris **कैंक्रम ओरिस**) तो **न्यूक्लियोटिड का** (Nucleotide K 36) इन्जेक्शन तुरन्त देना चाहिये। विपमज्वर का भ्रम इस रोग के साथ हो जाता है अतः इसका विवरण यहा कर दिया गया है।

श्वसनकज्वर या कर्कट सन्निपात (Lober Pneumonia लोबर न्यूमोनिया)—

यह एक अत्यन्त तीव्र औपसर्गिक रोग है जो कि "डिप्लो कोकस न्यूमोनिया (Diplo coccus pneumonia) नामके जीवाणु के कारण उत्पन्न होता है। इस जीवाणुकी ४ जातियां हैं, जिसमें से ३ तो स्वस्थ मनुष्य के नासा, स्वरयन्त्र आदि पर नहीं पाये जाते, किन्तु ४ ये प्रकार के जीवाणु स्वस्थ मनुष्य के मुख, नासा आदि में पाया जाता है। प्रथम ३ प्रकार के जीवाणुओं से तीव्र स्वरूप का रोग उत्पन्न होता है। चौथे प्रकार के जीवाणु से उत्पन्न हुआ रोग अपेक्षाकृत सौम्य होता है। इस रोग का जीवाणु न्यूमोनिया से आक्रान्त व्यक्ति के थूक में सदा उपस्थित रहता है और इसका संक्रमण श्वासप्रश्वास द्वारा सन्निकट रहने वालों में हो सकता है। इसके सिवा ऊपर कह चुके हैं कि चौथे प्रकार का जीवाणु स्वस्थ मनुष्यों के नासा, मुख आदि में उपस्थित रहता है।

सहायक कारण—अधिक जन समूह, गन्दे मकान, जहा पर शुद्ध वायु का प्रबन्ध न हो वहा पर यह अधिक होता है। दुर्बल मनुष्यों, जिन्हें भर पेट भोजन न मिलता हो, शक्ति से अधिक परिश्रम करने वाले, जिनके पास शीत से रक्षा करने का साधन न हो, ऐसे लोगों में यह रोग अधिक होता है। वक्ष पर आघात तथा सर्दी लगना इसके प्रधान सहायक कारण हैं। शीतऋतु में विशेषतया जब वायुमण्डल में शीघ्र २ परिवर्तन होते हैं यह रोग अधिक होता है। यह रोग प्राथमिक (Primary-प्राइमरी) तथा कुछ रोगों के उपद्रव स्वरूप में (secondary सेकण्डरी) भी होता है। मधुमेह,

रोहिणी, प्लेग, इन्फ्लुयेन्जा, हृदय विकार, तीव्र वृक्कशोथ, आन्त्रिक ज्वर, चिरकालीन मदात्यय इन रोगों के उपद्रव स्वरूप निमोनिया हो सकता है।

संक्रमण का प्रकारः—निमोनिया के रोगी के खासी, छींक आदि से जीवाणु बाहर निकलते हैं और इसी वायुमण्डल में श्वास-प्रश्वास करने वाले निकटस्थ व्यक्ति के मुख तथा नासा में जीवाणु प्रविष्ट होते हैं। वहा पर अनुकूल परिस्थिति होने पर रोग उत्पन्न कर देते हैं, अन्यथा वहीं पर अवसर की प्रतीक्षा करते हैं। यदि पुरुष का शरीर दुर्बल हो अथवा शीत लग जाये तो ये जीवाणु श्वास मार्ग से होकर फुफ्फुस में चले जाते हैं और वहा पर शोथ पैदा करते हैं। साथ ही कुछ जीवाणु रक्त में प्रविष्ट होकर जीवाणुमयता उत्पन्न करते हैं। प्रथम शोथ के स्थान पर रक्त की अधिकता होती है, इसके बाद फुफ्फुस का आयतन बढता है और रुग्णस्थान अधिक घन हो जाता है। इस अवस्था में यदि फुफ्फुस को पानी में छोडा जाय तो वह डूबता है। इसके बाद फुफ्फुस का आकार बढा ही रहता है पर उसकी घनता में कुछ मृदुता आती है। तदनन्तर फुफ्फुस में ये परिवर्तन होते हैं—

१ उपशमन—(Resolution) इसमें फुफ्फुस का शोथ शनैः २ नष्ट हो कर फुफ्फुस स्वस्थ हो जाता है।

२ फुफ्फुस-विद्रधि-फुफ्फुसकोथ—तथा **पूयस्रवन**—मद्यप, दुर्बल तथा असाध्य रोगियों में यह परिवर्तन होता है।

३ चिरकालीन निमोनिया—(Chronic pneumonia) रोग बहुत समय तक जारी रहता है। फुफ्फुस में तान्तव धातु उत्पन्न होता है।

४ जीवाणुमयताः—रोग की साधारण अवस्था में रक्त के पूर्व दिन तक जीवाणु मिलते हैं। इसके बाद कम होते जाते हैं और अन्त में रक्त में नहीं पाये जाते किन्तु तीव्र रोग में रक्त में उनकी संख्या बहुत अधिक हो जाती है। इस प्रकार जीवाणु फुफ्फुस में पहुंच कर उपर्युक्त विकारों को करते हुए निम्न लक्षण उत्पन्न करता है।

लक्षणः—शीत लगने पर एकाएक रोग का आक्रमण होने ही रोगी को अत्यधिक शीत मालूम होता है। इसके बाद १०-१२ घण्टे के भीतर रोगी को ज्वर १०४ डिग्री तक बढ जाता है, बेचैनी, शिर में दर्द, अग्निमान्द्य, पसलियों में पीडा ये लक्षण होते हैं। शुष्क कास होना है। ज्वर सन्तत स्वरूप का होता है ८ दिन तक तापक्रम में १ डिग्री से अधिक कमीवेश नहीं होता है। ओष्ठ पर फुन्सियां (Herpes) निकलती हैं। सांस तथा नाडी की गति तेज होती है किन्तु नाडी की अपेक्षा श्वास की गति अधिक बढती है। अत. श्वास और नाडी के अनुपात में फरक पडता है। सामान्यतया श्वास और नाडी का अनुपात १:४ (साधारण मनुष्य की नाडी प्रति मिनट ७२ वार और सास १८ वार चलता है इस प्रकार दोनों में १:.४ का अनुपात) रहता है। निमोनिया में यह अनुपात १::३—वा १::२ हो जाता है। सांस लेने में कठिनता होती है। खासी के समय पार्श्व में तीव्र पीडा होती है। जिसके कारण रोगी खासी को रोकना चाहता है। कफ कई वार खांसने पर थोडा सा निकलता है तथा मण्डूरवर्ण (कालापन लिये लाल rusty) होता है, यह अत्यन्त चिपकने वाला (sticky) होता है। इसकी परीक्षा यदि सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से की जाय तो इसमें न्यूमोकोकस रक्तकण (R B C.)श्वेतकण (W. B C.) तथा श्वासनलियों की झिल्ली के सूक्ष्म अंश मिलेंगे। रक्त की परीक्षा करने पर श्वेत कण संख्या १२ से ४० हजार तक बढ़ती है। ज्वर प्रायः ७ वें, ९ वें वा अन्य विषम दिन में एकाएक उतर जाता है। प्रायः ज्वर ९ वें दिन उतरता है। यदि १२ दिन के बाद ज्वर उतरता है तो प्रायः शनैः २ उतरता है। यह उपद्रवों के कारण तथा रोगी के दौर्बल्य के कारण होता है। ज्वर उतरने के साथ ही फुफ्फुस की विकृति एकाएक नहीं दूर होती किन्तु और सभी लक्षण शीघ्रता से हो जाते हैं।

परीक्षा—वक्ष पर हाथ रखने से विकृत पार्श्व का विस्फार प्रतीत होता है। वाचक लहरें(Vocal fremitus)भी विकृत पार्श्व में अधिक प्रतीत होती हैं। फुफ्फुसावरण की रगड का अनुभव होता है। अङ्गुलिताडन से विकृत पार्श्व पर डिमडिम ध्वनि (Tympanitic nole) प्राथमिक अवस्था में मिलती है। २-३ दिन बाद से (दुसरी तथा तीसरी अवस्था में मन्द (Dull) ध्वनि तथा उपशम की अवस्था (Qesolution stage) में फिर डिमडिम ध्वनि सुनाई देती है। **वक्ष-परीक्षण यन्त्र** (Stethoscope) से प्रारम्भिक अवस्था में फुफ्फुसावरण का घर्षण

सुनाई देता है। तथा सूक्ष्म बुद्बुद ध्वनि (Crepitant rales) भी सुनाई देती है। दूसरी अवस्था में रगड प्रायः नहीं सुनाई देती। वाचिक प्रतिध्वनि (Vocal resonano) अधिक स्पष्ट, बुद्बुद ध्वनि नहीं सुन पडती है। तृतीय अवस्था मे वाचिक प्रतिध्वनि कम स्पष्ट होती है। सांस पहले की भांति (ठीक) होता है बुद्बुद ध्वनि (Crepitant rales) फिर सुनाई देने लगती है।

बालकों में २ साल तक (Broncho pneumonia ब्राको न्युमोनिया) होता है। इसमे विकृति फुफ्फुस के ऊपरी भाग (एपेक्स apex) में होती है। श्लेष्मा कम निकलता है। और जो कुछ निकलता है शिशु उस को निगल जाता है। आक्षेप, शिर में पीडा, निद्रानाश, कम्प तथा मन्यास्तम्भ होता है और शिर पीछे की ओर झुक जाता है। इसके ये उपद्रव उत्पन्न होते हैं—मध्य कर्ण शोथ, उरःपूय (फुफ्फुसावरण मे पूय बनना तथा एकत्र होना) तथा अतीसार।

निमोनिया (Lobar pneumonia **लोबर न्युमोनिया**) से निम्नलिखित उपद्रव हो सकते हैं—

फुफ्फुसावरण शोथ, हृदयावरणशोथ, हृदन्त.शोथ, मस्तिष्क के आवरण मे शोथ होना (Meningitis मेनिंजाइटिस), फुफ्फुस में विद्रधि, कर्ण के मूल भाग में शोथ होना, कामला, आध्मान तथा उदर के आवरण (Peritonium) में शोथ होना (Peritonitis) और हृत्कार्यावरोध (Heart failur) निमोनिया की गणना कठिन कृच्छ्रसाध्य व्याधियों के अन्दर होती है। १४ से २० प्र. श. रोगी कालकवलित हो जाते हैं।

बाल, वृद्ध, मद्यप, मधुमेह से पीडित, वृक्कविकार तथा दौर्बल्ययुक्त रोगियों में इसकी भयङ्करता अधिक होती है। यदि रोगी सबल हो, उपचार की सुव्यवस्था हो, रक्तगत श्वेत कणों की सख्या अधिक (सामान्यतया स्वस्थ व्यक्ति में रक्तगत श्वेत कणों की सख्या ७००० प्रति क्यूबिक मिलीमीटर में १०००० से १२००० होती है। निमोनियां में यदि इनकी संख्या १५००० से अधिक होना साध्यता का परिचायक है।)होना, नींद आना, उपद्रव न होना। यदि दोनों फुफ्फुसों में विकार उत्पन्न होवे, नीलिमा श्वेत कण की सख्या कम बढे या न बढे, शरीर का ताप क्रम अधिक होना, निद्रानाश, नाडी की क्षीणता तथा अनियमितता, श्वास तथा नाडी का अनुपात १: :२ होना (अर्थात् श्वास की अधिकता और नाडी का श्वास अनुपात से न बढना इस से नाडी तथा श्वास के अनुपात मे भेद उत्पन्न होता है), आध्मान, हृदय की शक्ति क्षीण होना, हृदय, मस्तिष्क तथा फुफ्फुस के आवरण में शोथ होना, इनसे रोग की असाध्यता सूचित होती है।

रोग सामान्यतया सातवें दिन उतर जाता है। १४ वें दिन तक फुफ्फुस के भीतरी विकार नष्ट हो जाते हैं। ज्वर शनैः शनैः उतरता है। यदि रोग असाध्य हुआ तो चौथे से दसवें दिन के भीतर मृत्यु हो जाती है। मृत्यु हृदय का कार्य बन्द होने से होती है।

चिकित्सा—यह एक प्रकार का मियादी बुखार है। नाडी तथा हृदय को शक्ति देने वाली चिकित्सा करनी चाहिये। इस रोग मे विकार यद्यपि फुफ्फुस में होता है तथापि मृत्यु हृदय का कार्य बन्द होने से होती है। अत एव नाडी तथा हृदय की शक्ति की रक्षा करनी चाहिये। यह रोग औषधि की अपेक्षा उत्तम शुश्रूषा अधिक चाहता है।

साधारण उपचार—स्वच्छ स्थान में जहा शुद्ध वायु का सुप्रबन्ध हो रहना चाहिये। मल-मूत्र त्याग के लिये भी शय्या से न उठना चाहिये। इसमे दूध देना चाहिये। दूध मे ओवलटीन मिलाकर देना अधिक उचित है। दूध न पचने पर (malted milk) कोष्ठबद्धता होने पर वस्ति देनी चाहिये। सन्तरा तथा अनार का रस देना चाहिये।

विशेष उपचार—फेल्टन का सीरम (Feltons serum) शिरा द्वारा ५ से १० सी. सी. की मात्रा मे देना चाहिये। इसका प्रयोग रोग के प्रारम्भिक तीन दिनों में करने से लाभ होता है। इस के बाद चौथे दिन से चिकित्सा प्रारम्भ करने से लाभ नहीं होता। रोग के प्रारम्भ मे ही विकृत पार्श्व के फुफ्फुसावरण मे ४०० से ६०० सी सी वायु प्रविष्ट करने से रोग की तीव्रता कम होती है। २४ घण्टे बाद इस विधि को दुहराना चाहिये। आवश्यकता होने पर इसे तीसरे बार भी प्रविष्ट कर सकते हैं। इसके साथ ही लक्षणों की भी चिकित्सा करनी चाहिये। पार्श्ववेदना अधिक होने पर $\frac{1}{4}$ ग्रेन मार्फिया और $\frac{1}{100}$ ग्रेन एट्रोपिन का इन्जेक्शन देना चाहिये। तथा पीडा के स्थान पर बेला डोना, ऐन्टी फ्लाजिस्टीन का प्लास्टर वा तीसी का उपनाह या सेक देना चाहिये। मार्फिया

प्रारम्भ के ३ दिनों में टी देना चाहिये। निद्रानाश के लिये पोटेशियम ब्रोमाइड ३० ग्रेन या ब्रान्नोपोन ⅓ ग्रेन अथवा डोवर पाउडर १० ग्रेन का प्रयोग करना चाहिये। श्वास-कृच्छ्र तथा नीलिमा अधिक होने पर प्राण वायु सुँघाना चाहिये। हृदय पर विशेष ध्यान रखना चाहिये। ज्वर मोक्ष के समय तो अवश्य सावधान रहना चाहिये। इसके लिये कुचला सत्त्व (स्ट्रिकनीन),कर्पूर डिजिटेलिस, एड्रिनेलीन आदि ओषधियों का उपयोग करना चाहिये। रोग निर्मुक्त होने पर भी शनैः २ आहार बढाना चाहिये, (संसर्जन क्रम) तथा दैनिक कार्य भी शनैः २ प्रारम्भ करें। नींद, आराम तथा पौष्टिक आहार जो कि सुपाच्य भी हो उनका विशेष प्रबन्ध करना चाहिये। लौह भस्म का, लोह के अन्य योग (सीरप फेराई आयोडाइड), कुचला सत्त्व, मछली के यकृत् का तेल, मक्खन आदि का पूर्ण प्रबन्ध रखना चाहिये तथा शीत से शरीर को बचाना चाहिये।

मन्थरक ज्वरः—

पर्यायनाम—आन्त्रिक ज्वर, एण्टरिक फीवर (Interic fever), मोतीझरा, टाय फायड फीवर (Typhoid fever)।

कारण—इनका कारण **वैसिलस टाय फोसस** (B. Typhosus) नाम का दण्डाकार जीवाणु है, यह चञ्चल तथा तन्तुविच्छ युक्त होता है।

रोग की व्याख्या—वैसिलस टाय फोसस से होने वाला एक मर्यादित स्वरूप का ज्वर है जो कि सतत स्वरूप का होता है। इसमें उदर में पीडा, पतले दस्त, त्वचा पर गुलाबी विस्फोट, (विस्फोट आकार में बहुत छोटे होते हैं। परिवर्धक लैन्स से स्पष्टतया देखे जाते हैं।) प्लीहा वृद्धि, ये लक्षण उत्पन्न होते हैं।

उपरोक्त जीवाणु आन्त्रिक ज्वर से पीडित रोगियों के रक्त, मल, मूत्र, पित्ताशय तथा अन्त्रियों में पाये जाते हैं। यह रोग सारे संसार में तथा सभी महीनों में होता है पर उष्ण देशों तथा उष्ण और वर्षा ऋतु में अधिक होता है। प्रायः युवा व्यक्ति ही इससे पीडित होते हैं। स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में तथा शक्ति से अधिक शारीरिक परिश्रम करने वाले पुरुषों में अधिक दिखाई देता है। एक बार आक्रमण होने के बाद शरीर में एक ऐसी शक्ति उत्पन्न होती है, जिसके कारण रोग का पुनराक्रमण नहीं होता है।

संक्रमणः—रुग्ण के मल-मूत्र दूषित जल, उस से प्रस्तुत बर्फ या शर्बत आदि पेय, साग, दूध के सेवन से दूषित जल में उत्पन्न होने वाली मछली के सेवन से रोग उत्पन्न होता है। उपर्युक्त वस्तुओं (खाद्य तथा पेय पदार्थों) में दृष्टि, जीवाणुयुक्त मल-मूत्रादि का प्रत्यक्ष सम्पर्क होने से अथवा मल-मूत्रादि से, जीवाणुओं के हवा में या धूल में मिल कर जलाशय अथवा अन्य खाद्य, पेय के सम्पर्क में आने से अथवा मक्षिका द्वारा होती है। मक्षिका जीवाणुयुक्त मल पर बैठ कर फिर खाद्य पदार्थ पर बैठती हैं। उनके पैरों पर तथा शुण्डा में जीवाणु लगे रहते हैं जो कि खाद्य वस्तुओं को दूषित करते हैं।

सम्प्राप्ति—जीवाणु जब मुख से होकर महाकोष्ठ में प्रविष्ट होते हैं तथा आमाशय के अम्ल से बच कर जब वे क्षुद्र अन्त्र में पहुंचते हैं तब वहां पर इनकी वृद्धि होनी प्रारम्भ होती है। वहां से अन्त्रगत लसीकापिण्डों में प्रवेश करते हैं। वहां से लसिकावाहिनियों द्वारा **आन्त्र कला-मेजेन्ट्री** (Mesentery) में और वहां से रक्त में, रक्त से प्लीहा, मज्जा आदि स्थानों में फैलते हैं। क्षुद्र तथा स्थूलान्त्र की श्लेष्मल कला— इस रोग के कारण लाल हो जाती है। सबसे अधिक विकृति-क्षुद्र अन्त्र के निचले तृतीयांश भाग (**इलियम्** Ileum) के अन्तिम भाग में होती है। विकृति क्षुद्र तथा स्थूलान्त्र के सङ्गम स्थान पर स्थित **पेयर** की ग्रन्थियों से प्रारम्भ होती है। इस के पश्चात् ऊपर की ओर फैलती है। जहां से स्थूलान्त्र शुरू होता है वहां की (Lymphoid follicles of the Coecum) लसीका ग्रन्थियां भी विकृत होती हैं।

अन्त्र की लसीका धातु में प्रथम रक्ताधिक्य और तन्तुओं के जमा होने (सेल इनफिल्ट्रेशन Cell infiltration) के कारण पेयर की ग्रन्थियों में शोथ हो जाता है। इस परिवर्तन के लिये प्रायः एक सप्ताह लग जाता है। इसके बाद वहां पर सडन होती है। यह कोथ अन्त्र की लसीका धातु तथा अन्त्र के मांस धातु के आवरण (muscular coat) तक सीमित रहती है, कभी २ जब यह सडन उदरकला द्वारा निर्मित आवरण (Peritoneum पेरिटोनियम) तक भी पहुंच जाते हैं

तब उदरकला-शोथ (Peritonitis पेरिटोनाइटिस) उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है। इसके अनन्तर कला का सडा हुआ भाग पृथक् होने लगता है, जिस के फल स्वरूप आन्त्र मे व्रण बनना प्रारम्भ होता है। इनसे रक्तस्राव होता है। व्रण जब अधिक गहरे होते हैं जो कि उदरकला तक पहुंचते हैं तब उनसे उदर कला शोथ होता है। ये व्रण पृष्ठ भाग की अपेक्षा गहराई की ओर अधिक फैलते हैं। यह अवस्था दूसरे सप्ताह के अन्त तक चलती है। तीसरे सप्ताह में व्रणों का सडा हुआ भाग गलता है। चौथे सप्ताह में व्रणों का रोपण होता है, रोहण धातु की रचना पूर्व धातु के समान होने के कारण अन्त्रियों की दशा पूर्ववत् हो जाती है। अन्त्रकला के भीतर सङ्कोच नहीं होता।

आन्त्रगत इस परिवर्तन के अतिरिक्त निम्न परिवर्तन भी होते हैं—

१ प्लीहा-वृद्धि, प्रथम सप्ताह में कडी तथा दूसरे सप्ताह मे मृदु होती है। यकृत् मे वृद्धि, पित्ताशय-शोथ, अन्त्र कला (Mesentery) की लसीका-ग्रन्थियों का शोथ, हृदय का दुर्बल तथा मृदु होना, श्वास नलिकाओं में भी शोथ तथा अधिक काल तक शय्या पर लेटे रहने के कारण फुफ्फुस के नीचे के हिस्से में रक्ताधिक्य (Hypostatic congestion) ये परिवर्तन भी इसमें होते हैं। रक्त की परीक्षा करने पर श्वेत कणों की सख्या कम होती है उसमे भी बहुकेन्द्रीय श्वेत कण ५० % होते हैं। **ईयोसिनो फिल** का अभाव **लिम्फोसाइट** ४० प्रतिशत मिलते हैं।

जीवाणु प्रथम सप्ताह में आन्त्र की लसीका-ग्रन्थियों में रहते हैं। वहां से रक्त मे जाते हैं। प्रथम सप्ताह में ही रक्त में जीवाणु मिलते हैं। रक्त से जीवाणु-प्लीहा, वृक्क तथा पक्वाशय में चले जाते हैं, मल में जीवाणु दूसरे सप्ताह के अन्त से मिलने लगते हैं।

रोग के लक्षण:—जीवाणु प्रविष्ट होने के १० से १४ दिन के भीतर रोग के लक्षण प्रारम्भ होते हैं।

पूर्वरूप—अरुचि, आलस्य, बेचैनी, शिरःशूल, नासिका से रक्तस्राव, ये पूर्वरूप रोग उत्पन्न होने के पहले उत्पन्न होते हैं।

रोग के लक्षण—प्रथम सप्ताह में ज्वर धीरे २ बढ़ता है। शाम को दो अंश ज्वर चढता है तथा प्रात काल १ अंश उतरता है। इस प्रकार ज्वर १०३-१०५ अंश तक चढता है। यदि किसी पत्र पर इस ज्वर का आलेख्य (चित्र) बनाया जावे तो वह एक सीढी की भांति मालूम होता है। नाडी ज्वर के अनुपात से नाडी की गति नहीं बढती, ताप * क्रम १०४ डिग्री होने पर भी नाडी की गति ९० प्रतिमिनट रहती है। श्वास † तथा नाडी के अनुपात में फर्क आता है।

पाचनसंस्थान—मे जिह्वा मटमैली, शुष्क तथा श्वेत रहती है। ओठ तथा मुख सूखता जाता है। दांत, ओष्ठ और मसूडे पर मैल जमा होती है। अग्निमान्द्य, आध्मान तथा आटोप (पेट फूलना तथा गुड २ शब्द होना), मल पतला, कभी २ विबन्ध युक्त।

त्वचा—शुष्क तथा उष्ण, त्वचा पर गुलाबी रङ्ग के छोटे (२ ३ मिलीमीटर व्यासवाले) विस्फोट उत्पन्न होते हैं। ७ वें से १२ दिन तक निकलना प्रारम्भ करते हैं। उदर तथा छाती पर ये अधिकतर दिखाई देते हैं। पार्श्व तथा हाथ के पृष्ठों पर भी दिखाई पड सकते हैं। दूसरे सप्ताह के प्रारम्भ तथा तीसरे के अन्त तक ये विस्फोट निकलते तथा मिटते रहते हैं।

मुखाकृति—प्रथम सप्ताह मे रुग्ण, चेष्टारहित, उदासीन दिखाई पडता है। नेत्र-चमकीले तथा पुतलियां फैली रहती हैं। मुख-उतरा हुआ रहता है, कपोल-रक्त वर्ण के, ओष्ठ-कृष्ण वर्ण तथा शुष्क रहते हैं। मुख-कुछ खुला रहता है।

---

* **वक्तव्य**— साधारणतया एक युवा का तापक्रम ९८°४ तथा नाडी की गति ७० वार प्रति मिनट रहती है। और शरीर के तापक्रम में प्रत्येक डिगरी वृद्धि होने के साथ ही साथ नाडी की गति ८ या १० वार प्रति मिनट बढती है, मन्थरक ज्वर में यह वृद्धि उचित नहीं होती। इसी लिये तापक्रम को देखते हुये नाडी की गति कम रहती है।

† नाडी तथा श्वास में १: :४ का अनुपात रहता है, यथा-एक युवा पुरुष की नाडी प्रति मिनट ७२ वार चलती तथा श्वास-प्रश्वास १८ वार प्रति मिनट होता है। अतएव इनका परस्पर अनुपात १: ४ होता है। किन्तु मन्थरक ज्वर में नाडी की गति ९० तथा श्वास की गति ३० प्रति मिनट रहती है अर्थात् नाडी तथा श्वास का अनुपात १: :४ न होकर १: :३ हो जाता है।

इन लक्षणों के अतिरिक्त कुछ खांसी, तथा शिरःशूल होना है।

द्वितीय सप्ताह में—ज्वर उच्चतम सीमा तक चढ कर स्थिर हो जाता है। नाडी की गति बढती है। आलस्य तथा दौर्बल्य बढते हैं। शिरःशूल कम हो जाता है। उदर में आध्मान तथा अतीसार, मल में पेयर की ग्रन्थियों के सडे गले टुकडे तथा अन्न की श्लेष्मल कला के टुकडे, अपक्व अन्न, रक्त-कण, कभी-कभी रक्त तथा फास्फेट के कण पाये जाते हैं। मल में जीवाणु भी मिलते हैं। प्लीहावृद्धि, कृशता, निद्रानाश, हृदय में धटकन ये लक्षण उत्पन्न होते हैं। साधारण रोग में रोग की दशा में यहीं से सुधार प्रतीत होता है, तीव्र प्रकार में जीवाणुजन्य विष की अधिकता, हृत्कार्यावरोध, आन्त्र-विदार अथवा आन्त्र से अधिक रक्त प्रवाह के कारण रोगी की मृत्यु होती है।

तृतीय सप्ताह में—ज्वर शनैः २ उतरने लगता है, रोगी की दुर्बलता एव शक्तिहीनता बढती है पर रोगी की दशा शनैः २ सुधरने लगती है। तीव्र प्रकार में प्रलाप, तन्द्रा, कम्प, मल-मूत्र का अनैच्छिक उत्सर्ग तथा मूत्रावरोध उत्पन्न होता है। पाचन संस्थान के लक्षण—जिह्वा तथा ओष्ठ का सूखना, ओष्ठ पर पपडी पडना, आध्मान, अधिक अन्त्रियों के व्रणों से रक्तस्राव तथा आन्त्रच्छेद उत्पन्न होते हैं। फुफ्फुस के निचले भाग में रक्त की अधिकता होती है।

चौथे सप्ताह में—सभी लक्षण मन्द हो जाते हैं, ज्वर उतर जाता है, शरीर का तापक्रम स्वाभाविक से भी कम (Sub narmol सब नार्मल) रहता है, नाडी भी बहुत मन्द चलती है। धीरे २ रोगी अपने पूर्व के स्वास्थ्य को प्राप्त करता है। इसके तीव्र प्रकार में रोग एकाएक बढता है। शीत तथा कम्प के साथ ज्वर शीघ्रता से उच्चतम अंश तक बढता है। तन्द्रा, प्रलाप, आन्त्र-भेद आदि उपद्रवों से रोगी दूसरे ही सप्ताह में मर जाता है। यदा कदा रोग का एक विशेष प्रकार भी दिखाई पडता है। इसमें मन्थरक ज्वर के सामान्य लक्षणों के साथ शरीर के किसी अंग में विकृति उपस्थित रहती है। इस दशा में इसको अङ्ग के नाम से मिलाकर पुकारते हैं यथा-वृक्क में विकार होने पर **नेफ्रो टायफायड** (Nephro typhoid) फुफ्फुस में विकृति होने पर **न्यूमो टायफायड** (Nueumo typhoid), मस्तिष्क में विकार (मस्तिष्क-प्रकोप) होने पर **मेनिंगो टायफायड** (Meningo typhoid) नाम दिये जाते हैं।

शिशुओं में मन्थरक ज्वर—

यदि शिशु में रोग उत्पन्न हो तो ४०% अकस्मात् उत्पन्न होता है। ज्वर अर्द्धविसर्गी अथवा विसर्गी (स्वाभाविक अंश तक उतरने वाला), तन्द्रा, प्रलाप आदि कम होते हैं। आन्त्र-भेद कम होता है। रोग की अवधि भी अल्प होती है। रक्तस्राव भी अधिक नहीं होता किन्तु विस्फोट, प्लीहावृद्धि, दौर्बल्य, कास, मूकता, मुखपाक, अस्थियों में विकृति ये लक्षण अधिक होते हैं। रोग के कई बार पुनरावर्तन होते हैं।

उपद्रव—

१ **रक्तस्राव**—दूसरे सप्ताह के अन्त से चौथे सप्ताह के पूर्व तक उत्पन्न होता है। यह बहुत कम (५-७ प्रतिशत रोगियों में) होता है।

कभी २ अधिक रक्त निकल जाने पर हृदयावसाद के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

२ **आन्त्रभेद**—उदर के दाहिनी ओर आन्त्रभेद होता है। पीडा अत्यधिक होती है। अवसाद के लक्षण उत्पन्न होते हैं।

३ अतीसार, आध्मान, आटोप, कर्णमूलग्रन्थि-शोथ, पित्ताशय तथा पित्तवाहिनी शोथ, शरीर का ताप अत्यन्त अधिक होना, शय्या पर अधिक काल तक लेटने के कारण पीठ, नितम्ब आदि पर व्रण बनना, मूत्र के साथ जीवाणु अधिक निकलना, आन्त्रपरिशिष्ट शोथ (Apandicitis **एपेन्डि साइ-टिस**), न्यूमोनिया, मूत्र के साथ रक्त निकलना ये उपद्रव उत्पन्न होते हैं। गर्भवती स्त्रियों में गर्भपात हो सकता है।

इसके उपद्रव में निम्न रोग उत्पन्न होते हैं—

(१) स्मृतिनाश, (२) सन्धिशोथ, (३) अस्थ्यावरणशोथ, (४) कशेरुकों में शोथ होना, (५) पित्ताश्मरी (Renal calculus रीनल कैल्कुलस)।

इसके अतिरिक्त मूकता उत्पन्न होती है जो बालकों में अधिक दिखाई पडती है। बाधिर्य भी उत्पन्न होता है जो कि धीरे २ स्वयं दूर हो जाता है।

रोग का निदान—शनैः २ ज्वर का चढना, ज्वर का (मर्यादा के भीतर) साधारण अंश तक न उतरना, शिर शूल, नाडी में तीव्रता न होने पर भी रोगी की दशा अवधि को देखते हुये गम्भीर होना, विस्फोट, प्लीहावृद्धि, अतिसार, आध्मान के लक्षण रोगनिश्चिति मे सहायक होते हैं।

यदि रसायनशाला (Loboratory) पास में हो तो मल–मूत्र की परीक्षा जीवाणु के लिये करानी चाहिये। इसके अतिरिक्त रोगी का ५ C C. रक्त निकाल कर रसायन शाला में **विडाल परीक्षा** (Bidal reattion (के लिये भेजना चाहिये।

इस रोग में **मूत्र में** (Diazo reaction) **डाइजो रियेक्शन)** मिलता है।

रक्त में श्वेतकण की संख्या कम मिलती है।

उपर्युक्त परीक्षायें रसायन–शाला मे ही हो सकती हैं।

मारिस की एट्रोपीन परीक्षा—(Atropine test) **एट्रोपीन टेस्ट)**

विधिः-भोजनोत्तर १ घंटा विश्राम करने के उपरान्त, रोगी की नाडी की गति १० मिनट तक प्रति मिनट देखना चाहिये। इसके बाद $\frac{१}{१००}$ ग्रेन एट्रोपीन की ३ गोलियां मुख द्वारा वा $\frac{१}{३३}$ ग्रेन एट्रोपीन त्वचा द्वारा प्रविष्ट (Injetction) करके २५ मिनट बाद नाडी की प्रति मिनट गति देखिये। यदि उसमें प्रति मिनट दस वा उससे भी कुछ कम वृद्धि हो तो **आन्त्रिक ज्वर** से रुग्ण समझना चाहिये।

सापेक्ष रोगनिदान—मस्तिष्कसुषुम्नाज्वर, घातकविषमज्वर, न्यूमोनिया, इन्फ्लुयेंजा, कालाजार, टायफस ज्वर, माल्टाज्वर, तीव्र राजयक्ष्मा, पूयजनित ज्वर, उपान्त्रिक ज्वर, केंचुये का संक्रमण इनसे इस रोग को पृथक् करना चाहिये।

साध्यासाध्यता—बच्चों में १५ वर्ष तक (प्रथम वर्ष को छोड कर) रोग सुसाध्य होता है। १५—७५ की आयु तक साध्य। इसके बाद तथा प्रथम वर्ष में कष्टसाध्य होता है। मद्यप, गर्भिणी, स्थूल हृदय तथा वृक्क विकार–युक्त रोगियों मे यह रोग कृच्छ्रसाध्य स्वरूप का होता है। इसके अतिरिक्त यदि रोग के प्रारम्भ से ही विषाक्तावस्था, प्रलाप, कम्प, तन्द्रा, तापक्रम अत्यधिक होना, नाडी की गति अनियमित तथा शीघ्र, हृदय–दौर्बल्य तथा अन्त्रभेद, अन्त्र से रक्त प्रवाह, आध्मान, पतले दस्त, मस्तिष्कावरण शोथ, न्यूमोनिया ये उपद्रव तीव्र हों तो रोग असाध्य होता है। रक्तपरीक्षा द्वारा यदि श्वेत कणों की संख्या अत्यन्त न्यून हो और यदि दूसरे सप्ताह में भी रक्त में जीवाणु पाये जांय तो रोग असाध्य होता है।

चिकित्सा—इस रोग की कोई खास चिकित्सा नहीं है। स्वच्छता पर ध्यान रखना चाहिये। रोगी के रहने के कमरे में प्रकाश तथा हवा का उचित प्रबन्ध हो। रोगी को पूर्ण विश्राम की आवश्यकता **है**। तथा मुख को **हाईड्रोजन पैराक्साइड या उदुम्बरसार विलयन** (उदुम्बरसार को द्रव करके) से प्रक्षालन करना चाहिये।

पीठ तथा कटि आदि अंग (जो शय्या से निरन्तर घर्षण करते रहते हैं।) को उष्ण जल से पोंछ कर **स्पिरिट** लगाकर **जव का आटा** अथवा **डस्टिंग पाउडर** छिडक देना चाहिये। आहार–लघु तथा द्रवप्राय देवें। **पिष्टमयपदार्थ** (Starch) अधिक, प्रोटीन मध्यम तथा **स्निग्ध पदार्थ** (Fat) अत्यन्त कम हो। बार्ली वाटर, सोडावाटर, लेमोनेड, मट्ठा, लसी, ग्लूकोज, अल्बूमिन वाटर, अनार, सन्तरा आदिक फलों का रस देवें। दूध मे **सायट्रेट**, मिला कर वा हार्लिक का दूध देना चाहिये। साबूदाना, अरारोट आदि भी रुचि के अनुसार देवें। पीने के लिये यथावश्यक जल देना चाहिये। दिन भर में ३ सेर तक दूध दिया जा सकता है।

ओषधि चिकित्सा—इस रोग में **सौभाग्यवटी** आधी रत्ती प्रातः साय देने से अधिकलाभ होता है।

पाश्चात्य चिकित्सा प्रणाली के अनुसार निम्न ओषधियां बारी २ से देते है—

(१)	पोटास एसिटेट,	ग्रेन २०	लाइकर अमोनिया एसिटेटिस	ड्राम २
	दालचीनी का तेल	बूंद ३	स्पिरिट क्लोरोफार्म	बूंद १५
	बेन्जोथायमोलिन	बूंद २०	पानी	१ औंस

इनको प्रत्येक ३–३ घंटे पर देना चाहिये।

(२)	हेग्जामिन	ग्रेन १०	सोडा बेन्जोयेट	ग्रेन १०

इसे भी दिन में तीन बार देना चाहिए। ऊपर की औषधि २–३ दिन देकर फिर नीचे की तथा इसको देने के बाद फिर ऊपर की औषधि देनी चाहिये। वास्तव में टायफाइड की कोई खास (Spacific स्पेसिफिक) * औषधि नहीं है। स्वच्छता तथा उपद्रवों से बचाने का यत्न करना चाहिये। उपद्रवों के उत्पन्न होने पर उनकी चिकित्सा करनी चाहिये। अतीसार में **विस्मथ सैलिसिलास या कार्ब १५ ग्रेन** दिन भर में ३ बार देवें। और दूध न देकर अलव्यूमिन वाटर वा १ पाइन्ट दूध में २ ड्राम फिटकरी मिला कर दही बनाकर देना चाहिये।

मलावरोध में विरेचन न देकर साबुन तथा पानी की वस्ति प्रति दूसरे या तीसरे दिन देनी चाहिये। **आध्मान** के लिये पानी में †**तारपीन** मिलाकर सेंक करना (Terpentine stupes) अथवा निम्न वस्ति (एनिमा) देना चाहिये।

तारपीन का तेल १ ड्राम, ओलिव तेल १ औंस, साबुन युक्त पानी १ पाइन्ट

अन्त्रभेद—की शल्यकर्म ही एक मात्र चिकित्सा है।

रक्तस्राव, आराम करना, बर्फ चूसना, **कैल्सियम लैक्टेट** १० ग्रेन दिन भर में तीन बार देवें।

निद्रानाश—में **ल्यूमिनाल** $\frac{1}{2}$ ग्रेन से २ ग्रेन, रात में सोते समय।

अथवा **पोटैशियम** तथा **सोडियम के ब्रोमाइड** १५ से ३७ ग्रेन की मात्रा में दिन में ३ बार देवें।

हृदय दौर्बल्य के लिये-स्ट्रिक्नीन की $\frac{1}{60}$–$\frac{1}{30}$ ग्रेन की मात्रा में सुई देना, अथवा **कस्तूरी** ३ ग्रेन की मात्रा में देना, अथवा **ऐड्रिनेलिन** (१–१०००) ५–१५ बूंद जिह्वा के नीचे देना।

शरीर का ताप अत्यन्त अधिक होने पर—सर पर बर्फ की थैली रखना, शरीर को शीतल जल से पोछना चाहिये।

इति मन्थरकज्वरवर्णनम्।

अथ सन्धिकज्वरवर्णनम्—

व्याख्या—इस रोग में ज्वर, सन्धिशोथ तथा हृदय का अन्तस्तर खराब होता है।

कारण—इसके विषय में ३ मत हैं।

१ **स्ट्रेप्टोकोकस विरिडस** नामका जीवाणु इस रोगको उत्पन्न करता है, ऐसी कुछ शास्त्रज्ञों की सम्मति है।

२ निस्यन्दन शील जीवाणुओं को कुछ शास्त्रज्ञ इस रोग का कारण मानते हैं।

३ कुछ लोग **एलर्जी** (Allergy किसी खास पदार्थ की असह्यता) जन्य मानते हैं। इनमें प्रथम मत अधिक महत्त्व का है।

सहायक-कारण—बच्चों में तथा युवावस्था में ३० साल के पूर्व होता है। ४० साल बाद प्रारंभ नहीं होता। स्त्रियों में पुरुषों की अपेक्षा अधिक होता है। शीत तथा समशीतोष्ण स्थानों में होता है, ठंड लगना, पानी में भीगना, पसीने से तर शरीर से शीतल वायु का सम्पर्क होना, यकृत् का विकार, नासा, गला, टान्सिल आदि की खराबी तथा कुलज-प्रवृत्ति इस रोग के उत्पादन में विशेष भाग लेते हैं। यह रोग उष्ण प्रदेश में होने के कारण भारतवर्ष में बहुत कम होता है।

सम्प्राप्ति-स्ट्रप्टोकोकस के संक्रमण के कारण शरीर की प्रतीकार शक्ति घटती है। और सन्धिक ज्वर के जीवाणु प्रविष्ट हो रोग उत्पन्न करते हैं। इस रोग में त्वचा में तथा सन्धियों की श्लेष्मलत्वचा में और हृत्पेशी आदि में छोटी २ गाठें (Aschoffs nodes **एस्चाफ्स नॉड्स**) उत्पन्न होती हैं। इनमें बहुकेन्द्रीय तथा एककेन्द्रीय कण जमा होते हैं अन्त में वहां पर तान्तव धातु बनती है। **सन्धि** तथा **हृदय** इस रोग में विशेषतया विकृत होते हैं। सन्धियों में रक्ताधिक्य, श्लेष्मलकला स्नायुवों में शोथ और कला के ऊपर लसीका की पतली तह जमती है। सन्धियों में स्थित जल (जो कि स्वच्छ तथा पारदर्शक रहता है) में मटमैलापन उत्पन्न होता है। उसमें श्वेतकण तथा फायब्रिन मिलते हैं। हृदय इस विकार में बहुत विकृत होता है, हृदय के बाह्यावरण, अन्तरावरण तथा हृदय की मांसपेशी तीनों में विकार उत्पन्न होते हैं। अन्तरावरण में तथा इसमें भी विशेष कर हृदय के कपाटों के द्वार पर अंकुर उत्पन्न होते हैं। इसके पश्चात् वहां पर तान्तव धातु बनती है। तान्तव धातु बनने के कारण कपाटों के किनारे आपस में मिल नहीं पाते। कपाट संकुचित या विस्तृत हो जाते हैं।

---

* "No drug has any spacific action on the disease Savill

† २ पाइन्ट जल में १०० बून्द तारपीन का तेल मिला कर सेंकना चाहिये।

रोग के लक्षण—रोग के आक्रमण के पहले गले के टांसिल (कण्ठशालूक-ग्रन्थि) सूजे रहते हैं अथवा गले में लाली रहती है। शीत के साथ एकाएक ज्वर प्रारम्भ होता है। साथ ही सन्धियों में तीव्र पीडा होती है। ज्वर १०४ डिग्री तक रहता है, अरुचि, पिपासा, विबन्ध, नाडी की गति की शीघ्रता उत्पन्न होनी है, मूत्र गाढा तथा शरीर से स्वेद निकलता है। उससे खट्टी गन्ध निकलती है।

सन्धियों मे पीडा—प्रायः बडे सन्धियों में पीडा प्रारम्भ होती है। सभी जोडों में एक साथ विकार न होकर भ्रमणशील विकार होता है। एक जोड में पीडा २-३ दिन रहती है फिर उस सन्धि में पीड़ा कम होकर दूसरी सन्धि में पीडा होने लगती है। सन्धि को हिलाने ही से पीड़ा होती है। एक स्थिति में निश्चल पडा रहने से पीड़ा नहीं के बराबर होती है।

हृदय—इस ज्वर में विशेषतया विकृत होता है। हृदय के स्वाभाविक शब्दों में फरक उत्पन्न होता है। हृदय कुछ विस्तृत तथा रक्तभार कम होता है। श्वेतकण की सख्या बढती है। रक्तकणों का शीघ्रता से नाश होता है।

उपद्रव—हृदय में प्रधान विकार होता है। हृदय के विकार युवावस्था में उपद्रव तथा बाल्यावस्था में रूप कहे जाते हैं (बालकों में ज्वर होने पर उनमें सन्धिशोथादि न होकर हृदय के विकार ही अधिक होते हैं), तापक्रम अत्यधिक बढ़ना, कभी २ ज्वर १०९ से ११० डिग्री तक पहुँचता है। इस दशा में प्रलाप, बेहोशी, कम्प, आदि लक्षण भी हो सकते हैं।

ग्रन्थियां—इस ज्वर में त्वचा के नीचे, चलस्थानों में सन्धियों के पास, हड्डियों के उत्सेध पर दिखाई देती हैं। बालकों में यह गाठें अधिक दीखती हैं। इन गाठों को दबाने से पीडा नहीं होती। ये कुहनी, जानु, गुल्फ, गुद्दी के पीछे अधिक दिखाई पडती हैं। न्यूमोनियां, फुफ्फुसावरणशोथ, मस्तिष्कावरणशोथ, वृक्कशोथ ये उपद्रव भी पाये जाते हैं। कभी २ इस रोग का एक अत्यन्त तीव्र प्रकार देखा जाता है जिसमें सन्धिशोथ आदि कम तथा हृदय के विकार अधिक होते हैं। यह रोग घातक होता है।

रोगनिश्चिति—

(१) एकाएक शीत के साथ ज्वर का आक्रमण, सन्धियों में पीडा, खट्टी गन्ध का पसीना तथा आमवात का इतिहास ये सब रोग के निश्चायक लक्षण हैं।

(२) **उपशयात्मक-निदान—सोडासेलिसिलास** देने से रोग में लाभ होने से भी रोग का निदान होता है। इसको **वातरक्त** (यह ४० के बाद होता है सन्धियों में पीडा भ्रमणशील नहीं होती। आराम की स्थिति में भी पीडा होती रहती है), **तीव्रअस्थिमज्जाशोथ** (इसमें ऊर्वस्थि तथा अन्तर्जङ्घिका का निचला सिरा नहीं आक्रान्त होता।), **पूयमयता** (रोगी को सदा शीत मालूम होती है। भ्रमणशीलता नहीं होती), **औपसर्गिकमेह** (**पूयमेह**) **जन्य सन्धिशोथ** (इसमें पूयमेह का पूर्ववृत्त, मूत्रमार्ग से रक्तस्राव, सन्धि के साथ ही साथ पार्श्ववर्ती धातुओं में ही विकार होता है। ज्वरादि मृदु होते हैं, विकृति सन्धिया अल्प होती हैं) इन रोगों से पृथक् करना चाहिये।

रोग की अवधि तथा साध्यासाध्यता—चिकित्सा न करने पर रोग १½ मास में स्वय ठीक होता है। पर इसके कारण हृदय में कुछ न कुछ खराबी हो जाती है जिसके कारण इसके आवेग आया करते हैं। कभी २ अतीव तीव्र ज्वर, हृदयविकार और फुफ्फुसावरण में शोथ ये घातक उपद्रव होते हैं। योग्य चिकित्सा करने से पुनरावर्त्तन नहीं आते।

चिकित्सा—

रोगी को आराम मे रखना, सन्धि को निश्चल करना, भोजन के लिये दूध, बार्ली वाटर, मक्खन, हार्लिक का दूध देना चाहिये। चाय, काफी, कोको न देवें। मुख की स्वच्छता, कभी २ मृदु विरेचन, खराब टांसिल को निकलवाना चाहिये।

ओषधिचिकित्सा—

(१) **कैशोर गुग्गुल** अथवा **सिंहनाद-गुग्गुल** ४ रत्ती, रास्नादि क्वाथ से ६ बजे प्रात. सायम्।
(२) **हिङ्गुलेश्वर** दिन के ८ बजे तथा शाम के ५ बजे **मधु** से चाटना।
(३) सन्धियों पर **मदार का पत्ता** गरम करके लगाना।
(४) बीच २ में **हरीतकी चूर्ण** ६ माशे से विरेचन देना चाहिये।

पाश्चात्य-चिकित्सा-प्रणाली के अनुसार चिकित्सा—

दिन में **सोडा सैलिसिलास** २७ ग्रेन २–२ घंटे पर, रात में ४–४ घंटे पर देना चाहिये। इसको निम्न योग के रूप मे देना चाहिये—

सोडासैलिसिलास ग्रेन २० । सोडावाइकार्व ग्रेन ४० ।

दिन में प्रत्येक २–२ घंटे बाद रात में ४–४ घंटे पर रोग की तीव्रता होने पर (ज्वर उतरने तथा सन्धिशोथ आदि कम हो जाय तब) १२० ग्रेन दिन भर में औषधि देनी चाहिये। इसके पश्चात् भी ६० ग्रेन प्रतिदिन के हिसाब से औषधि एक सप्ताह तक देनी चाहिये।

जोड़ों को कुशा द्वारा स्थिर कर देना चाहिये। वेदना की अधिकता में **लिनिमेन्ट वेलाडोना** या **टिंचर ओपाई** को सन्धि पर रखकर ऊपर से रूई रखकर बाँध देना चाहिये।

रोग दूर होने पर भी रोगी को कुछ समय तक विश्राम करना अधिक आवश्यक है। बल्य तथा लघु और सुपाच्य भोजन करना चाहिये। **कुचला** या इसका सत्व, **फेरीढोल** अथवा **मुक्तापिष्टी ½** रत्ती, **गुडूचीसत्व** १ माशा सुबह शाम सेवन करना चाहिये। शीत तथा कब्ज से बचना चाहिये। मुख की स्वच्छता पर अधिक ध्यान देना चाहिये। गरम कपड़े पहनना चाहिये। जिन दिनों में मौसिम में शीघ्र परिवर्तन होते हैं यथा बरसात तथा वसन्त, इसमें विशेष सतर्क रहना चाहिये।

इति सन्धिकज्वरवर्णनम्।

अथ ग्रन्थिकज्वरवर्णनम्—

पर्यायनाम—अग्निरोहिणी, प्लेग, ताऊन।

व्याख्या—वैसिलस पेस्टिस से होने वाला एक तीव्र औपसर्गिक ज्वर है।

इस रोग का कारण-वैसिलस पैस्टिस नामका सूक्ष्म जीवाणु है। यह अण्डाकार होता है इसके दोनों सिरे अधिक रंजित होते हैं।

सङ्क्रमण—यह रोग वास्तव में **चूहों** का है, मरक दशा में पिस्सू नाम्नी मक्षिका चूहों के शरीर पर रहती है इसके शरीर में असंख्य जीवाणु रहते हैं। उसके काटने से यह ज्वर उत्पन्न होता है। जब चूहे मरने लगते हैं तब इस रोग का प्रारम्भ जाना जाता है। इस दशा में चूहे भी अपनी जान की ममता से उस स्थान को छोड़कर चल देते हैं। अतएव प्लेग के समय चूहे दिखाई भी कम देते हैं।

पिस्सू एक कृष्णवर्ण (काला), चपटा कीट होता है, शरीर पर पंख नहीं होते, फुदक कर चलता है। जमीन से ६ इञ्च से अधिक नहीं फुदक सकता। यह गन्दे, अन्धेरे तथा सीलयुक्त स्थानों में अधिक रहता है। दिन को पिस्सू जमीन की दरारों में छिप जाता है। जो पिस्सू इस रोग का अधिकतर संवहन करते हैं उनका नाम **ज़ेनोप्सिला शोपिस** (Xenopsylla Cheopis) है।

पिस्सू सदा चूहों के शरीर पर रहता तथा उन्हीं से अपना निर्वाह करता है। पर जब चूहे मर जाते और बाकी स्थान छोड़कर अन्यत्र चले जाते हैं तब पिस्सू अपनी प्राणयात्रा के लिये मनुष्य को दंश करता है। इस रोग का एक चूहे से दूसरे चूहे पर तथा चूहे से मनुष्य पर सङ्क्रमण इसी पिस्सू द्वारा होता है। इसका दूरवर्ती स्थानों में प्रसार केवल चूहे तथा पिस्सुओं द्वारा ही नहीं होता। मनुष्य जब रोगग्रस्त स्थान से अपने माल असबाब के साथ अन्य स्थान को जाता है तब उसके सामान के साथ पिस्सू भी चला जाता है और वहाँ के चूहों तथा मनुष्यों पर आक्रमण करके रोग का प्रसार करता है।

सम्प्राप्ति—पिस्सू के दंश द्वारा जीवाणु रोगी के चर्म में प्रविष्ट होते हैं अथवा पिस्सू दंश के स्थान पर जीवाणु युक्त मल त्याग करता है, जिसके कारण वहाँ पर खुजली होती है। इससे वहाँ पर क्षत बन जाता है और इस क्षत से जीवाणु मनुष्य-शरीर में प्रविष्ट होता है। दंश के स्थान के समीप रहने वाली लसीका ग्रन्थियों में शोथ उत्पन्न होता है। पैर पर ही पिस्सू प्रायः काटता है (क्योंकि ६ इंच से अधिक कूद नहीं पाता) अतः जंघा के ऊपरी भाग की लसीका ग्रन्थियाँ अधिक फूलती हैं। यदि मनुष्य लेटा रहे उस दशा में यदि पिस्सू ग्रीवा में अथवा हाथ में दंश करे तो ग्रीवा अथवा कक्ष की लसीका ग्रन्थियाँ विकृत होती हैं। इस प्रकार की ग्रन्थि-वृद्धि **प्राथमिक लसीका ग्रन्थिवृद्धि** (Primary bubo प्राइमरी ब्यूबो) कहलाता है। इसके बाद उन शोथ युक्त ग्रन्थियों सम्बन्धि लसीका ग्रन्थियाँ भी फूलती हैं, पर इनका शोथ पहली की अपेक्षा कम होता है। उनको **द्वितीय लसीका ग्रन्थि-वृद्धि** (*Secondary* bubo **सेकण्डरी ब्यूबो**) कहते हैं। ग्रन्थियों

के पास की धातु में भी शोथ, रक्तस्राव तथा तन्तुओं की वृद्धि (Cell infiltration सेल इनफिल्ट्रेशन) होती है। रक्त मार्ग से जीवाणुओं का प्रवेश होने पर सस्थानगत लसीकाग्रन्थिया फूलती हैं। उनको **तृतीयक लसीका-ग्रन्थि वृद्धि** (Tertiary bubo **टर्शियरी ब्यूबो**) कहा जाता है। प्रारम्भिक लसीका वृद्धि में लसीका ग्रन्थि में वृद्धि होने के ४–५ दिन बाद जीवाणुओं के विष के कारण सडन उत्पन्न होता है। ग्रन्थि मृदु हो जाती है और काटने पर उसमे पूय तथा ग्रन्थि के सडे गले भाग निकलते हैं। द्वितीयक लसीका वृद्धि में सडन नहीं होता न आस पास के धातुओं में शोथ ही, (जैसाकि प्राथमिक में होता है) पाया जाता है। जीवाणु के प्रारम्भ में ही रक्त द्वारा शरीर मे प्रवेश होने से, लसीका ग्रन्थियों मे वृद्धि न होकर, आमाशय, यकृत, प्लीहा, अन्त्र, हृदय, फुफ्फुस, वृक्क, **रसकृत कलायें** (Serus memberane) इनमें प्रवेश करके रक्तस्राव तथा शोथ उत्पन्न करते हैं। इसके कारण, यकृत तथा प्लीहा बढ़ती है। प्राको न्यूमोनिया तथा रक्तवाहिनियों में रक्त जमना ये विकार उत्पन्न होते हैं। जीवाणु रक्त में प्रविष्ट होने के बाद सबसे अधिक बढते हैं। मृत्यु के समय इनकी संख्या सबसे अधिक रहती है। श्वास मार्ग से फुफ्फुस में जब जीवाणु प्रविष्ट होते हैं तब दोनों फुफ्फुस विकृत होते हैं और इस समय प्राको न्यूमोनिया अथवा इन्फ्लुयेञ्जा (वातश्लैष्मिकज्वर) की भांति लक्षण उत्पन्न होते हैं।

रक्तपरीक्षा में—श्वेतकण २० हजार प्रति क्यूबिक मिलीमीटर में बढते हैं, लालकणों की सख्या ६० लाख तक बढती है। मृतजीवाणुओं से जो विष बनता है वह रक्त में परिभ्रमण करता हुआ रक्तवाहिनियों की अन्तःकला का नाश कर त्वचा, श्लैष्मिक त्वचा, रसयुक्त कला (सीरस मेम्ब्रेन) आदि में रक्तस्राव करता है तथा यकृत, हृदय और वृक्क में कृष्ण शोथ (Cloudy Swelling) तथा **क्लाउडी स्वेलिंग मेदापक्रान्ति** (Fatty degenaration) उत्पन्न होती है।

लक्षण—"**कक्षभागेषु ये स्फोटा जायन्ते मांसदारणाः। अन्तर्दाहज्वरकरा दीप्तपावकसन्निभाः॥ सप्ताहाद्वा दशाहाद्वा पक्षाद्वा हन्ति मानवम्। तामग्निरोहिणीं विद्यादसाध्यां सर्वदोषजाम्॥**

कक्षभाग में (वक्षण तथा कक्षभाग में) मांस को विदीर्ण करने वाले, प्रज्वलित अग्नि के समान, अन्तर्दाह तथा ज्वर को उत्पन्न करने वाले, स्फोट उत्पन्न होते हैं। ७ वें, १० वें अथवा १५ दिन के अन्दर मनुष्य को यमालय का रास्ता दिखाते हैं। उसे अग्निरोहिणी कहते हैं। यह सर्वदोषज तथा असाध्य व्याधि है।

जीवाणु—के प्रवेश होने के बाद ३ दिन मे (कभी २ तीन से १५ दिन में भी) रोग के लक्षण उत्पन्न होते हैं। **इस रोग के ४ प्रकार होते है—**

१ क्षुद्र प्लेग—में सौम्य स्वरूप का रोग होता है। दश के स्थान पर विस्फोट उत्पन्न होता है। उस स्थान के पास की लसीका ग्रन्थियों में शोथ होता है। ज्वर भी मृदु होता है। रोगी के चलने फिरने में बाधा नहीं होती। यह बहुत थोडे रोगियों में दिखाई देता है।

२ ग्रन्थिक प्लेग—यही प्रकार साधारणतया पाया जाता है। इसमें शीत के साथ ज्वर चढता है। वह १०३–१०४ तक बढता है। ज्वर के पूर्व शिर के पूर्व भाग में पीडा तथा बेचैनी, चित्त विभ्रम ये पूर्वरूप होते हैं। ज्वर १०४ तक पहुंचने पर बेचैनी तथा पीडा और चित्त विभ्रम और भी बढते हैं। नेत्र लालिमायुक्त, मुख रक्तवर्ण, चलते समय पैर लडखडाते हैं, रोगी तुतलाता है, सुस्ती, थकान तथा दौर्बल्य मालूम होता है। रोग प्रारम्भ होने के दूसरे दिन वक्षण प्रदेश में **यदि दंश शरीर के ऊर्ध्वभाग में हुआ तो कक्ष वा ग्रीवा में** शोथ उत्पन्न होता है। अधिकतर ग्रन्थियां वंक्षण प्रदेश में ही निकलती हैं। ग्रीवा की ग्रन्थि का शोथ होना (गिल्टी) सबसे अधिक भयङ्कर तथा वक्षण की ग्रन्थिवृद्धि सबसे कम हानिप्रद होती हैं। रोगी बाहु को दूर रखकर अथवा जङ्घा पर टांग को सिकोडकर रखता है जिससे रुग्ण अङ्ग पर भार न पडे। दुर्बल रोगियों मे दूसरे वा तीसरे दिन से हृदय दुर्बल, नाडी मन्द तथा शीघ्रगामिनी, रक्तभार कम, मूत्र की मात्रा कम, रक्त तथा अल्ब्यूमिनयुक्त, प्रलाप, मूर्च्छा तथा सन्यास ये लक्षण उत्पन्न होते हैं। रोगी छठे, सातवें दिन नश्वर ससार से सम्बन्ध छोड देता है। यदि रोग सौम्य स्वरूप का हुआ तो पांचवें दिन से ज्वर शनै २ कम होकर एक दम उतर जाता है तथा बढी हुई लसीका ग्रन्थि (गिल्टी) की पीडा कम होती है। कभी २ वह बैठ जाती है। यदि ऐसा न हो तो दूसरे सप्ताह में उसमे पूय पडती है। पूय के कारण अनियमित ज्वर भी हो जाता है।

३ **रक्तगत प्लेग—**यह कभी २ उपद्रव के रूप में भी होता है। ज्वरादि लक्षण इस प्रकार में

अधिक तीव्र प्लीहा बढ़ती है, हृदयावसाद के लक्षण होते हैं। कुछ ही दिन में रोगी की जीवनलीला समाप्त होती है।

प्रधान स्वरूप का रोग—शिर के सामने के भाग में तीव्र पीड़ा वमन तथा ज्वर के साथ प्रारम्भ होता है। शरीर के विविध अङ्गों में रक्तस्राव तथा श्वास की गति भी बढ़ती है। शरीर के सभी भागों में स्थित लसीकाग्रन्थियाँ फूलती हैं। इसमें प्रारम्भिक लसीका ग्रन्थि वृद्धि (जिसे सम्प्राप्ति में देख चुके हैं) नहीं होती। दो तीन दिन में ही रोगी प्रलाप, संन्यास तथा अवसाद के कारण यमालय का पथिक बनता है।

४ **फुफ्फुसगत प्लेगः**—यह प्रधान तथा गौण स्वरूप का होता है। प्रारम्भिक ग्रन्थिवृद्धि (गिल्टी) यदि कक्ष अथवा ग्रीवा में प्रकट होवे तो इस प्रकार की अधिक सम्भावना होती है। इस प्रकार में रोगी के खासने, छींकने बातचीत करते तथा श्वास-प्रश्वास के समय असंख्य जीवाणु थूक वा उच्छ्वास के साथ बाहर निकल कर दूसरे मनुष्यों के श्वास-प्रश्वास मार्ग से फुफ्फुस में प्रविष्ट होकर प्लेग उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार के प्लेग में पिस्सू की आवश्यकता नहीं होती। जीवाणु के फुफ्फुस में प्रवेश होने पर निमोनिया की भांति फुफ्फुस में घनता उत्पन्न हो जाती है। फुफ्फुस में जीवाणु बहुत बढते हैं और उनके रक्त में मिलने से रक्तगत प्लेग उत्पन्न होता है। इस प्रकार में ज्वर शीत के साथ एकाएक प्रारम्भ होता है। शिरःशूल, पिण्डलियों में ऐठन, हाथ पैर में पीड़ा, कास, नाडी तथा श्वास की गति बढना, रक्तभार कम, शरीर पर नीलिमा दीख पड़ना, थूक पतला तथा फेनयुक्त अधिक तथा रक्तवर्ण होता है। थूक में प्लेग के असंख्य जीवाणु रहते हैं। शरीर में स्थान २ पर रक्तस्राव भी होता है। प्राथमिक गिल्टी न निकलकर, त्वचा की ग्रन्थियां कुछ फूलती, प्लीहा बढती है। फुफ्फुस में विकार (घनता आदि) बीच में होने के कारण उसके लक्षण बहुत अस्पष्ट होते हैं।

आन्त्रगत प्रकार—भी कभी २ पाया जाता है। इसमें गिल्टी नहीं निकलती, वमन, पित्त युक्त रक्त मिले हुये, दुर्गन्ध युक्त पतले दस्त होते हैं। तन्द्रा, प्रलाप, मूर्च्छा, आक्षेप इत्यादि लक्षण इसमें होते हैं।

त्वचागत प्रकार—भी अत्यन्त कम होता है। इसमें चर्म में विद्रधि **जहरवाद** (Carbuncle **कारबकल**), चर्मशोथ ये लक्षण अधिक होते हैं।

उपद्रव—न्यूमोनिया, जीवाणुमयता, रक्त-प्रवाह, गर्भवती स्त्रियों में गर्भ नष्ट होना, कर्णमूलिक शोथ, नेत्रशोथ (Pan opthalmitis **पैन आप्थलमाइटिस**) तथा विस्फोट, जहरवाद।

अनुगामी विकार—मूकता, शरीर की पेशियों का घात ये अनुगामी विकार होते है।

निदान—आस पास चूहों के मरने का इतिहास, गिल्टी, ज्वर, मुख तथा नेत्रों की रक्तिमा, तुतलाना, फुफ्फुस गत प्रकार में रक्तवर्ण फेनयुक्त तथा अधिक मात्रा में थूक निकलना, रसायन शाला यदि समीप हो तो गिल्टी से (सुई द्वारा रस) या विस्फोट से स्राव लेकर रंजन करके सूक्ष्मदर्शक यन्त्र पर परीक्षा करने से प्लेग के जीवाणु मिलते हैं। उनको उचित माध्यम में (पोषक पदार्थ के विलयन में।) रखकर वृद्धि भी कर सकते हैं।

रक्तपरीक्षा—श्वेतकणों की संख्या बढती है और उसमें लिम्फोसाइट अधिक बढते हैं। मृत्यु के पूर्व रक्त में सदा जीवाणु मिलते हैं। रक्तगत जीवाणुओं को सूक्ष्म दर्शक द्वारा देखा तथा उनको वर्धन किया जा सकता है।

सापेक्ष निदान—इसे उपदंश अथवा फिरंगजन्य लसीका वृद्धि (Climatic bubo **क्लाइमेटिक ब्यूबो**) से विषमज्वर, आन्त्रिक तथा निमोनिया से पृथक् करना चाहिये।

साध्यासाध्यता—प्राय असाध्य रोग है। विशेष कर रक्तगत तथा फुफ्फुसगत प्लेग असाध्य होता है। ग्रन्थिक प्लेग में भी अधिकतर मृत्यु (६० से ७० प्रतिशत) होती है। स्थान की दृष्टि से ग्रीवा तथा कक्ष की गिल्टी अधिक घातक होती है। तन्द्रा, प्रलाप, नाडी की गति शीघ्र, रक्तभार में कमी, रक्त में जीवाणु मिलना, ज्वर का अत्यन्त तीव्र होना, शरीर में स्थान स्थान पर रक्तस्राव होना ये इस रोग के असाध्यता-सूचक लक्षण हैं। पूय उत्पन्न होने के समय तक यदि रोगी को बचाया जा सके तो उसके जीवन की बहुत कुछ आशा हो सकती है।

चिकित्सा—

१ **खाने के लिये—चण्डेश्वर रस** १ रत्ती की मात्रा में प्रातः, सायम् मधु से चटाना चाहिये।

२ **गिल्टी पर बांधने के लिये**—**नागफनी** का छिलका उतार कर उसके गूदे पर **आमाहल्दी** का कल्क प्रलिप्त करके तथा गरम करके उसे ग्रन्थि पर बांधना। प्रतिदिन सुबह स्थान को उष्ण जल से स्वच्छ करके दूसरी **नागफनी** को पूर्व की भांति बनाकर लगाना चाहिये।

पाश्चात्य चिकित्सा-शास्त्र के अनुसार चिकित्सा—

इस रोग की कोई खास (Specific **स्पेसिफिक**) चिकित्सा नहीं है। लक्षणों के अनुसार चिकित्सा करनी चाहिये। रोगी को बिस्तरे पर आराम करना, द्रव प्रधान सुपाच्य आहार, वमन हो तो वर्फ चूसना चाहिये। यदि विबन्ध हो जाये तो **मैगसल्फ** (Magsulph) देना चाहिये। ज्वराधिक्य (तीव्र सन्ताप) के लिये शीतोपचार (वर्फ की थैली, शीत जल की पट्टी सरपर रखना), नींद न आने पर **पोटेशियम ब्रोमाइड** १५ से २० अथवा **ल्युमिनाल** आधी से १ रत्ती सोते समय देवें। हृदय का विशेष ध्यान रखना चाहिये। जीवाणु के विष के कारण हृदय बहुत दुर्बल रहता है। इसके लिये **डिजिटेलिन,** तथा **स्ट्रिकनीन** का प्रयोग करना चाहिये।

प्रधान चिकित्सा—

(१) **हैफकीन** का **प्लेग नाशक सीरम** देना चाहिये। मात्रा ६० से १०० सी० सी०

(२) **मर्क्यूरो क्रोम** तिर्यक् पातित जल में इसका १० प्रतिशत घोल बनाकर, २० सी०सी० की मात्रा में सिरा द्वारा प्रतिदिन एक बार सुई से (by injection) प्रविष्ट करना चाहिये।

(३) अथवा **आयोडीन** २४ ग्रेन, **पोटेशियम आयोडाइड** ३६ ग्रेन, **तिर्यक् पातित** जल १ औंस।

इस मिश्रण में से १ सी० सी० प्रतिदिन प्रविष्ट करना चाहिये। मात्रा को शनैः शनैः बढ़ाते हुये सुई देना चाहिये।

स्थानिक चिकित्सा—गिल्टी को सेकना तथा उस पर **ऐन्टीफ्लोजिस्टिन** लगाना चाहिये। पूय पड़ने पर शस्त्रकर्म द्वारा पूय निकाल देना चाहिये।

इति ग्रन्थिकज्वरवर्णनम्।

अथ वातश्लैष्मिकज्वरवर्णनम्—

पर्याय—इन्फ्लुयेञ्जा (Influenza) वातश्लैष्मिक ज्वर।

रोग की व्याख्या—यह तीव्र औपसर्गिक व्याधि है। इसमें ज्वर, दुर्बलता, और श्वास संस्थान के विकार उत्पन्न होते हैं।

कारण—इसका कारण सन्दिग्ध है। कुछ लोग **बैसीलस इन्फ्लुयेञ्जा** अथवा **फीफर** के जीवाणु को इसका कारण मानते हैं। यह जीवाणु रोग के प्रारम्भ में नहीं मिलता अथवा कम मिलता है। उत्तर काल में थूक तथा शरीर के अन्य द्रव्यों में मिलता है। कुछ लोग एक निस्यन्दनशील (जो कि फिल्टर पेपर से छानने पर छने हुए द्रव्य में चला जाता है) स्वरूप के जीवाणु को मानते हैं। कुछ लोगों ने उस जीवाणु का प्रत्यक्ष करके **बैक्टीरियम न्यूमो सिन्टिस** नाम दिया है। इसे सब शास्त्रज्ञ नहीं स्वीकार करते किन्तु वे भी निस्यन्दनशील जीवाणु को कारण मानते हैं। **बैसीलस इन्फ्लुयेञ्जा** अत्यन्त छोटा जीवाणु है। यह वृत्ताकार होता है।

जीवाणु का स्थान—रोगियों की नासा पश्चिम भाग तथा नासा में श्वास प्रणाली तथा फुफ्फुस मे रोग के जीवाणु मिलते हैं।

नासास्राव के साथ अथवा खांसते छींकने के साथ भी रोगी की नासा से जीवाणु निकलते हैं। और थूक नासास्राव अथवा वायु मे मिले हुये इन जीवाणुओं के सम्पर्क से मनुष्य संक्रमित होता है। यह किसी एक स्थान पर सीमित रहता है अथवा इसके देशव्यापी मरक भी फैलते हैं। कभी २ इसकी महामारी सारे संसार में फैलती है। जैसे १८९२ तथा १९१८ मे आयी थी। इस प्रकार का मरक १० से ४० साल के बाद एक बार आता है। मरक के समय रोग अत्यन्त शीघ्रता से फैलता है।

सम्प्राप्ति—निस्यन्दन शील जीवाणु के कारण इस रोग की उत्पत्ति होती है। श्वास-प्रश्वास के साथ यह निस्यन्दन शील जीवाणु नासा से होकर गले में जाता है तथा शरीर की शक्ति कम कर देता है। इसके बाद **बैसीलस इन्फ्लुयेञ्जा** तथा **स्ट्रेप्टोकोकस, न्यूमोकोकस, मैंक्रोकोकस, कटारेलिस** तथा **स्टैफिलोकोकस** ये जीवाणु प्रविष्ट होकर **इन्फ्लुयेन्ज़ा** रोग उत्पन्न करते हैं। जो जीवाणु फुफ्फुस

में प्रवेश करना है उससे श्वास प्रणाली तथा फुफ्फुस में शोथ उत्पन्न होता है। फुफ्फुस के भीतर रहने वाले वायुकोशों (air sacs एयर सैक्स) का **पतन** (Collapse कोलैप्स) फुफ्फुस में रक्त का अधिक सञ्चार, श्वासनलिकाओं के समीप रहनेवाली लसीका ग्रन्थियों में शोथ होना है। कुछ जीवाणु नासा से होकर चालनी पटल (मर्झरास्थि के भीतर के सूक्ष्म छिद्रों) से होते हुए मस्तिष्क में पहुँचकर वहां पर शोथ उत्पन्न करते हैं। गले के भीतर जीवाणुओं का प्रवेश होने से अन्नस्रोत में शोथ आदि लक्षण होते हैं। जीवाणु जब २ रक्त में प्रविष्ट हो जाते हैं तब २ जीवाणुमयावस्था उत्पन्न करते हैं। रक्तपरीक्षा में रक्तकणों की सख्या में फर्क नहीं होता श्वेतकणों की संख्या घटती है। **बहुकेन्द्रिय** तथा **इयोसिनोफिल** घटते **लिम्फोसाइट** बढते हैं। कभी २ इन जीवाणुओं से **उरःपूय** (Empyema) **एम्पाइमा** उत्पन्न होता है।

लक्षण—जीवाणु के शरीर में प्रविष्ट होने के कुछ घंटे से ५ दिन में रोग उत्पन्न होता है। आक्रमण एकाएक होता है। कुछ ही काल में दौर्बल्य के कारण रोगी किसी भी कार्य को करने में अपने को असमर्थ पाता है। शीत, ज्वर, सर्वाङ्ग में असहनीय वेदना, शिरःशूल, पीडा, खासी, मुखशोथ और लालिमा के साथ इस रोग का प्रारम्भ होता है। शरीर का जो अंग विशेषतया विकृत होता है उसी अंग के लक्षण विशेषतया उत्पन्न होते हैं।

इसके ४ प्रकार पाये जाते हैं। **ज्वरयुक्त, फौफ्फुसिक, आन्त्रिक** तथा **वातिक**।

१—ज्वरयुक्त प्रकार—तीव्र शिरःशूल के साथ ज्वर एकाएक १०२ से १०४ अंश तक पहुँच जाता है। मलावरोध, वमन शीघ्र २ होना, प्यास लगना, मूत्र गाढा तथा कम मात्रा में, जीभ मैली, सांस दुर्गन्धित ये लक्षण उत्पन्न होते हैं। नासा से रक्तस्राव, प्लीहा तथा गले की लसीकाग्रन्थियों की वृद्धि तथा प्रतिश्याय ये लक्षण होते हैं। रोज ज्वर उतरता है। पर ज्वर उतरने पर भी शरीर की पीडा तथा कमजोरी धीरे २ कुछ दिन में दूर होती है। ज्वर अधिक से अधिक ८ दिन हो सकता है इससे अधिक ज्वर चलने पर किसी उपद्रव का अनुमान करना चाहिये।

२—फुफ्फुस गत प्रकार—प्रारम्भ में ज्वर, शरीर में पीडा, नासास्राव, दुर्बलता, नासावरोध, श्वासकृच्छ्र ये लक्षण सामान्यतया रहते हैं। ३-४ दिन पश्चात् फुफ्फुस के विकार अधिक प्रबल होजाते तथा अर्धविसर्गी ज्वर, प्रलाप, कास तथा रक्तष्ठीवन होता हैं। न्यूमोनिया (श्वसनक ज्वर) के समान लक्षण होते हैं। थूक अत्यन्त कम होता है अथवा कुछ भी नहीं निकलता। जब थूक निकलता है उसका रङ्ग गुलाबी तथा किञ्चित् झागयुक्त होता है। तथा श्लेष्मा सहज ही में खांसते समय निकल जाता है, कभी २ श्लेष्मा चिपकने वाला, रक्त वर्ण, भूरा अथवा केशर के रङ्ग का होता है। इस के साथ ही मुख पर अत्यधिक नीलिमा रहती है। नीलिमा रोग की कृच्छ्रसाध्यता सूचित करती है। इस नीलिमा का कारण, प्राण वायु की कमी है। वायुकोषों के स्राव से भर जाने के कारण पर्याप्त वायु फुफ्फुस में नहीं पहुंच पाती। इस नीलिमा से १२ से २४ घंटे बाद प्रायः मृत्यु होती है। किसी भी प्रकार की चिकित्सा करने से रोगी २ से ६ दिन में कभी कभी १ ही दिन में मानवलीला संवरण करता है। कभी कभी हृदय की गति रुकने के कारण प्रथम दिन में भी मृत्यु हो जाती है।

(३) आन्त्रिक प्रकार—इसमें ज्वर कम-जी मिचलाना, वमन, अग्निमान्द्य, आमाशय के ऊपरी भाग तथा नाभि के पास स्पर्शनाक्षमता तथा पीडा और कभी २ वेदना भी रहती है। कामला तथा प्रवाहिका भी उत्पन्न हो जाती हैं। मरक के समय यह प्रकार नहीं पाया जाता है। जब रोग किसी स्थान पर सीमित रहता है उस समय यह प्रकार अधिक पाया जाता है।

(४) वातिक प्रकार—तीव्र ज्वर, शिरःशूल, शरीर में वेदना, प्रलाप, निद्रानाश, नाडी शूल, मूर्च्छा आदि वातिक (नाडीसंस्थान गत) लक्षण अधिक होते हैं।

उपद्रव तथा इससे होने वाले रोग—

इस रोग में होने वाले ज्वर, सर्वाङ्ग में पीडा, शिरःशूल तथा प्रतिश्याय के अतिरिक्त अन्य प्रलाप आदि सारे लक्षण ज्वर के उपद्रव हैं।

श्वास संस्थान से सम्बन्धित निम्न उपद्रव होते हैं—

न्यूमोनिया, ब्राङ्कोन्यूमोनिया, फुफ्फुसावरणशोथ, श्वासप्रणाली विस्तार, श्वास, राजयक्ष्मा,।

हृदय तथा रक्तवह संस्थान के उपद्रव—हृदय की दुर्बलता, हृदय की पेशी में शोथ, हृदय

का विस्फार, धड़कन, हृदय की गति में शीघ्रता होना, अथवा—हृदय की गति मन्द होना, हृच्छूल, हृदय के सामने के भाग में बेचैनी, श्वास लेने में कठिनता तथा चक्कर आना, शिराओं में रक्त कभी २ जमता है।

मस्तिष्क संस्थान के निम्न उपद्रव उत्पन्न होते हैं—मस्तिष्कावरणशोथ, एकाङ्गवात, पक्षाघात, मस्तिष्क-विद्रधि, ऊरुस्तम्भ, शिरःशूल, आत्महत्या करने की इच्छा, उन्माद, बुद्धि, भ्रम, ये उपद्रव उत्पन्न होते हैं। इनके अतिरिक्त, वृषणशोथ, पेशीशोथ, आन्त्रपरिशिष्टशोथ (ऐपेन्डिसाइटिस्), मध्यकर्णशोथ, कर्णमूलशोथ भी उपद्रव के रूप में प्रकट होते हैं।

रोग की अवधि तथा साध्यासाध्यता—उपद्रव न उत्पन्न हो तो रोग प्राय सातवें दिन उतर जाता है। रोग स्वय घातक नहीं किन्तु न्यूमोनिया, मस्तिष्कावरणशोथ, हृदयदौर्बल्य इन उपद्रवों से मृत्यु होती है। प्रलाप, निद्रानाश तथा मूर्च्छा, नीलिमा आदि लक्षणों को देख कर तथा यदि रोगी दुर्बल और मद्यपान करता हो तो रोग असाध्य समझना चाहिये।

सापेक्षनिदान—न्यूमोनिया, ब्रांकोन्यूमोनिया, आन्त्रपरिशिष्ट शोथ, मस्तिष्कावरणशोथ, प्रसूतिज्वर तथा विषम ज्वर इन रोगों से इसे पृथक् करना चाहिये।

चिकित्सा—शुद्ध वायु तथा प्रकाशयुक्त कमरे में आराम करना, शीत से बचना, मलावरोधके लिये मृदु विरेचन हरीतकी चूर्ण अथवा कैलोमल, मैगसल्फ (mag Sulph) देना चाहिये।

प्रधान चिकित्सा—

(१) **श्वासकासचिन्तामणि** एक रत्ती, **कस्तूरी** एक सरसो के बराबर मधु से प्रातःकाल चाटना।

(२) **महालक्ष्मी विलास** ½ रत्ती, **शृङ्गाराभ्र** ½ रत्ती, **नरसार** ३ रत्ती

१ मात्रा

शाम को मधु से चाटना।

पाश्चात्य-मतानुसार चिकित्सा—इस रोग की कोई विशेष औषधि नहीं है। लक्षणों के उत्पन्न होने पर उनके अनुसार चिकित्सा की जाती है। **डोवर पाउडर** (Dover's pouder) ५–१० ग्रेन **पोटास साइट्रेट** (Potas citrate) १५ से २० ग्रेन, **लाइकर एमोनिक ऐसिटेटिस** (Liduor Amonia Acitates) १–२ ड्राम, **स्पिरिट इथेरिस नाइट्रोसाई,** (Spt Etheris Nitrosi) इनके साथ **सोडा सैलिसिलास** १० ग्रेन मिलाकर उपयोग करना चाहिये। श्वसन स्थान के विकार के लिये **टिंचर बेंजाइन को** ४ ड्राम **यूकेलिप्टस आयल** १ ड्राम १ पाइन्ट उबलते हुये पानी में मिलाकर रोगी को सुंघाना चाहिये। वक्ष पर सरसों पीसकर लेप करना चाहिये। **ऐन्टी फ्लोजिस्टीन** को वक्ष पर रखना चाहिये। पीने के लिये निम्न मिश्रण देना चाहिये—

सीरप क्लोरल	आधा ड्राम
एमोनियम ब्रोमाइड	२० ग्रेन
ऐक्स्ट्रैक्ट ग्लीसिराइझालिक्विड	२० बूंद
पानी	१ औंस

इस मिश्रण को प्रत्येक ४–४ घण्टे पर देना चाहिये। निद्रानाश के लिये निद्राकर **ल्यूमिनाल** ½ ग्रेन से १ ग्रेन अथवा **वेरोनाल** ५–१० ग्रेन या, **पोटाश ब्रोनाल** १५–३० ग्रेन की मात्रा में देना चाहिये। न्यूमोनिया के लिये न्यूमोनिया (कर्कटक सन्निपात या श्वसनक ज्वर) की चिकित्सा करें। मस्तिष्कावरणशोथ उत्पन्न होने पर कटिवेध करके इन्फ्लुयेन्जा-विरोधी लसीका सुषुम्ना मे प्रविष्ट करना चाहिये। **स्ट्रेप्टोकोकस हीमोलिटिकस** के कारण रोग की तीव्रता बढती है। अत एव **स्ट्रेप्टोकोकस** विरोधी लसीका उपयोग प्रारम्भ से ही करना चाहिये।

रोगनिवृत्ति होने पर महीनों तक पथ्य से रहना तथा आराम करना चाहिये। लौह, कुचला, संखिया आदि बल्य ओषधियों का उपयोग करना चाहिये। शीत से बचना चाहिये।

इति वातश्लैष्मिकज्वरविवरणम्।

अथ दण्डकज्वरवर्णनम्—

पर्याय—हड्डी तोड बुखार (Break bone fever.)–Dengue fener (डेंग्यूफीवर)।

कारण—इसके कारणभूत जीवाणु का अन्वेषण नहीं हो सका है। भारत में मद्रास, बम्बई,

बङ्गाल, आसाम तथा ब्रह्मदेश इन स्थानों में यह अधिक पाया जाता है। शरद् ऋतु में विशेषतया दिखाई पडता है। सारे साल भी होता रहता है।

प्रसार—स्टेगोमीया फेसियेटा (Stego myia fasciata) नामक मच्छर के दंश करने से इनका संक्रमण होता है। इस रोग से युक्त प्राणी को जब उक्त मच्छर दंश करता है तब कुछ जीवाणु उसके आमाशय में प्रविष्ट हो जाते हैं। इसके बाद मच्छर के शरीर में १० दिन के भीतर कुछ परिवर्तन होते हैं, जिसके बाद वह मच्छर आजीवन रोग का सङ्क्रमण दूसरे मनुष्यों में दंश के द्वारा कर सकता है।

सम्प्राप्ति—शरीर में जीवाणु का प्रवेश होने पर कूर्पर-सन्धि के ऊपर रहने वाली ग्रन्थियां फूलती हैं। प्लीहा कभी २ स्पर्शलभ्य होती है। रक्त में रोग के प्रारम्भ के तीन दिनों में विष रहता है। श्वेतकण घट कर ३ से ४ हजार तक रह जाते हैं। बहुकेन्द्रीय कण बहुत कम तथा एककेन्द्रीय कण अधिक बढते हैं। ज्वर उतर जाने पर **इयोसिनोफिल** की सख्या बढ जाती है।

लक्षण—ज्वर—अकस्मात् प्रारम्भ होता है कुछ घण्टों में १०४ अंश तक बढ जाता है। ज्वर तीसरे दिन कुछ कम होता है। पाचवे दिन फिर बढता है। इसके बाद सातवें दिन उतर जाता है।

पीडा—शिर, नेत्र, कमर, तथा हाथ-पैरों में तीव्र पीडा होती है। ऐसा प्रतीत होता है मानो हड्डिया टूटी जा रही हों। इसी पीडा के कारण **हड्डीतोड बुखार** इस का नामकरण किया गया है। शरीर अकडती है।

विस्फोट—शरीर पर विस्फोट प्रायः निकलते हैं। पहले या दूसरे दिन में विस्फोट मुख, गले तथा वक्ष पर दिखाई पडते हैं। इनके कारण ये स्थान लाल दिखाई पडते हैं। एकाध दिन बाद विस्फोट मिट जाते हैं। चौथे या पांचवे दिन दूसरी बार ज्वर के चढने के साथ ही साथ विस्फोट निकलते हैं। ये धड, शाखाओं तथा हथेलियों पर अधिक दिखाई देते हैं। इनके मुर्झाने पर चर्म भूसी की भाति निकलता है। कभी कभी ये विस्फोट नहीं भी दिखाई देते हैं।

नाडी—प्रारम्भ में नाडी की गति ज्वर के अनुसार बढती है पर उत्तरोत्तर मन्द होती जाती है। यहां तक कि १०२ अंश ज्वर होने पर भी नाडी की गति स्वाभाविक रहती है। इसके अतिरिक्त, दुर्बलता, निद्रानाश, तीव्र ज्वर, प्रलाप, जी मिचलाना, वमन, क्षुधानाश, जीभ मैली, विबन्ध ये लक्षण होते हैं।

उपद्रव—बहुत कम उत्पन्न होते हैं। निम्न लिखित उपद्रव हो सकते हैं। रक्त-प्रवाह, अल्ब्यूमिन मेह, प्रवाहिका, वृषण शोथ, कर्णमूलिक शोथ, तीव्र ज्वर, नेत्राभिष्यन्द।

साध्यासाध्यता—यह सुसाध्य रोग है। बाल, वृद्ध तथा दुर्बलों में कभी २ मारक होता है। बालकों में नासा से रक्तस्राव, प्रलाप आदि लक्षण अधिक होना तथा तीव्र ज्वर इनसे मृत्यु होती है।

चिकित्सा—आराम, हलका, लघु भोजन, स्वच्छता, द्रवप्राय आहार, वमन अथवा उत्क्लेश में बर्फ चूसना, निद्रानाशके लिये **ब्रोमाइड (पोटाशियम ब्रोमाइड १५–३० ग्रेन)** अथवा **ल्यूमिनाल ½** से १ ग्रेन सोते समय देना चाहिये। वेदना के लिये **मदार का पत्ता** गरम करके बांधना अथवा **बेलाडोना का प्लास्टर** लगाना अथवा **ए० बी० सी० लिनिमेन्ट** का लेप करना चाहिये। तथा **एस्पिरीन कैफीन** वा **फेनासिटीन** वा **अफीम का सत्त्व (मार्फिया)** का उपयोग करना चाहिये। इस रोग में वास्तव में कम से कम छेड़ छाड करना चाहिये। यदि लक्षण अधिक तीव्र होवे तभी ऊपर कही चिकित्सा पद्धति का अवलम्बन करना चाहिये। ज्वरमोक्ष के समय **एस्पिरीन** नहीं देना चाहिये।

रोग से निर्मुक्त होने पर **लोह, कुचिला** तथा **संखिया** के शक्तिप्रद योग, पुष्टिकारक, बलवर्द्धक आहार करना चाहिये। **नारायण तैल** का शरीर में अभ्यङ्ग करना चाहिये। स्थानपरिवर्तन भी इसमें विशेष लाभप्रद है।

इति दण्टकज्वरवर्णनम्।

अथ गर्दनतोडबुखारवर्णनम्—

पर्याय—गर्दनतोड बुखार, मस्तिष्क सुषुम्नाज्वर, सेरिब्रोस्पाइनल फीवर (Cerıbro spinal fever), सेरिब्रोस्पाइनल मेनिञ्जाइटिस (Cerıbro spinal Menıngıtıs)

व्याख्या—इस ज्वर की उत्पत्ति **मेनिंगोकोकस** (Menıngo Coccus) नाम के जीवाणु के प्रवेश करने से होती है। इसमें मस्तिष्क और सुषुम्ना के आवरण में शोथ तथा शरीर की पेशियों का अकड जाना तथा उसमें पीडा ये लक्षण उत्पन्न होते हैं।

कारण—मेनिंगोकोकस नाम का एक सेम के बीज के आकार का (वा—वृक्क के आकार का) जीवाणु इनका कारण है ।

सहायक कारण—भारतवर्ष में यह रोग वसन्त तथा ग्रीष्म ऋतु में होता है । १५–३० वर्ष की आयु तक यह रोग अधिक होता है । योरोप में शीत काल में अधिक होता है, नासिका के रोग, शीत, प्रतिश्याय तथा गले के रोग इसकी उत्पत्ति में सहायता देते हैं । घनी बस्ती, बड़े बड़े शहरों में तथा स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में रोग अधिक देखा जाता है । शक्ति से अधिक श्रम, मन पर आघात पहुंचना तथा दुर्बलता ये इसके प्रधान सहायक कारण हैं ।

संक्रमण—इसका एक मनुष्य से दूसरे पर संक्रमण रोगी के खांसते, छींकते समय थूक से साथ निकले तथा नासामार्ग से निकले हुये जीवाणुओं के द्वारा होता है । ये जीवाणु वायु में मिलकर स्वस्थ मनुष्य में प्रविष्ट होते हैं । स्राव से दूषित वस्त्र आदि से इसका कम संक्रमण होता है ।

सम्प्राप्ति—वायु मिले हुये जीवाणु नासा पश्चिम भाग में पहुंचते हैं । वहां से मस्तिष्क में पहुंच कर उसके आवरण में शोथ उत्पन्न करते हैं । मस्तिष्क तथा सुषुम्ना में तथा इनके आवरण में भी शोथ उत्पन्न होता है । मस्तिष्क के भीतर पूय (Pus पस) उत्पन्न होता है । सिर **पूयशीर्ष** (Pyo Cephalus-**पायो केफेलस**) तथा **जलशीर्ष**(Hydro Cephalus **हाइड्रो केफेलस**) की भांति हो जाता है । मस्तिष्क की दरारों में लसीका एकत्रित होती है । **मस्तिष्क के कोटर** (Ventricles) विस्फारित होते हैं । उनमें लसीका और पूय एकत्र हो जाती है । मस्तिष्क में स्थान स्थान पर रक्तस्राव भी होता है । फुफ्फुस, यकृत और वृक्क में रक्त की अधिकता होती है । मस्तिष्कगत स्राव की परीक्षा करने पर उसमें भी श्वेतकण मिलते हैं, उनमें बहुकेन्द्रीय श्वेतकण अधिक रहते हैं । रक्तकण तथा रोग के जीवाणु मेनिंगोकोकस मिलते हैं ।

रक्तपरीक्षा—बहुकेन्द्रीय श्वेतकण इसमें अधिक मिलते हैं । इनकी संख्या १५००० से ३०००० तक हो सकती है । रक्त को कांच की पट्टी (स्लाइड) पर लेकर परीक्षा करने से **मेनिंगो-कोकस** मिलते हैं ।

लक्षण—जीवाणु प्रविष्ट होने के ५ से ७ दिन में रोग के लक्षण उत्पन्न होते हैं । शीत, शिर शूल, वमन के साथ ज्वर चढ़ता है । बालकों में शीत नहीं लगती उनको आक्षेप होते हैं । ज्वर १०२ से १०४ अंश तक रहता है । लक्षण प्रारम्भ होने से ९ दिन तक यह दशा रहती है । इसके बाद वमन जोर से होने लगता है । ग्रीवा, वक्ष तथा कमर की पीछे की पेशियां कड़ी होती हैं तथा उनमें वेदना होती है । पेशियों के तनाव के कारण शरीर कभी धनुष की भांति पीछे को झुक जाता है । सिर पीछे की ओर झुकता है । ऊपर की पेशियां भी कड़ी होती हैं । शिर शूल तीव्रतम होता है । रोगी अचेतन्यावस्था में रहता है । पर जगाने से जागता है । ज्वर निरन्तर बना रहता है । दृष्टि में भी विकृति होती है । प्रकाश की ओर नेत्र नहीं खुलते, वस्तुयें दो दो दिखाई देती हैं । **कनीनिका (प्यूपल)** ठीक गोल होकर विषम दिखाई पड़ती हैं । अर्दित की दशा उत्पन्न हो सकती है । नाड़ी की गति कभी शीघ्र तथा कभी मन्द हो जाती है । कभी २ ज्वर प्रारम्भ से ही १०४ से १०६ तक होता है । प्रलाप आदि लक्षण होते हैं । रक्त में जीवाणु रोग प्रारम्भ होने केव ८ ही से मिलने लगते हैं । रोगी तीसरे दिन से मूर्छित अवस्था में रहता है । कभी कभी नाड़ी की गति ज्वर के अनुसार न बढ़कर अत्यन्त मन्द हो जाती है । रोगी १२ घण्टे के बाद मूर्छित होता है । इन दशाओं में मृत्यु ही होती है ।

वक्तव्य—मस्तिष्कमूल से सुषुम्ना प्रारम्भ होती है, वह कटि तक जाती है। यह ग्रीवा से कटि तक के कशेरुओं के बीच में रहने वाली नलिका में पड़ी रहती है । इसके ऊपर आवरण होते हैं । इसी प्रकार मस्तिष्क में भी आवरण होता है । इस आवरण के बीच में जल की भांति स्वच्छ लसीका रहती है । रुग्ण दशामें वह लसीका पूययुक्त तथा उसका वर्ण मटमैला होता है । तरल की राशि भी बढ़ जाती है ।

सापेक्षिक रोग-निदान—इसको मन्थरकज्वर, मौक्तिकज्वर (मोतीझरा), श्वसन-(कर्कटक-सन्निपात) ज्वर, वातश्लैष्मिक ज्वर (इन्फ्लुयेन्जा) तथा मसूरिका और विषमज्वर के मस्तिष्क गत प्रकार से पृथक् करना चाहिये । मस्तिष्कावरण प्रकोप (Meningism मेनिंजिजम) से भी पृथक् करना आवश्यक है ।

रोग की अवधि—४ दिन से कुछ मास तक है । अधिकतर ६ दिन में ही रोगी कालकवलित होते हैं।

साध्यासाध्यता—रोग कष्टसाध्य है । २ साल तक के बच्चे अधिक मरते हैं । जब इसकी महामारी फैलती है तो भी इससे लोग अधिक मरते हैं। यदि चिकित्सा देर में प्रारम्भ की जाय तो भी रोग असाध्य होता है । चिकित्सा न करने पर ८० प्रतिशत रोगी मरते हैं। मस्तिष्क सुषुम्नानल यदि अधिक गाढा तथा उसकी मात्रा अत्यधिक हो तथा रोग के लक्षण यदि प्रारम्भ से ही तीव्र हो तो रोग अवश्य घातक होता है ।

चिकित्सा—सामान्य चिकित्सा आराम, कोष्ठशुद्धि मृदु विरेचन तथा वस्ति द्वारा करनी चाहिये । दूध, सतरे का लस्सी, अल्व्यूमिन वाटर आदि का पथ्य । मूत्र न निकले तो शलाका द्वारा मूत्र निकाले, मुख को साफ रखना आवश्यक है ।

(१) **विशेष चिकित्सा**—सुषुम्ना वेध तथा प्रक्षालन चौथे तथा पांचवे कटिकशेरुक के बीच में इस कार्य के लिये बनी हुई विशेष प्रकार की सूचिका प्रविष्टकर लसीका को निकाल देना चाहिये। इसके बाद जितनी लसीका निकली है उतना ही लवण विलयन १०० डिग्री तक उष्ण करके प्रविष्ट करते हैं फिर उसे निकाल कर नया लवण-जल प्रविष्ट करते हैं ।

(२) मेनिंगोकोकस विरोधी लसीका **(ऐन्टी मेनिंगो कोकस सीरम)** शिरा द्वारा देवे । प्रथम दिन, ३० से ४० सी० सी० प्रतिवार प्रथम दिन २ या ३ बार इसके बाद २४ घण्टे बाद सीरम देवें, सीरम तब तक देना चाहिये जब तक कि लसीका में कुछ भी अपारदर्शकता तथा जीवाणु मिलते रहें।

सामान्य सीरम से लाभ न होने पर वैक्सीन से चिकित्सा करनी चाहिये । इसके लिये ५ से ५० दश लक्ष जीवाणु सप्ताह मे दो बार प्रविष्ट करना चाहिये । प्रत्येक बार पहले से दूनी मात्रा प्रविष्ट करनी चाहिये । ६०० दश लक्ष तक लसीका पहुंच जाये तब मात्रा न बढ़ावें ।

(३) **लाक्षणिक चिकित्सा**—प्रलाप तथा निद्रानाश के लिये पोटेशियम ब्रोमाइड १५-३० ग्रेन अथवा ल्यूमिनाल आधी से १ ग्रेन देवें । वेदना के लिये एस्पिरीन कैफीन, हृदय-दौर्बल्य के लिये १/१०० ग्रेन डिजिटेलिन की सूई देना चाहिये । स्ट्रिक्नीन इस रोग में न देना चाहिये ।

(४) ५ से १० प्र० श० **सरक्यूरोक्रोम** शिरा द्वारा देने से लाभ होता है।

इति गर्दनतोडबुखारवर्णनम् ।

अथ कर्णमूलिकज्वरवर्णनम् (मम्प्स् फीवर Mumps fever)—

पर्याय—पाषाण गर्दभ, हप्पू, मम्प्स्, गालोबीबी,

व्याख्या—इसमें लाला ग्रन्थियों विशेष करके कर्णमूल के पास स्थित लालाग्रन्थि में शोथ होता है।

कारण—रुग्ण के लाला में विष रहता है जो खासने, छींकने से वायु में मिलता तथा पास के (अधिक सम्पर्क में रहने वाले) व्यक्तियों मे इसका उपसर्ग होता है ।

सम्प्राप्ति—वायु में मिला हुआ विष मनुष्य के मुख में प्रविष्ट होता तथा लालाग्रन्थि मे शोथ उत्पन्न होता है। कर्णमूल ग्रन्थि में विशेषतया शोथ होता है । अतएव उसे कर्णमूलिक नाम दिया जाता है। यह रोग शिशु तथा वृद्धों में कम तथा युवावस्था में एवम् पुरुषों मे अधिक होता है ।

पूर्वरूप—नीचे के जबडे में पीड़ा, मुंह खोलने में कष्ट, शिर.शूल, कर्ण में वेदना होती है। प्रथम शोथ बायें तरफ के कर्णमूल ग्रन्थि मे प्रारम्भ होती है। फिर दाहें ओर भी फैलती है। ज्वर १०२ से १०४ तक हो सकता है। दौर्बल्य अधिक रहता है । ३ सप्ताह में रोग उतर जाता है।

उपद्रव—वृषण शोथ युवावस्था में प्रवेश करने वालों अथवा नवयुवकों में होता है । ७ वें या ८ वें दिन दिखाई पडता है। कभी २-३ सप्ताह बाद शोथ होता है। कभी २ कर्णमूलिक ग्रन्थि भी नहीं सूजती केवल वृषणशोथ ही कर्णमूलदर्शक लक्षण होता है ।

स्त्रियों में बीजग्रन्थिशोथ (Ovaritis ओवराइटीस) होती है । वहां पर पीडा तथा स्पर्शनाक्षमता भी उत्पन्न होती है । भगद्वार तथा स्तनों में भी शोथ होता है। (अग्न्याशय) (क्लोम) शोथ, कास, न्यूमोनिया, हृदयावरणशोथ, प्रलाप, तीव्र शिर शूल, वमन, प्रवाहिका तथा रक्तातीसार भी उत्पन्न होता है।

साध्यासाध्यता—सुसाध्य तथा मर्यादित रोग है । ३ सप्ताह में विना चिकित्सा के ठीक

होना है। प्रारम्भ से विश्राम करने से वृषणशोथ तथा अन्य उपद्रव नहीं होता, वृक्क, स्वरयन्त्र, मस्तिष्कावरण आदि उपद्रव उत्पन्न होने से मृत्यु भी हो सकती है।

चिकित्सा—विश्राम करना, मुख को शुद्ध रखना, **पोटाश क्लोरेट** अथवा **उदुम्बरसार विलयन** से कुल्ला करना चाहिये। काम-क्रोधादि से विशेषतया काम से वचना चाहिये। शोथ पर सेक करके **मदार** अथवा **एरण्ड का** पत्ता, **कडुवे तेल** से आलिप्त कर के, उष्ण करके, बांधना चाहिये। अथवा **ग्लीसिरीन बेलाडोना** अथवा **इक्थ्योल** का लेप करके रूई रख कर पट्टी बांध देना चाहिये। **विरेचन** यथा **हरीतकी चूर्ण** ६ माशे से कोष्ठशुद्धि करनी चाहिये। खाने के लिये तरल पौष्टिक कदुष्ण वा उष्ण पदार्थ देना चाहिये।

वेदना अधिक होने पर—**एस्पिरीन** देना चाहिये। वृषणशोथ के लिये सेकना, रूई से ढक कर लंगोट लगाना चाहिये। प्रलाप के निद्रानाश के लिये निद्राकर उपचार करना चाहिये। रोगमुक्त होने पर भी कुछ काल तक मैथुन, सायकिल तथा घोड़े की सवारी न करना चाहिये।

इति कर्णमूलिकज्वरवर्णनम्।

अथ माल्टाज्वरवर्णनम्—

नाम का कारण—यह रोग प्रथम मध्य सागर के माल्टा नामक द्वीप में परिमित था अत एव इसे माल्टा ज्वर कहते हैं।

कारण—वैसिलस मैलेन्टेसिस नाम का जीवाणु इस रोग को उत्पन्न करता है। यह अत्यन्त छोटा तथा वृत्ताकार जीवाणु है।

स्थान—भूमध्य सागर के तटवर्ती प्रदेश, उनमे भी माल्टाद्वीप, स्पेन, पोर्तुगाल, दक्षिण अफ्रिका, उत्तर तथा दक्षिण अमेरिका, चीन तथा भारत में यह रोग होता है। भारत मे आसाम तथा पंजाब में होता है। पंजाब में विशेषतया पाया जाता है।

संक्रमण—इसके जीवाणु बकरी के शरीर में होते हैं। बकरी के दूध तथा दूध से बने अन्य पदार्थों द्वारा (लस्सी, मट्ठा, दही) आदि से इसका संक्रमण मनुष्य में होता है। बकरी के मूत्र तथा मल में भी जीवाणु होते हैं। इन स्थानों के प्रत्यक्ष उपयोग अथवा मक्खी तथा धूल से (जीवाणु से युक्त धूलि वा मक्खी के) खाद्य पेय पदार्थों के सम्पर्क में आने से खाद्य पेय में इसके जीवाणु का प्रवेश हो जाता है। इसका उपयोग करने से मनुष्य इस ज्वर से आक्रान्त होता है। **वैसिलस मेलेन्टेसिस** की दो और उपजातियां हैं। **वैसिलस एवार्टस** तथा **वैसिलस पैरामेलिन्टेसिस।** माल्टा में अधिकतर **वैसीलस एवार्टस** से पीडित होते हैं। मच्छर भी इस रोग का संवहन बकरी से मनुष्य पर करता है।

सहायक कारण—गर्मी में रोग होता है। बाल, वृद्धों में कम युवा में अधिक होता है।

सम्प्राप्ति—जीवाणु जब अन्त्र वा त्वचा में प्रविष्ट होने पर वहां से रक्त मे चले जाते हैं। तब प्लीहा अधिक बढती है। यकृत तथा वृक्क में रक्त की अधिकता होती है।

लक्षण—ज्वर प्रारम्भ के २-३ सप्ताह में न्यूनाधिक घटावढ़ी के साथ उच्च डिगरी तक बना रहता है। इसके बाद ८ दिन तक कुछ कम रहता है या उतर जाता है। इसके पश्चात् पुनः ज्वर बढता है। इस प्रकार ज्वर के कई आवेग आते हैं। ज्वर के समय काफी पसीना आता है। त्वचा पर नवीन सूक्ष्म राजिकायें उत्पन्न होती रहती हैं। आलस्य, दौर्बल्य, गृध्रसी, नाडीशूल, कब्ज, श्वास में दुर्गन्ध, पेट मे पीडा तथा आध्मान, प्लीहावृद्धि, यकृत तथा वृक्क में भी रक्त की अधिकता होती है। सन्धियों में पीडा होती है। रक्त में लालकण तथा श्वेतकण कम होते हैं। निद्रानाश, मूत्र, अल्व्यूमिन, पेशियों की कार्यशक्ति का नाश होता है।

इसके ४ प्रकार हैं—

१ **मृदु**—इसके लक्षण अत्यन्त साधारण होते हैं। १५ दिन तक अनियमित ज्वर रह कर दूर होता है। ज्वर मन्द होता है।

२ **सामान्य प्रकार**—उपर्युक्त सब लक्षण इसी प्रकार के लिखे हैं।

(३) **दारुण प्रकार**—इसमें ज्वर एकाएक आता है। वमन तथा विरेचन, तीव्र ज्वर, प्रलाप, सर्वाङ्ग में पीडा ये लक्षण होते हैं।

(४) विषम प्रकार—इसमें तापक्रम प्रातः काल में स्वाभाविक होता है। मध्याह्न में शीत के साथ १०५ या उससे अधिक ज्वर चढता है। सन्ध्या में पसीना आकर ज्वर उतर जाता है।

(५) सन्तत प्रकार—इसमें ज्वर प्रारम्भ से रोग अच्छा होने तक निरन्तर बना रहता है।

रोग की अवधि—साधारणतः ३ से ४ सप्ताह तक है। कम से कम तीन सप्ताह तथा अधिक से अधिक २ साल तक रोग रह सकता है।

उपद्रव—कास, ब्राङ्कोन्यूमोनिया, नाडीशूल, कर्णमूलिकशोथ, वृषणशोथ, हृदयशोथ, नाडी मन्द या कम होना, गर्भवती का गर्भपात, अकाल प्रसव, स्तनशोथ, बालकों में मस्तिष्क तथा मस्तिष्कावरण शोथ अधिक होता है। इसे आन्त्रिक ज्वर, विषमज्वर, राजयक्ष्मा, काला आजार, अमीबाजन्य यकृत् विद्रधि तथा शरीर में किसी स्थान पर पूय बनना इन स्थितियों से रोग को पृथक् करना चाहिये।

साध्यासाध्यता—रोग घातक नहीं, सामान्यतया २-३ आदमी सैकड़े पीछे मरते हैं।

सामान्य चिकित्सा—ज्वर की साधारण चिकित्सा, दूध, अण्डा तथा तरल पदार्थ का पथ्य, नींद न आवे तो ब्रोमाइड देना चाहिये।

प्रधान चिकित्सा—**एक्रीफ्लेविन $\frac{१}{१०}$ ग्राम २०सी० सी० जल में** घोल कर देना चाहिये। **एक्रीफ्लेविन** की मात्रा शनैः शनैः $\frac{१}{१०}$ से $\frac{४}{१०}$ ग्राम तक बढाना चाहिये। इस जीवाणु से प्रस्तुत किया गया **वैक्सीन** २०० दशलक्ष से ५०० दशलक्ष तक देना चाहिये। **फ्लेवादिन की सूई** १ से ५ सी०मी० तक देना चाहिये। प्रथम दिन १$\frac{१}{२}$ सी०सी से प्रारम्भ करना चाहिये। फिर दूसरे दिन ३ सी० सी० इसके बाद एक दिन के अन्तर से ५-५ सी०सी० की सुइयां (Injection इन्जेक्शन) १७ वें दिन तक देना चाहिये। यहां तक कि—सिरा द्वारा सुई देना चाहिये। इसके बाद पेशी में सुई देना चाहिये। कुछ लोग इस जीवाणु से प्रस्तुत की गयी लसीका को भी प्रयुक्त करते हैं।

इति माल्टाज्वरवर्णनम्

अथ पीतज्वर वर्णनम् (Yellow Fever)—

कारण—स्टेगोमाया फैशियेटा नाम के मच्छर के दंश से यह ज्वर उत्पन्न होता है। इसके कारणभूत जीवाणु को अभी प्रत्यक्ष नहीं किया जा सका है। मध्य अमेरिका, दक्षिण अमेरिका का पूर्वी प्रदेश, मैक्सिको, अफ्रिका का पश्चिमी भाग इन स्थानों में रोग अधिक पाया जाता है। पूर्व के देशों तथा भारत में यह रोग नहीं होता है।

लक्षण—अत्यन्त घातक दारुण रोग है। शिर शूल, शीत, आलस्य, अरुचि के साथ तीव्र ज्वर (१०४) चढता है। चौथे दिन ज्वर कुछ कम होता है। इसके बाद पुनः छठवें दिन तीव्रता से चढता है। ज्वर के तीसरे दिन से सारा शरीर पीला हो जाता है। कामला के लक्षण उत्पन्न होते हैं। मूत्र मात्रा में कम, अल्ब्यूमिनयुक्त होता है। मुख, नासिका और मसूढ़ों से रक्तस्राव होता है। वमन प्रारम्भ होता है। वह कृष्ण वर्ण का होता है। वमन में रक्त मिला रहता है। ६ से ७ दिन में मूत्राघात, हृदयावसाद अथवा तीव्र ज्वर के कारण रोगी जीवन से छुटकारा पा जाता है। यह रोग कृच्छ्रसाध्य है। इससे मुक्त होने पर जीवन भर दुबारा इसका आक्रमण नहीं हो सकता।

इति पीतज्वरवर्णनम्।

अथ श्लीपदज्वरवर्णनम्—

पर्याय—श्लीपद, फीलपाव, फायलेरिया, फायलेरिऐसिस (Filariasis)।

कारण—**श्लीपदकृमि-(फायलेरिया बैंक्रोफ्टी)** के कारण उत्पन्न होने वाला एक रोग है। यह कृमि २$\frac{१}{२}$ से ३ इञ्च के लगभग होते हैं। इनका संवहन घरेलू **क्यूलेक्स** नाम के मच्छर द्वारा होता है। रोगी के शरीर में इन सूक्ष्म कृमियों के शरीर से असङ्ख्य सूक्ष्म क्रिमि बन कर रक्त में घूमते हैं। इन की लम्बाई $\frac{१}{१०}$ इञ्च तथा चौडाई एक रक्त कण के बराबर होती है। ये क्रिमि रात को रक्त में भ्रमण करते पाये जाते हैं। दिन में प्लीहा आदि गम्भीर अङ्गों में चले जाते हैं। रात के समय जब मच्छर रोगाक्रान्त मनुष्य को काटता है तब कुछ सूक्ष्म क्रिमि, मच्छर के शरीर में प्रविष्ट होते हैं। वहां पर वे और बढते हैं। और जब यह मच्छर फिर किसी स्वस्थ व्यक्ति को काटता है तब ये

सूक्ष्म क्रिमि भी त्वचा में प्रविष्ट हो जाते हैं और ये वहा बढते हैं। लसीकावाहिनियों में इनके कारण अवरोध होता है और श्लीपद रोग उत्पन्न होता है।

सहायक कारण—उष्ण प्रदेशों तथा कम उष्ण (Tropical and subtropical) प्रदेश का रोग है। जहा पानी अधिक बरसता या इकट्ठा रहता है। अथवा पानी की सतह जमीन में सन्निकट रहती है। वहां पर यह रोग अधिक पाया जाता है। गन्दे मकानों में तथा गावों में अधिक तथा बडे शहरों में कम होता है। प्राय. २० साल के बाद, और स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में होता है। दात, मसूडे, गला तथा नासिका इनकी खराबी भी रोग को उत्पन्न करने में सहायता करती है।

यह रोग अरब, भारत, दक्षिण अमेरिका, चान आदि देशों में अधिक रहता है। भारत में सयुक्त प्रदेश, विहार, बम्बई, सूरत, मद्रास, अहमदाबाद इन स्थानों में अधिक होता है।

सम्प्राप्ति—जब शरीर में सूक्ष्म क्रमि को मच्छर अपने दशद्वारा प्रविष्ट कर देता है तब क्रिमि पूर्ण क्रिमि म परिवर्तित होता है। इस क्रिमि से कई सूक्ष्म क्रिमि उत्पन्न होकर रक्त में परिभ्रमण करते हैं। त्वचा के रक्त में ये क्रिमि केवल रात में पाये जाते हैं। प्रगल्भ क्रिमियों के कारण लसीकाप्रवाह में अवरोध होता है फलतः इसके समीपस्थ भाग में शोथ होता है, और उपचर्म भी मोटा होता जाता है। अधिकतर श्लीपदक्रिमि पैर को ही अपने निवास के लिये चुनता है अत एव इसका नाम फीलपाव दिया गया है। इसके अतिरिक्त हाथ, कान, मुष्क, स्तन तथा भगनासा और भगौष्ठ में भी इसकी विकृति उत्पन्न होती है।

लक्षण—ज्वर के साथ(१) हाथ-पैर वा वृषण में शोथ होता है और उस स्थान के पास की लसीकाग्रन्थियों में भी शोथ होता है। कुछ काल के अनन्तर ज्वर स्वय जाता रहता है और शोथ कम या नष्ट हो जाता है। समय समय पर ज्वर के आवेग आते हैं और प्रत्येक आवेग के पश्चात् अग की मोटाई कुछ बढ जाती है।

निदान—दौरे के साथ ज्वर के साथ पैर में शोथ तथा लसीकाग्रन्थि का फूलना, ज्वर उतरने पर सूजन की कमी इनमे रोग का निदान हो जाता है। रोगी की शिरा से रात में रक्त निकाल कर रसायन-शाला में परीक्षा करने के लिये भेजना चाहिये। इससे रोग के सूक्ष्मक्रिमि (मायक्रोफायलेरिया) मिल जाते हैं।

साध्यासाध्यता—यह रोग घातक नहीं है पर असाध्य है। पावों के अधिक मोटे होने से चलने फिरने में कठिनता, गुह्याङ्ग के मोटे होने से मैथुन में असमर्थता होती है। कभी २ वृषण का आकार इतना बढ जाता है कि आदमी कुछ भी कार्य विना कठिनता अनुभव किये नहीं कर पाता है। कई श्रीमानों को अण्डकोषों को चलते समय वहन करने के लिये नौकर नियुक्त करना पडता है।

चिकित्सा—(१) ज्वर के समय विश्राम करना। मुख-गले आदि को शुद्ध रखना चाहिये।

(२) मृदु विरेचन हरीतकी चूर्ण या यष्टयादि चूर्ण ६ माशे से अथवा मैगसल्फ २ ड्राम १ औंस पानी में मिलाकर देकर विरेचन कराना चाहिये।

(३) नित्यानन्द रस ? रत्ती की मात्रा में प्रात सायम् मधु से सेवन करना चाहिये।

(४) लहसुन का अधिक मात्रा मे उपयोग करना चाहिये।

पाश्चात्य चिकित्सकों ने निम्न सूचिकाभरण (इन्जेक्शन) का आविष्कार किया है।

(अ) **सोडियम ऐन्टीमनी टार्टः** २ प्रतिशत विलयन १ सी० सी० से ५ सी० सी० तक सप्ताह में ? बार देना चाहिये।

(ख) **सालवर्सन** तथा **नीयोसालवर्सन** ६ से ९ ग्राम सप्ताह मे एकबार।

(ग) **यूरिया स्टीबेमीन** १— ३ ग्राम इनका परिस्रुत जल में विलयन बनाकर प्रयोग करना चाहिये। यदि श्लीपद के स्थान पर पूय भी उत्पन्न हो तो पूर्ण स्वच्छता का प्रबन्ध करना चाहिये। **स्टेप्टो** तथा **स्टेफिलोकोकस** विरोधी लसीका को भी प्रयुक्त करना चाहिये।

मूत्र में दूध के समान पदार्थ निकले (Chile) तो **सोडियस एन्टीमनीटार्ट** अथवा **स्वामिन** का प्रयोग करना चाहिये।

---

(१) यः सज्वरो वङ्क्षणजो भृशार्त्तिः-शोथो नृणा पादगत क्रमेण।
तच्छ्लीपद स्यात् करकर्णनेत्र-शिश्नौष्ठनासास्वपि केचिदाहुः॥

विद्रधि अथवा अंगों में अधिक स्थूलता होने पर शस्त्रकर्म करना चाहिये ।

इति श्लीपदज्वरवर्णनम् ।

अथ मूषकदंशजज्वर (Rat dite fever)वर्णनम्—

प्रसार— चूहों के काटने से उत्पन्न होता है ।

कारण—स्पायरिल्लम माइनस (Spirillum minus) नामक जीवाणु इसका कारण है ।

लक्षण—दंश के स्थान पर व्रण बनता है वह कभी भर जाता है कभी नहीं भर पाता. व्रण के पास की लसीका ग्रन्थि में शोथ होता है । रोहण हो जाने पर भी जब ज्वर चढता है (दंश के ५ दिनसे ६ सप्ताह में ज्वर चढता है) तब व्रण के स्थान पर पुन पीडा होती है और व्रण बढ़ता है वहां पर फुंसियां उत्पन्न होती हैं सडन होती है । शीत के साथ ज्वर आता है, शिरःशूल, हृल्लास, वमन, पतले दस्त, सन्धियों में पीडा ये लक्षण होते हैं । कभी कभी सर्वांग में रक्तवर्ण के विस्फोट निकलते हैं । कभी कभी शरीर पर चकत्ते (कोठ) निकलते हैं । ज्वर ६ दिन रहकर उतर जाता है । ५–६ दिन के अन्तर पर पुन ज्वर का आक्रमण होता है । ज्वर १०४ डिग्री तक पहुंचता है इस प्रकार के ज्वरयुक्त तथा विज्वरकाल महीनों कभी २ वर्षों जारी रहते हैं । आवेग के साथ साथ दुर्बलता बढती है ।

रोगनिश्चिति—रक्त की परीक्षा में इयोसि(१)ल नाम के श्वेतकण अधिक रहते हैं । पूछने पर चूहे के काटने का इतिहास मिलता है । व्रणग्रन्थि अथवा रक्त में जीवाणु रहते है । इनको रसायनशाला में देखा जासकता है ।

साध्यासाध्यता—घातक न होने पर भी चिरकालीन रोग है । उचित उपचार न होने पर महीनों या वरसों तक चलता रहता है । रोगी की क्षीणता बढती जाती है । दौर्बल्य के अत्यधिक होने पर रोगी की मृत्यु भी हो सकती है ।

चिकित्सा—(१) सोडियम एन्टीमनी टार्ट (२) नियोसाल्वर्सन या साल्वर्सन इनमें से किसी का इन्जेक्शन देना चाहिये । **सोडियम एन्टीमनी टार्ट** के २ प्र० श० के विलयन को १ सी० सी० से ५० सी० सी० सप्ताह में दो बार देना चाहिये ।

नियोसाल्वर्सन को ·४५ से ·७५ ग्राम् तक प्रतिसप्ताह एक वार शिरा द्वारा देना चाहिये ।

स्थानिक चिकित्सा—चूहे के काटे हुये स्थान को **एक्रीफ्लेविन** के (१००० भाग जल में १ भाग **एक्रीफ्लेविन** मिलाकर बनाये हुये) विलयन से व्रण की शुद्धि करनी चाहिये ।

चूहे के काटते ही यदि दंश के स्थान को अग्नि से जला दिया जाय तो रोग नहीं उत्पन्न होता है ।

इति मूषकदंशजज्वरवर्णनम् ।

अथ मरुमक्षिकाज्वर (Sand Fly Fever) वर्णनम्—

कारण—इसका कारण निस्यन्दशील जीवाणु है ।

प्रसार—फ्लेवोटोमस पपेटसाई (Flebotomus papataci) नाम्नी मरुमक्षिका द्वारा होता है । पश्चिमोत्तर प्रान्त, पञ्जाब, सिन्ध, युक्तप्रान्त का पश्चिमी भाग, नागपुर इन उष्ण देशों में यह रोग अधिक होता है । कभी कभी इसकी महामारी फैलती है ।

लक्षण—मक्षिका के दंश के ७ दिन बाद लक्षण प्रारम्भ होते हैं । इसके लक्षण दण्डक ज्वर से प्राय. मिलते हैं । शीत के साथ ज्वर, शिर शूल, शरीर में वेदना, मुख, गला तथा नेत्रों की लालिमा, ये लक्षण होते हैं । ज्वर १०४ अंश तक चढ़ता है । अन्त में अरुचि, कभी २ प्रवाहिका, शरीर में चकत्ते उत्पन्न हो जाते है । ज्वर तीसरे दिन उतर जाता है ।

इसमें तथा दण्डक ज्वर में भेद यह है कि—इसमें ज्वर तीसरे दिन उतरता है दण्डक में तीसरे दिन उतर कर फिर ज्वर चढता है । मरुमक्षिका ज्वर में रक्त में विष प्रथम दिन ही रहता है । दण्डक ज्वर में प्रारम्भिक तीन दिनों में रक्त में विष मिलते हैं ।

चिकित्सा—

(१) दंश के स्थान पर **टिंचर आयोडीन** अथवा **उदुम्बरसार**का गाढ़ा प्रलेप करना चाहिये । **उदुम्बरसार** के गाढे विलयन को एक पट्टी में रख कर घाव पर रख देना चाहिये ।

---

(१) इसके लिये शारीरविषयक भावप्रकाश प्रथम खण्ड के परिशिष्ट को देखिये ।

(२) दण्डक ज्वर की सारी चिकित्सा, जिसे पीछे लिख चुके हैं, करनी चाहिये।

इति मरुमक्षिकाज्वरवर्णनम्।

अथ परिवर्तितज्वर (Relapsihg fevar रिलैप्सिंग फीवर) वर्णनम्—

कारण—**स्पायरोनेमा या बोरीलिया** (Spironema or Borrelia) नामक जीवाणु इसका कारण है।

सहायक कारण—अस्वास्थ्य-जनक स्थान, घनी बस्तियाँ तथा दुर्बल और गरीब इसमे अधिक पीड़ित होते हैं।

प्रसार—किलनी अथवा जूं के द्वारा इसका प्रसार होता है। भारत, उत्तर अफ्रिका, अमेरिका तथा योरोप में यह रोग जू द्वारा फैलता है। मध्य अफ्रिका, मध्य अमेरिका, ईरान तथा स्पेन मे यह रोग किलनी (Tick टिक) द्वारा फैलता है।

सम्प्राप्ति-ज्वर के समय त्वचा के रक्त में जीवाणु मिलते हैं। ज्वर-रहित काल में प्लीहा, यकृत तथा मस्तिष्क आदि अङ्गों में चले जाते हैं। यकृत तथा प्लीहा बढती है तथा इन अङ्गों में रक्ताधिक्य भी होता है।

लक्षण—जीवाणु प्रविष्ट होने के २ से १२ दिन में लक्षण उत्पन्न होते हैं। शीत के साथ ज्वर चढ़ता है। ज्वर के साधारण लक्षण होते हैं। शिर:शूल तथा शरीर की पीडा अधिक तीव्र रहती है। मूत्र कम, अल्ब्यूमिन मिला हुआ होता है। यकृत तथा प्लीहावृद्धि, नासिका से कभी २ रक्तस्राव, ६ से ७ दिन तक निरन्तर ज्वर रहता है। इसके बाद अत्यधिक स्वेद, दुर्बलता तथा पतले दस्त इन लक्षणों के साथ एकाएक ज्वर उतरता है। ६ से ७ दिन बाद पुनः ज्वर का आक्रमण होता है पर यह पहले की अपेक्षा सौम्य होता है। कई बार ज्वर के दौरे आने के कारण इस रोग को परिवर्त्तित ज्वर कहते हैं।

ये परिवर्तन ३ से ४ तक हो सकते हैं। ये लक्षण विशेषत: यूका से उत्पन्न होने वाले परिवर्तित ज्वर के हैं। **किलनीवह** की निम्न विशेषतायें हैं—

(१) बच्चों में अधिक होता है।

(२) एक स्थान या मकान में सीमित रहता है।

यूकावह तो यूका के साथ मनुष्यों के स्थानान्तरित होने के कारण दूरवर्ती स्थानों मे भी फैलता है। ज्वर कम समय तक रहता है पर लक्षण तीव्र होते हैं। परिवर्तनों की संख्या अधिक होती है।

उपद्रव—अतीसार, प्रवाहिका, न्यूमोनियां, कर्णमूल-ग्रन्थिशोथ, गर्भपात, प्लीहा का विदीर्ण होना, कामला, नेत्राभिष्यन्द, प्रलाप, नासा, त्वचा तथा मूत्रमार्ग से रक्तस्राव, रक्तवमन ये लक्षण तीव्र होते हैं। कभी तीव्र ज्वर, प्रलाप, अतीसार तथा हृत्कार्यावरोध उत्पन्न होकर मृत्यु होती है।

रोगनिश्चिति—परिवर्तन युक्त ज्वर, कामला, वमन, शरीर पर विस्फोटक न निकलना ये इसके लक्षण होते हैं। ज्वरयुक्त अवस्था में रोगी का रक्त लेकर कांच की पट्टी पर विधिपूर्वक रंजित करके सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से देखने पर इसके जीवाणु दिखाई पड जाते हैं। मूत्र में भी जीवाणु मिलते हैं।

साध्यासाध्यता—वृद्ध, दुर्बल रोगियों तथा अकाल के समय मृत्यु अधिक होती है। ज्वर, सन्यास वा प्रलाप तथा तीव्र कामला के लक्षण रोग की असाध्यता प्रकट करते हैं। लक्षणों के सौम्य होने पर रोग साध्य होता है।

चिकित्सा—विश्राम, उचित प्रकाश तथा शुद्ध वायु के स्थान में रहना, खाद्य तथा पेय तरल होना चाहिये, प्रारम्भ में विरेचन देना चाहिये। ज्वर के समय अधिक भोजन न दें किन्तु ज्वर उतरने पर सुपाच्य पौष्टिक पदार्थ अधिक मात्रा में देना चाहिये। ज्वर के समय तथा ज्वर के उतरने पर भी रोगी को पूर्ण विश्राम करना चाहिये। ज्वर के उतरते समय हृद्य औषधियां यथा—**डिजीटेलीस स्ट्रिक्नीन** आदि देनी चाहिये।

प्रधानचिकित्सा—नियोसालवर्सन (६ ग्राम) १० सी० सी० परिस्रुत जल मे घोलकर शिरा में प्रविष्ट करना चाहिये। इस औषधि को मध्य ज्वर में देना चाहिये। ज्वर उतरने पर इसका प्रयोग करने से कुछ लाभ नहीं होता। ज्वर की तीव्रावस्था में एक बार औषधि को शिरा में प्रविष्ट करने से ही रोग के रक्तगत जीवाणु नष्ट होते हैं, किन्तु व्याधि का समूल नाश होने के लिये कुल ६ सूई देनी चाहिये।

हृदय के दौर्बल्य तथा वृक्करोग में इस ओषधि को न देना चाहिये।

एसीटीलार्सन—मात्रा २ से ३ सी० सी० त्वचा या पेशी में सूई द्वारा प्रविष्ट करें।

स्टोवार्सल—जब सूई की सुविधा न हो तो मुख द्वारा **स्टोवार्सल** का उपयोग करना चाहिये। मात्रा चार ग्रेन की ६ गोलियां दिन में ३ बार। इस चिकित्सा को ७ दिन तक जारी रखना चाहिये इसके बाद भी यदि आवश्यकता मालूम हो तो प्रयोग किया जा सकता है।

चरकोक्तचिकित्सा—

निवृत्तेऽपि ज्वरे तस्माद् यथाऽवस्थं यथाबलम्। यथाप्राणं हरेद्दोषं प्रयोगैर्वा शमं नयेत्॥
मृदुभिः शोधनैः शुद्धिर्यापना बस्तयो हिताः। हिताश्च लघवो यूषा जाङ्गलामिषजा रसाः॥
अभ्यङ्गोद्वर्त्तनस्नान-धूपनाभ्यञ्जनानि च। हितानि पुनरावृत्ते ज्वरे तिक्तघृतानि च॥
गुर्वभिष्यन्द्यसात्म्यानां भोजनात् पुनरागते। लङ्घनोष्णोपचारादिः क्रमः कार्यश्च पूर्ववत्॥
किराततिक्तकं तिक्ता मुस्तं पर्पटकोऽमृता। घ्नन्ति पीतानि चाभ्यासात् पुनरावर्त्तकं ज्वरम्॥

(च० चि० अ० ३)

ज्वर निवृत्त होने पर रोगी की अवस्था, बल तथा प्राण के अनुसार प्रयोगों द्वारा दोष को दूर करे और उस समय मृदु शोधन (विरेचनादि) के द्वारा शुद्धि तथा यापनवस्ति आदि देना, लघु अन्नों का यूष, जङ्गली जीवों का मांसरस खिलाना विशेष हितकर होता है। और तिक्त घृत के द्वारा अभ्यङ्ग, उबटन, स्नान, धूप और अञ्जन लगाना भी हितकर होता है।

और यदि गुरु, अभिष्यन्दी तथा अहित कर पदार्थों के भोजन से पुनः ज्वर आ जाय तथा उष्ण उपचार आदि पूर्ववत् चिकित्सा करनी चाहिये।

और चिरायता, कुटकी, नागरमोथा, पित्तपापडा, गुर्च इन का क्वाथ पीने से पुनरावर्त्तक ज्वर नष्ट हो जाता है।

इति श्रीजगदीश्वरप्रसादत्रिपाठिनाऽऽयुर्वेदाचार्येण विरचितं॥ १॥
ज्वराधिकारपरिशिष्टं समाप्तम्॥ १॥

